प्रथम संस्करण १०००

द्वितीय संस्करण २०००

तृतीय संस्करण ४०००

मूल्य ६)

मुद्रक—श्री रामप्रताप शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

दिन्नसमग्गहदयाय अलक्खितरूपाय
तस्सा देविया ससिनेहं समप्पिता
कामनाहिं नेदिट्ठा वि
सुदूरा येव अम्हे यस्सा

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्रीमान् बड़ोदा-नरेश स्वर्गीय सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बंबई सम्मेलन में उपस्थित होकर पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी। उस सहायता से सम्मेलन ने 'सुलभ साहित्यमाला' सञ्चालित कर कई सुन्दर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी ग्रंथ-माला के अंतर्गत प्रकाशित हो रही है।

भाषाविज्ञान ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर हिन्दी में जो साहित्य प्राप्त है वह बहुत थोड़ा ही कहा जायगा। डाक्टर बाबूराम सक्सेना की पुस्तक इस साहित्य में अत्यंत वांछनीय वृद्धि करेगी, इसका हमें पूरा विश्वास है। हिन्दी क्षेत्र के ही नहीं, अपने देश के भाषावैज्ञानिकों में डाक्टर सक्सेना का आदर-णीय स्थान है। उनका सम्मेलन से भी घना संबंध रहा है। हमारी धारणा है कि इस पुस्तक की गणना पिछले कई वर्षों में प्रकाशित हिंदी की प्रमुख पुस्तकों में होगी।

३-३-४३ }   साहित्य मंत्री

(प्रथम संस्करण की भूमिका)

क्यों ?

भाषाविज्ञान पर हिन्दी में तीन-चार पुस्तकें पहले से मौजूद हैं। तब भी कागज की इस महँगाई के समय भी नई पुस्तक क्यों निकाली जा रही है, इसका उत्तर मुख्य रूप से सांख्य तत्त्वों में से वही तत्त्व है जो महत् और पञ्चतन्मात्राओं के बीच में पड़ता है। गौण रूप से, छोटी सी एक और वासना को अतृप्त न रखकर पुनर्जन्म के कारणों की कमी करना भी इस पुस्तक के प्रकाशन का हेतु हो सकता है। १९२१-२२ में मैं हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में पूज्य प्रोफ़ेसर टर्नर के चरणों में बैठकर भाषा-विज्ञान का अध्ययन करता था। श्री बाबू श्यामसुन्दरदास जी कभी कभी कृपा कर मेरे कमरे में आकर प्रोत्साहन देते और बातचीत करते थे। जब मैं प्रयाग में अध्यापक होकर आ गया, तो उसी परिचय के नाते १९२३ में श्री बाबू साहब ने मुझ से भाषाविज्ञान पर हिन्दी में पुस्तक लिख देने को कहा। मैंने सामग्री इकट्ठी करली और कुछ महीनों में पुस्तक का प्रथम अध्याय लिखकर उनके अवलोकनार्थ भेजा। उन्होंने उसे पसन्द किया और आज्ञा की कि छः महीने में पुस्तक तय्यार कर दी जाय। मेरे ऐसे अल्पज्ञ के लिये इतनी जल्दी ऐसे गहन विषय पर पुस्तक तय्यार कर पाना असम्भव था। इसलिए मैंने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। हताश श्री बाबू साहब को स्वयं यह काम करना पड़ा और कुछ ही दिनों में "भाषाविज्ञान" नाम की उनकी पुस्तक प्रकाशित हो गई। दिग्गज और अल्पज्ञानी सामान्य जन की क्षमता में इतना अन्तर होता है। मैंने जो भाग लिखा था वह जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' में छपा दिया, और आगे कुछ न लिखा। पर वासना अन्तःकरण में बनी रही।

ईश्वर को धन्यवाद है कि उसने यह काम उस समय रुकवा दिया। इस बीस साल के अन्तर में, मैंने विषय का थोड़ा बहुत अनुशीलन परिशीलन कर लिया है, अध्यापन भी यथेष्ट कर चुका हूँ। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक अधिक आत्म-विश्वास से उपस्थित कर सका हूँ। आशा है कि यह कम दोष पूर्ण होगी। इसमें मैं कोई बात मौलिक दे सका हूँ, यह नहीं कह सकता। विषय का दर्शन मैंने अँगरेजी चश्मे से किया है। दृष्टि वैसे ही कमजोर है। पर भारतीय परिशीलन की ओर भक्ति अधिक दृढ होती जा रही है।

यह पुस्तक सामान्य पाठक को विचार में रखकर लिखी गई है और

विषय के प्रारंभिक विद्यार्थियों को। इसीलिए शैली को थोड़ा कम नीरस बनाने का उद्योग किया है। 'बालाना सुखबोधाय' वाला ध्येय है।

इस विषय का ज्ञान मैंने कई गुरुओं की उपासना से और अँगरेज़ी और फ्रेंच पुस्तकों के अध्ययन से प्राप्त किया है। यह सारी सामग्री प्रायः विदेशी थी। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में, पाठकों को वर्तमान पच्छिमी अनुसन्धान का पूर्ण प्रतिबिम्ब और गन्ध मिले तो अचरज नहीं। जिन पुस्तकों ने सहायता ली है, उनके नाम ग्रन्थ सूची में मिलेंगे। मैं उन लेखकों का कृतज्ञ हूँ। विशेष रूप से सर्वश्री टर्नर, चटर्जी, तारापुरवाला, ओझा, वान्द्रियाज़, जेस्पर्सन, टकर, ग्रैफ का चिरऋणी रहूँगा। इनकी पुस्तकों की छाया और उद्धरण जहाँ तहाँ मिलेंगे। पुस्तक सामान्य पाठक के लिए लिखी है, इसलिए जगह-जगह कृतज्ञता-स्वरूप उल्लेख नहीं किया गया।

पुस्तक का चौथाई अंश लैंस्डाउन में १९४१ की गर्मी की छुट्टियों में, दूसरा चौथाई १९४२ के ग्रीष्मावकाश में रामगढ़ (नैनीताल) में और शेष भाग पिछले छः महीनों में यहाँ प्रयाग में लिखा गया है। इन तीनों स्थानों पर जिन देवता और देवियों के प्रेमपूर्ण आश्रय में यह काम हुआ है उनके प्रति मैं अपनी विनम्र स्नेहपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक-प्रकाशन में मित्रवर धीरेन्द्र वर्मा जी और माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी ने कृपापूर्वक प्रोत्साहन दिया है और यदि वे आग्रह न करते तो शायद अभी दो एक साल और यह काम पड़ा रहता। उन दोनों का मैं आभारी हूँ।

छपाई में सम्मेलन के वर्तमान साहित्य मन्त्री, मेरे मित्र श्री रामचन्द्र टंडन ने तथा हिन्दी साहित्य प्रेस के कर्मचारियों ने पूरी मदद और सहयोग प्रदान किया है। उनका भी आभार मानता हूँ। छपते समय मेरे तत्कालीन अज्ञान या अनवधान से जो ग़लतियाँ रह गई हैं उनका प्रायश्चित 'समाधान' में कर दिया गया है। पाठक पढ़ने के पूर्व उसका अवलोकन करने की कृपा करें। यदि और कहीं भूलें या अपूर्णताएँ रह गई हों तो उनकी सूचना मिलने पर वे अगले संस्करण में कृतज्ञतापूर्वक ठीक-ठाक कर दी जाएँगी।

अपने पाठक की सीमाओं का विचार कर, नितान्त आवश्यक ही नए लिपि-चिह्न इस पुस्तक में रक्खे गए हैं। वर्णों के नीचे की बिन्दी (यथा च़ थ़) सामान्य से कुछ विभिन्न ध्वनि का संकेत करती है। वर्ण के नीचे का गोलाकार चिह्न (स़्, ऩ्) स्वरत्व को और तारा-चिह्न (*) शब्द के अनुमान-

सिद्ध रूप को बतलाता है। भिन्न संकेत न होने पर वर्णों के ऊपर चिह्न उसके ह्रस्वत्व की सूचना देता है। ऍ ऑ की मात्राऍ ॅ ॉ हैं।

इस पुस्तक में पाठक को इतिहासिक, भूगोलिक आदि कुछ शब्द अपरिचित (और अशुद्ध ?) से मिलेंगे। मेरी धारणा है कि हिन्दी को संस्कृत-व्याकरण का अनावश्यक आश्रय छोड़ देना चाहिए, इसलिए ये नए रूप समाविष्ट किए गए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृत से शब्द न लिए जायँ। मेरी निश्चित सम्मति है कि जहाँ हिन्दी में शब्द न हों वहाँ अरबी, फ़ारसी, अँगरेजी आदि की अपेक्षा, संस्कृत और प्राकृतों से ही लेने चाहिए। यदि क़र्ज़ ही काढ़ना हो तो अपनों से लिया जाय। पारिभाषिक शब्द संस्कृत को ही आधार मानकर बनने चाहिए। मेरे विचारों के बारे में कुछ 'कृपालुओं' के बीच भ्रान्ति है इसलिए ये शब्द यहाँ लिख देना उचित समझा। इतिहासिक आदि विकृत (!) शब्द देखकर यदि 'पंडित वर्ग' को दुःख हो तो मेरी सनक समझकर क्षमा करने की उदारता दिखाएँ।

संसार की भाषाओं की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला एक नक़शा भी इस पुस्तक के साथ जा रहा है। इसका खाका विलेम ग्रैफ़ की पुस्तक से लिया गया है।

संसार पर घोर संकट है और अपने देश पर विशेष। दासता की कटुता का नंगा चित्र इधर पूरे रूप में सामने आया है। जो महापुरुष संसार को आदर्श बता रहे हैं, सत्य अहिंसा और सुख का मार्ग दिखा रहे हैं और हमारे प्राणों के भी प्राण हैं उनके जीवन को संकट में देख कर हम लोग विह्वल हो गए थे। कौन भारतीय, विशेषकर राष्ट्रीय भावनाओं वाला, ऐसा होगा जिसके अन्तस्तल में इन महापुरुष ने आशा और स्वातन्त्र्य-प्रेम का प्रकाश न पहुँचाया हो। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है कि आज वह घोर तपस्या से उत्तीर्ण हुए हैं और उज्ज्वलतर निखरे हैं। ईश्वर उन्हें चिरायु करें। इस पुस्तक का सौभाग्य है कि वह आज ऐसी पुण्य तिथि पर प्रकाश में आ रही है।

२४, चैथम लाइन,
प्रयाग,
पुण्य तिथि, ३-३-१९४३

बाबूराम सक्सेना

फिर

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की सारी प्रतियाँ तीन चार साल के भीतर ही निकल जायँगी यह आशा किसी को न थी। हिन्दी संसार ने इसे पसन्द किया है यह सन्तोष की बात है। इससे भी अधिक सन्तोष की बात मेरे लिए यह है कि भाषाविज्ञानी विद्वानों ने भी इसे अपनाया है क्योंकि कवि-कुलगुरु के शब्दों में "आपरितोषाद्विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्" लेखक का चित्त तभी सुख मानता है जब विषय के पारखी उसकी रचना को अच्छा समझें। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने न्यू इंडियन एंटिक्वेरी के भाग ६ सं० ८ (अक्तूबर, ४३) में इसकी विस्तृत आलोचना छः पृष्ठों में छपाई और इसमें बड़ी प्रशसा की। डा० आर्येन्द्र शर्मा को इसके टक्कर का ग्रंथ जर्मन, फ्रेंच आदि समृद्ध भाषाओं में भी नहीं मिला, विशेषकर शैली की रोचकता में। डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य और महामहोपाध्याय वामन वासुदेव मीराशी ने सलाह दी कि इसका अनुवाद मराठी आदि सभी भारतीय भाषाओं में कराया जाय तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अँगरेज़ी में अनुवाद करा देने का अनुरोध किया। हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथकारों, 'मिश्रबन्धु' गुलाबराय आदि, ने भी प्रशंसा करने में कसर न छोड़ी। मैं इन सभी महानुभावों का गुण मानता हूँ। विशेष ऋणी मैं सर्वश्री सिद्धेश्वर वर्मा तथा आर्येन्द्र शर्मा का हूँ जिन्होंने कुछ रचनात्मक सुझाव दिए जिनमे से कुछ का समावेश मैंने इस सस्करण में कर दिया है। आर्येन्द्र जी के अनुरोध से मैंने जर्मन व्यक्ति-वाचक शब्दों का जर्मन उच्चारण इस बार अंकित कर दिया है, अँगरेजी माध्यम से आया हुआ छोड़ दिया है। समयाभाव से तथा कलेवरवृद्धि के डर से सिद्धेश्वर वर्मा जी के कुछ सुन्दर सुझावों का समावेश नहीं हो पाया है, इसके लिए मैं उनसे क्षमा मांगता हूँ। पारिभाषिक शब्दावली उन्हें संस्कृत-मय लगी, वह प्रचलित वर्तमान बोलियों की चाहते थे इस विषय में मेरा उनका मतभेद है।

इस सस्करण मे ग्रन्थ का विभाजन दो खडों मे कर दिया गया है, पहले मे भाषाविज्ञान के सिद्धान्त आ गए हैं और दूसरे मे ससार की भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन। अर्थविज्ञान पर इस ग्रन्थ में सामान्य भाषाविज्ञान के कले-

वर में जितना अंग अनुपात से संभव था वही दिया जा सका है। विशद विवरण पटना युनिवर्सिटी से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली "अर्थविज्ञान" नाम की मेरी व्याख्यानमाला में देखने को मिलेगा। भारतीय भाषाओं का, विशेषकर वर्तमान भाषाओं का, वर्णन भी यथेष्ट सा नहीं है। पर यह भी संकल्प में वर्तमान किन्तु कार्य में अपरिणत ग्रंथ की वस्तु होगी।

यह पुस्तक सामान्य पाठक के लिए लिखी गई थी, "बालानां सुखबोधाय" वाला आदर्श था, पर यह अपने विश्वविद्यालयों के एम० ए० की परीक्षा के लिए नियत की गई है। इसी से इस देश में इस विज्ञान के पटन-पाठन की हीन दशा का प्रमाण मिलता है। आशा की जाती है कि स्वतन्त्र भारत में भाषाविज्ञान का पठन पाठन बढ़ेगा।

पिछला संस्करण साहित्य प्रेस में छपा था, यह माया प्रेस में। यह प्रेस हिन्दी संसार में कहानी की पत्रिकाओं का प्रेम प्रसिद्ध है। भाषाविज्ञान के इस ग्रंथ को यहाँ क्यों और कैसे छपाना श्रेयस्कर हुआ इसकी भी एक कहानी है। उसे कह कर मैं प्रेमी पाठकों की उत्सुकता को समाप्त नहीं करना चाहता।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु।

२४, चैथम लाइन,
प्रयाग,
२०-१-१९४८

बाबूराम सक्सेना

तीसरा संस्करण

यह पिछले संस्करण का पुनर्मुद्रण ही है। जहाँ जहाँ अशुद्धियाँ रह गई थीं वे ठीक कर दी गई हैं। मेरे प्रिय शिष्य रमानाथ सहाय श्रीवास्तव शास्त्री, एम० ए० (प्रोफेसर, डी० एवी० कालेज, देहरादून) ने विषय-सूची बनाई थी और अशुद्धियों को खोजकर हटाने में मदद की है। इसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ।

२०-१-१९५०

बाबूराम सक्सेना

विषय-सूची

पहला खंड

चौथा अध्याय—भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान....पृ० १८-२५

भाषा का विचार के वाह्य स्वरूप होने के नाते विचारात्मक ज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध (१८)। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध—मनोविज्ञान से (१८), तर्कशास्त्र से (१८), समाजशास्त्र से (१९), शरीरविज्ञान से (१९-२०), भूतविज्ञान से (२०), इतिहास से (२०-२१), भूगोल से (२१), वाङ्मय से (२१-२२), तथा व्याकरण से (२२)। भाषा के चार अङ्ग हैं—वाक्य, शब्द, ध्वनि और अर्थ (२३); और इनके अनुसार भाषाविज्ञान की चार शाखाएँ—वाक्यविज्ञान (२३), पदविज्ञान (२४), ध्वनिविज्ञान (२४), और अर्थविज्ञान (२४)। भाषाविज्ञान का उपयोग (२४-२५), और अधिकारी (२५)॥

पाँचवां अध्याय—भाषा का विकास... ....पृ० २६-३०

संसार परिवर्तनशील है और भाषा भी (२६), पर यह परिवर्तन न तो उन्नति ही है, न अवनति, यह है केवल विकास (२६-२७)। परंपरा तथा जन-संसर्ग की विभिन्नता के कारण यह परिवर्तन (२७); प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण-यन्त्र की भिन्नता के कारण उच्चारण सम्बन्धी विभिन्नता और स्मृति तथा अनुभव की भिन्नता के कारण अर्थ-सम्बन्धी विभिन्नता (२७-२८) फिर भी व्यवहार में अभिन्नता (२८), बोलने वालों के संगठन तथा वाह्य संसर्गहीनता के अनुपात से एकरूपता (२८-२९) परिवर्तन का व्यक्तीकरण में बाधा डालने के कारण धीमापन (२९)। परिवर्तन का तुच्छत्व तथा महत्व तद्भाषा-भाषी समुदाय से ही निर्णीत है (३०) पर यह परिवर्तन होता है अवश्य, सदा (३०)॥

छठा अध्याय—विकास का मूलकारण.........पृ० ३१-४१

साधारणतः चार वाद—(क) शारीरिक विभिन्नता पर प्रत्यक्ष ही है कि भिन्न शरीर वाले भी एक भाषा तथा समान शरीर वाले भी भिन्न भाषा बोल लेते हैं (३१-३२), (ख) भूगोलिक विभिन्नता : पर समीक्षा करने पर यह भी खरा नहीं ठहरता (३२), (ग) जातीय मानसिक-अवस्था-भेदः पर भाषा का द्रुतगति से विकास समाज की विशृङ्खलता पर निर्भर है और सौष्ठव, लालित्य आदि गुण तो निज रुचि पर ही अपेक्षित हैं (३२-३४); (घ) प्रयत्न लाघव, मानव-मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण यह उचित है (३४)। प्रयत्नलाघव से उत्पन्न भाषा में परिवर्तन के विभिन्न उदाहरण—बहुधा प्रयोग में आनेवाले शब्दों का शरीर अधिकतर विकल हो जाता है जैसे भइ है, आदि (३५-३६); बलाघात तथा भावातिरेक में भी प्रयत्नलाघव के कारण परिवर्तन

प्रयोग (५८)। बलाघात, उसके प्रयोग तथा प्रयोग के नियम (५८-५६)। इन गुणों का भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रयोग (५६)।।

वाक्य में ध्वनियों के समूह ही का प्रयोग (६०), इन समूहों के अन्तर्गत स्वर व व्यजनों के संयोजन के प्रत्येक भाषा में विभिन्न नियम (६०), अव्यवहृत संयोग (६१)। दो स्वरों के पास-पास आने पर—बीच में जरा रुकना या श्रुति का आगम या मिश्र स्वर की उत्पत्ति (६१)। मिश्र स्वर के दो भेद (६१), मूलस्वर तथा मिश्र स्वर में भेद (६२)। अक्षर के लक्षण (६२), ध्वनियों के प्रवाह को अक्षरों में विभाजित करना (६२-६३), आव्यता (६३-६४)।।

ध्वनिविकास के मूल में प्रयत्न-लाघव ही है (६५) पर ध्वनि उच्चारण क सरलता या कठिनाई का निर्णय करना मुश्किल है (६५-६६), यह ध्वनि-विकासी बहुत ही धीरे व अनजान में होता है (६६) और एक सुसंगठित मनुष्य-समुदाय में सर्वत्र व्यापक होता है (६६-६७)। यह विकास वाक्य या शब्द मे ध्वनि की परिस्थिति ही पर निर्भर है (६७) और प्रारम्भ होने पर निश्चित दिशा की ओर ही बढ़ता रहता है (६७-६८) अतएव इसके नियम निर्धारित किये जाते हैं (६८) पर ये नियम, न तो भविष्य मे होने वाले विकास के नियामक हैं (६८-६६) और न भूतविज्ञान के नियमों की तरह अटल (६६)। ध्वनिविकास के कुछ उदाहरण—(क) नई ध्वनि का आगम (६६), (ख) समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थबोधक शब्दों की उत्पत्ति (७०), (ग) सन्धि आदि के कारण अस्थान ध्वनि विकार (७१), (घ) पूर्ववर्ती अथवा विदेशी भाषाओं के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग (७१-७२) और (ङ) विनोदजन्य तथा कवि-सृष्टि शब्द-रूपों का आगम (७२)।।

ध्वनियों का अर्थ-व्यंजकता की सुविधा के अनुसार विभाजन—शब्द या पद (७३), वाक्य की प्रतिमा का मस्तिष्क में होना व उच्चारण (७३)। वाक्य के पदों का मस्तिष्क द्वारा ग्रहण समष्टि रूप से होता है पर कुछ ध्वनियाँ अर्थ तत्त्व की और कुछ परम्परा सम्बन्ध की बोधक होती हैं (७३-७४)। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वयं की विचार को व्यक्त करने की धारा है (७४) और यह सम्बन्धतत्त्वों को प्रगट करने के ढंग से मालूम होती है (७४)। संबध-तत्त्व को व्यक्त करने के ढंग—(क) सम्बन्ध-तत्त्व का अलग शब्द ही होना

दूसरा खंड

प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भाषा

भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है तो कभी संकुचित। मूक भाषा, पशुपक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत ग्रंथों के टीकाकारों द्वारा *इति भाषायाम्* द्वारा अभिप्रेत भाषा मे सर्वत्र एक ही भाव छिपा हुआ है—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या इच्छा प्रकट करता है। बेकाम की डाट खाकर शिशु जब मा की ओर टुकुर-टुकुर निहारता है और कुछ बोलता नहीं, तब क्या माँ उस बच्चे के अंतस्तल की बात नहीं समझ पाती? अथवा जब भिखारी विमुख होकर द्वार पर से लौटने लगता है तब उसकी आकृति से जो भाव प्रकट होता है वह किस सहृदय से छिपा रहता है! इसी प्रकार यदि कोई गूंगा मुँह के पास हाथ ले जाकर चुल्लू बनाता है अथवा पेट पर हाथ फेरता है, तो देखने वाले को उसकी प्यास या भूख का अन्दाज़ हो ही जाता है। पेड़ की सघन छाया में बैठे हुए पक्षियों में से यदि किसी को दूर से आती हुई बिल्ली दिखाई दे जाय तो, उस पक्षी के शब्द करते ही उसके सारे साथी तुरंत उड़ कर पेड़ पर क्यों बैठ जाते यदि उनको उस शब्द द्वारा भय की सूचना न मिलती! बछड़े के *अम्मा* शब्द में वह शक्ति है कि कहीं अन्यत्र बँधी हुई भी उसकी माँ चारा खाना छोड़कर विकल हो उठती है। इन सभी उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ मे भाषा है। इसे सर्व-साधारण भाषा कहते हैं।

कवि की प्रतिभा इससे भी बृहत्तर अर्थ में भाषा समझ सकती है, उसे अप्राणी भी परस्पर भाव व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। तुलसीदास जी ने वर्षा-काल में ताल-तलइयों के परस्पर स्नेह का जो आदान-प्रदान देखा वह साधारण जन की बुद्धि नहीं देख सकी थी। सुमित्रानन्दन पन्त को *उदधि का गान* सुनाई पड़ा। महादेवी वर्मा का 'सुमन' तो

स्वप्नलोक की मधुर कहानी
कहता सुनता अपने आप।

क्यों नहीं बोलते इत्यादि प्रश्नों का समाधान हमारी ज्ञान की प्यास को ही अधिक बुझाता है, उपयोग की श्रेणी मे कम आता है। और जब आता है तब गौण रूप से।

कला का प्रतिपादन शास्त्र करता है। उसका ध्येय साधारण व्यवहार होता है और उसमे काल और देश के अनुसार विकल्प होते रहते हैं। ऐसा समझना कि एक देश और काल का शास्त्र सब देशों और कालों के लिए स्थिर सत्ता रखता है, मनुष्य की बुद्धि की अवहेलना करना है।

कोई भी ज्ञान, विज्ञान की श्रेणी में स्थान पाने के पूर्व वाद की अवस्था मे रहता है। जब उसकी अपवादरहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उसको विज्ञान कहते हैं।

उन्नीसवीं सदी के विद्वानों मे, भाषा के तत्त्वों का अध्ययन विज्ञान की कोटि मे आता है अथवा शास्त्र या वाद की कोटि में—इस विषय को लेकर बहुत वाद विवाद चलता रहा। पर अब इतना स्थिर है कि भाषा-विषयक जिन मूल तत्त्वों को मनुष्य की बुद्धि ने पकड़ लिया है वे इस अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी मे स्थान पाने का अधिकारी बनाते हैं। इसीलिए इस अध्ययन का नाम भाषाविज्ञान उपयुक्त है भाषाशास्त्र नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक मे भाषाविज्ञान-संबधी सामान्य सिद्धांतों की विवेचना करना ही अभिप्राय है, किसी विशिष्ट भाषा के तत्त्वों की विवेचना नहीं।

दूसरा अध्याय

भाषा

मनुष्य तरह-तरह की भाषाएँ बोलते है, कोई हिन्दी, कोई मराठी, कोई गुजराती, कोई बगाली तो कोई अगरेजी, जर्मन, तुर्की, चीनी, जापानी आदि। यदि और भेद की दृष्टि से देखा जाय तो एक भाषा के अन्तर्गत ही मनुष्य कई तरह की बोलियाँ बोलते हैं, हिन्दी वाले ही कोई अवधी, कोई ब्रज, कोई खड़ी बोली आदि। और इन बोलियो के भीतर भी बहुत से भेद हैं। परन्तु इन सब की तह मे एक एकत्व है—मनुष्य के विचारों, भावों और इच्छाओं को प्रकट करना।

जिन ध्वनिचिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनको समष्टि रूप से **भाषा** कहते है। भाषा के इस लक्षण मे विचार के अतर्गत भाव और इच्छा भी हैं। विशेषकर असभ्य जातियों की भाषा में अधिकतर भाव, इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही द्योतित होतो हैं, विचारों की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमारे विचारो की पूर्ण अभिव्यक्ति ध्वनि-चिह्नों ही से नही होती। उनकी मदद के लिए हम इगित का भी प्रयोग करते हैं। उस समय मुखाकृति, आँखो का भाव और हाथ के हिलने-डोलने मे हमारे भाव को समझने में दूसरे को सहायता मिलती है। सभी भाषा मे इगित का कोई न कोई अश मौजूद रहता है, प्रायः उसी तरह जैसे पैरों के चलने के समय मनुष्य के हाथो का हिलना। यह और बात है कि कोई इगित की मात्रा का कम इस्तेमाल करते हैं, कोई ज्यादा। व्याख्याताओं में कोई मेज पर हाथ पटकता है कोई चुटकी बजाता है, तो कोई हाथ पाँव और आँखे नचाता है। इगित और मुखराग से, बोले हुए शब्दो का अर्थ निश्चित ही नही होता, परिपुष्ट भी होता है। साहित्य में काकु की विशेष महिमा बताई गई है। भाव के व्यक्तीकरण में इगित का महत्त्व विशेष रहता है, जो बात शब्द से नहीं प्रकट होती वह इगित से हो जाती है और परस्पर विरोध होने पर इसके द्वारा जताया हुआ भाव ही विजयी होता है। इगित की मदद न पाकर वाणी, भाव के व्यक्तीकरण में बहुत अपूर्ण रह जाती है। सभ्य समाज

की ऐसी शिक्षा होती है कि भाषण करते समय इंगित और मुखराग को दूर रक्खा जाय। इस शिक्षा के फलस्वरूप मात्रा कम हो जाती है, पर मिटती नहीं।

किसी-किसी जाति मे भाषा के अलावा **इंगित-भाषा** भी मिलती है जिसका वे लोग विशेष समय पर उपयोग करते हैं। अमरीका के पच्छिमी प्रदेशों मे इण्डियन जातियों में ऐसी इंगित भाषा देखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि इस तरह की भाषा का विकास सामान्य इंगितो से ही हुआ है और शायद वाणी के सहारे से ही ये उठ खड़ी हुई हैं। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम जन-गणों को रात को बातचीत करते समय आग का सहारा लेना पड़ता है, नही तो भाषा इंगितों के न देख पाने से समझ ही मे न आए। कुछ भाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनामो का बोध केवल इंगितों से होना है।

ध्वनिचिह्नों के अतिरिक्त अन्य चिह्न भी हैं जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते हैं, जिनमें प्रधान हैं लेखबद्ध अक्षर। आजकल प्रायः लेख द्वारा ही देश-देशांतर से विचार-विनिमय होता है। ध्वनि का क्षेत्र सीमित है, लेख का अपेक्षाकृत अपरिमित। वाणी के इस रूप के द्वारा ही उसकी स्थिरता और विस्तार संभव हुआ। वाल्मीकि की बात हम आज भी सुन सकते हैं और भारत में बैठे-बैठे शेक्सपियर के ड्रामे देख सकते हैं। पर यह चक्षुग्राह्य अक्षर ध्वनि पर ही निर्भर हैं इसलिए भाषा की दृष्टि से ध्वनिचिह्नों की अपेक्षा इनकी नेत्रग्राह्य सत्ता गौण है। और इनसे भी गौण सत्ता है स्पर्शग्राह्य अक्षरों की जो अंधो के उपकारार्थ तय्यार की गई किताबों में इस्तेमाल मे आते हैं। स्काउट लोग झंडियों द्वारा जो संदेश भेजते हैं उनमे प्रयुक्त अक्षरों की भी बहुत गौण सत्ता है। और इसी प्रकार तार द्वारा टिक-टिक करके जो संदेश भेजे जाते है उनकी भी। हा टेलीफोन द्वारा जो ध्वनिचिह्न एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं उनकी सत्ता प्रायः वही है जो भाषा के ध्वनिचिह्नो की। इस प्रकार भाषा का अभिप्राय, विचारो का व्यक्तीकरण, प्रमुख रूप से श्रोत्रग्राह्य ध्वनिचिह्नो से सिद्ध होता है और गौण रूप से दर्शन, संकेत अथवा स्पर्श द्वारा ग्राह्य लेख, छपाई, स्काउट-चिह्न आदि मे। गौण रूप से प्रयुक्त ये चिह्न विभिन्न मनुष्य-समुदायो ने अपने अपने लिए बना रक्खे हैं और इनके मूल मे है विशेष समुदाय के व्यक्तियों की स्वीकारी। एक समुदाय अ द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनि को অ (बंगाली अ) से व्यक्त करता है तो दूसरा किसी अन्य से। इन समुदायों का अस्तित्व आवश्यकता के

अनुसार विस्तृत और संकुचित भी किया जा सकता है। इस प्रकार कोड (गुप्त) भाषाओं और लिपियों की सृष्टि होती है। एक मित्र-समुदाय का कोड यह था—

अहिफन कमल चक्र टङ्कारा।
तरुवर पवन युवा सुस्कारा॥
अँगुलिन अच्छर चुटकिन मात्रा।
कह हनुमन्त सुनहु सौमित्रा॥

और इस कोड की भाषा में जिसे दीक्षित कर लिया जाता था उस पर सौ मन एहसान का बोझ लाद कर अभिन्न मित्र बना लिया जाता था*। रहस्यमयी भाषा बोलने की उत्सुकता शायद मनुष्य में स्वभाव से ही है। बच्चे जब उल्टे वर्णों की भाषा (*तुम क्या कर रहे हो* को *मुत इका रक हरे ओह*) सीख लेते हैं तब अपना कौशल दिखाने के लिए मित्रों में ही उसका प्रयोग नहीं करते, अपने चचा, मामा आदि से भी बोलने लगते हैं।

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नहीं है विचार का भी साधन है। दो-तीन बरस का बच्चा जब बोलना सीख लेता है तब अकेले में बैठा खिलौनों से खेलता हुआ वह मन की बात प्रकट करता रहता है, किसी को सुनाने के लिए नहीं। वयस्क मनुष्य भी भावावेश में अकेला ही मन की बात शब्दों में कह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाषा और विचार एक ही वस्तु के दो अभिन्न पहलू हैं। गांधी जी ने मोतीलाल जी को मरते समय 'राम' कहने की प्रेरणा की और यद्यपि उनके मुख से, अशक्त होने के कारण, कोई ध्वनि नहीं सुनाई दी तथापि उनके ओठों की आकृति से वहाँ बैठे लोगों को प्रत्यक्ष मालूम हुआ कि मरणासन्न प्राणी राम शब्द 'मनसा' बोल रहे हैं। निरंतर प्रयोग करते-करते ही हम लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिससे बिना प्रत्यक्ष बोले ही विचार कर लेते हैं और प्रत्यक्ष कुछ बोल कर विचार कुछ कर सकते हैं। कर्मठ पुजारी पूजा करते समय बोलता कुछ जाता है और साथ ही साथ विचार किसी और बात का करता जाता है। अर्थ जानने वाला विचारशील भक्त भी बहुधा

*इस कोड की कुंजी यह है। फणाकार हाथ दिखाकर स्वर, कमलाकार से कवर्ग, पहिए के आकार से चवर्ग, हाथ से टङ्कार ध्वनि करने से टवर्ग, हाथ को तना हुआ तरु बनाने से तवर्ग और उससे हवा करने से पवर्ग का बोध होता है। मूछों पर हाथ फेरने से अन्तःस्थ वर्ण और मुँह से सुस्कार ध्वनि निकालने से ऊष्म वर्णों का व्यक्तीकरण होता है। एक उँगली दिखाने से प्रथम और दो से द्वितीय, इस तरह से वर्गों का अलग-अलग, और एक बार चुटकी बजाने से ह्रस्व और दो बार से दीर्घ मात्रा का बोध कराया जाता है!

संध्या का मन्त्र कुछ बोलता है और सोचता कुछ और है। ऐसी दशाओं में शब्द और विचार का सामंजस्य नहीं बैठता और इससे ऐसा मालूम होता है कि विचार और शब्द में तादात्म्य नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उदाहृत दशाओं में मन में जो विचार हैं वहीं मुख्य हैं और उनके तादात्म्य वाले शब्द (ध्वनिचिह्न समूह) अस्तित्व में हैं पर प्रकट नहीं हुए। उन विचारों के साथ-साथ जो ध्वनियां मुँह से निकलीं वह अनर्गल और उन विचारों से बिल्कुल असंबद्ध हैं। उनका उच्चारण केवल अभ्यास से किया जाता है, जिस प्रकार अर्थविहीन शब्दों का अथवा बिना समझी हुई परदेशी भाषा के शब्दों का।

भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कोई भी विचार करने बैठे तो भाषा की मदद के बिना नहीं कर सकते। जिसको संदेह हो वह प्रयत्न करके देख ले। साधारण रीति से हम कह सकते हैं कि ध्वनियाँ विचारों से उद्भावित होती हैं और विचार ध्वनियों से, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विद्वानों का मत है कि इन दोनों के बीच में एक माध्यम है—एक रूप या प्रतिमा। इसको चाहे ध्वनिप्रतिमा कहें या विचारप्रतिमा, पर यही ध्वनियों और विचार में संबंध उपस्थित करती है। किसी विचार के मन में आने के लिए इतना जरूरी है कि विचार और वह प्रतिमा आ जायँ, मुख से बोली ध्वनियाँ चाहे आएँ चाहे नहीं। विचारों के साथ ही साथ यह प्रतिमाएँ भी बनती बिगड़ती रहती हैं। मनुष्य जब एक बार भाषा का व्यवहार सीख लेता है तो ध्वनि-चिह्न अनायास ही उसकी इच्छा के अनुकूल अपने आप विचारों के साथ निकला करते हैं, अपने सतत प्रयत्न से वह कभी अभ्यास से किन्हीं ध्वनियों को निकाल कर तत्संबंधी विचारों को मस्तिष्क में स्थान न देकर अनर्गल ही उनको बकता है अथवा उच्चारण को बिल्कुल दबाकर विचारों को मस्तिष्क में रखकर काम किया करता है। इन अवस्थाओं का साधक है केवल अभ्यास।

इस प्रकार भाषा का विचार से अटूट संबंध है। इसे मनुष्य अपने पूर्वजों से सीखता आया है। भाषा सीखने की सामर्थ्य मनुष्य में स्वाभाव से ही होती है और यदि उसे अनुकूल वातावरण मिल गया, तो वह उसे सीख लेता है। अन्यथा नहीं। जिन बच्चों को भेड़िए उठा ले जाते हैं और किसी कारण जिनको मार कर खा नहीं जाते वे बड़े होकर मनुष्य की भाषा नहीं बोल पाते। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य कोई भी भाषा माँ के पेट से सीख कर नहीं आता। मनुष्य ने इसे

अपने समुदाय से सीखा है और यह मनुष्य की सस्कृति की देन है,उसी प्रकार जैसे धर्म, कला आदि। केवल भाषा ऐसी है जो मनुष्य मात्रमें सर्वत्र फैली है, इस विस्तार तक धर्म या कला नहीं। और यह भी संभव है कि संस्कृति की सबसे पुरानी चीज भाषा ही है—उसने आग के प्रयोग के पूर्व ही इसको सीखा होगा।

जिस चीज को हम दूसरो से सीखते है उसे हम ठीक वैसी ही नहीं सीख पाते जैसी उनकी होती है जिनसे हम सीखते है। और विशेषकर जब हम कोई चीज सहवास से ही सीखते हैं। बच्चा भाषा अपने पास-पड़ोस के मनुष्यों से अपने आप सीखता रहता है कोई उसे सिखाने नहीं बैठता। पढने लिखने की बात दूसरी है। ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक नही कि किसी ध्वनि को वह ठीक उसी तरह बोले जिस तरह वह मनुष्य या मनुष्य-समुदाय जिससे सुनकर उसने सीखा है, बोलता है, और न ठीक उसी अर्थ में। उदाहरण के लिए, *गाय* शब्द को बच्चा घर मे सुनता है और एक विशेष चलता फिरता जानवर देखता है जिसके प्रति उस शब्द का व्यवहार होता है। जब तक उसका अनुभव उसी गाय तक सीमित है तब तक वह उस शब्द का वही सीमित अर्थ समझता है। जैसे जैसे उसका अनुभव बढता जाता है उसके *गाय* शब्द के अर्थ मे भी हेरफेर होता जाता है। इसी तरह पिता जब *गाय* शब्द बोलता है और उसका पुत्र जब उसका अनुकरण करके उसी शब्द का उच्चारण करता है तब संभव है कि बच्चा ठीक उसी स्थान और उतने ही प्रयत्न से उस शब्द का उच्चारण न कर रहा हो क्योंकि ग् आदि ध्वनियाँ उच्चारण के अवयवों के कई प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तनों से करीब करीब एक ही तरह की कई निकल सकती हैं और इनकी पकड़ हमारी स्थूल श्रोत्रेन्द्रिय से नही होती।

इस सीखने के कारण ही भाषा मे विकार अथवा परिवर्तन अवश्यम्भावी है। और यही कारण उसकी अपूर्णता का है। जब हम बोलते हैं तब प्रतिक्षण यही अनुभव होता रहता है कि हम अपने मन की पूरी बात नहीं कह पा रहे हैं और पूर्णता लाने के लिए मुखराग, चितवन, हाथ आदि से सहारा लेते हैं। वाचिक भाषा की निस्बत लिखित भाषा तो और भी अपूर्ण है क्योंकि जो सहायक।वस्तुएँ वाचिक को प्राप्त हैं, उसको वे भी नही। इसी कारण लेख से कभी-कभी अनायास ही अनर्थ हो जाते हैं, उसमे "आँख का शील" नही मिलता।

मनुष्य की भाषा उसकी सृष्टि के आरम्भ से, निरन्तर गति से, प्रवाह रूप से चली आ रही है। इस प्रवाह के आदि और अन्त का कोई पता नहीं मिलता। मनुष्य उसे सीखता चला आया है और यावज्जीवन सीखना और व्यवहार करता चला जायगा। नदी के वेग के समान उसकी भाषा का वेग अनियन्त्रित है। आज हमें भाषा की विभिन्नता मिलती है। कह नहीं सकते कि यह विभिन्नता कितनी पुरानी है। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मनुष्य की सृष्टि या विकास पृथ्वी के किसी एक विशिष्ट स्थान में हुआ है या अलग अलग स्थानों पर। किसी भी अवस्था में भाषा की विभिन्नता समय और देश के अनुसार भाषा के स्वभाव से ही अवश्यम्भावी थी। प्रत्येक भाषा के पीछे उसका इतिहास है जिसका अनुमान हम उसके वर्तमान स्वरूप से लगा सकते हैं। उसके भविष्य का भी थोड़ा बहुत अनुमान शायद कर सकें।

भाषा के बारे में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन ध्वनियों से किसी विशेष जीव या वस्तु का बोध होता है उनका उस जीव या वस्तु से कोई नियत स्वाभाविक संबंध नहीं, केवल सामयिक व्यवहार का संबंध है। यदि कोई नियत स्वाभाविक संबंध होता तो प्रत्येक काल और देश में गाय और कमल का वही अर्थ होता जो हम हिन्दी वाले समझते हैं। तब न भाषा में परिवर्तन होता और न विभिन्नता ही आ पाती। जब हम यह कहते हैं कि शब्द (ध्वनि-समूह) और अर्थ का नित्य और अटूट संबंध है, तब इस कथन से केवल इतना प्रयोजन है कि प्रत्येक शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ है, चाहे यहाँ चाहे अन्यत्र, चाहे आजकल चाहे किसी और समय में। सम्भव है कि बहुतेरे ऐसे शब्द जिनको आज मनुष्य-समुदाय निरर्थक समझता है, किसी समय सार्थक रहे हों, या भविष्य में सार्थक हो सकें। अल्पज्ञानी होने के कारण हमें उनका बोध नहीं है।

मनुष्य ध्वनि-संकेतों का अनायास ही व्यवहार करता रहता है और कभी उनका विश्लेषण करने नहीं बैठता परन्तु ये ध्वनियाँ विश्लेषण-सह्य हैं। विधाता की इस सृष्टि में इन ध्वनियों की संख्या अनन्त है और प्रत्येक जन-समुदाय केवल एक थोड़ी सी संख्या का प्रयोग करता है। ध्वनियों का विश्लेषण सर्वप्रथम वैयाकरणों ने किया। श्रुति के अनुसार इंद्र ने 'वाणी' को दो हिस्सों में विभक्त किया था। भाषा के विश्लेषण का यह प्रथम उल्लेख है।

भाषा के द्योतक हमारे पुराने शब्द *वाक्* और *वाणी* हैं जिनमें बोलने का अर्थ निहित है। *वाक्* का दूसरा अर्थ जिह्वा का भी होता है। जिह्वा बोलने

में प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओं में भी जिह्वा और भाषा के लिए समान शब्द हैं। फ़ारसी का *ज़बान*, अंगरेजी का *टंग*, फ्रेंच का *लॉग*, *लॉगाज*, लैटिन का *लिगुआ* और ग्रीक का *लेइरखेइन* जो भाषा के अर्थ में प्रयोग मे आते हैं, सभी के मूल में जिह्वा का अर्थ है। अंग्रेजी का *स्पीच*, जर्मन *श्प्राखे* और अरबी *लिस्सान* प्रायः उसी अर्थ के द्योतक हैं जिसका कि हमारा शब्द *भाषा*।

तीसरा अध्याय

भाषा का उद्गम

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि मनुष्य अपने पूर्वजों से भाषा सीखता आया है। हमने अपने माँ बाप से सीखी, उन्होंने अपने माँ बाप से। इस तरह चलते चलते उस आदि अवस्था तक हम पहुँच जाते हैं जब भाषा पहले पहल सीखी गई होगी। उस समय मनुष्य को भाषा किसने सिखाई ? और यदि सिखाने वाला कोई नहीं था तो मनुष्य ने किस प्रकार भाषा का सृजन किया ? यह सवाल विचारणीय है।

धर्मग्रन्थों में श्रद्धा रखने वालों के लिए इस प्रश्न की तह में कोई समस्या नहीं मालूम होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान (वेद के रूप में) प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियों को उस वैदिक भाषा का स्वतः ज्ञान होता है और ये परम्परा से अपने बाद वालों को और ये अपने बाद आने वालों को सिखाते चले आए हैं। यास्क की दृष्टि से प्रवरों ने अवरों को यह ज्ञान दिया और पतञ्जलि के मत से ईश्वर से पूर्व कोई गुरु नहीं था—वही अनन्त काल से आदि गुरु है। इस प्रकार देववाणी संस्कृत ही आदि भाषा है जिसे परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों को सिखाया और जिससे बाद को अन्य भाषाएँ और उपभाषाएँ फूट निकलीं। इञ्जील को धर्मग्रन्थ मानने वालों के लिए तो यहूदी भाषा (इब्रानी) ही आदम की आदिम भाषा थी जो परमेश्वर-प्रदत्त है और यदि बेबल के मीनार की दुर्घटना न हुई होती तो आज भी वही अकेली भाषा सारे संसार में प्रचलित होती और भाषा की विभिन्नता के कारण मनुष्य-जाति की जो दुर्गति हो रही है उससे वह बच जाती।

आदि में किसी परमेश्वर की कल्पना न करने वाले और सृष्टि को प्रवाह रूप से अनादि और अनन्त मानने वाले धर्म भी आदि भाषा की सत्ता स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोग पालि (मागधी) को मूल भाषा मानते हैं और विश्वास करते हैं कि आदि कल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और संबुद्ध इसी का व्यवहार करते थे। जैन लोग तो आर्ष (अर्द्धमागधी) को मूलभाषा (प्राकृत) मानकर उसे मनुष्यमात्र ही तक सीमित नहीं रखते। उनका

विश्वास है कि श्री महावीर स्वामी का इस भाषा का उपदेश तिर्यग्योनि (पशु पक्षी आदि) के और सिद्ध, देव आदि योनियो के जीव भी समझते थे और सुनकर लाभ उठाते थे।

मतमतान्तरों पर श्रद्धा रखनेवाले और मानने वाले कि मनुष्य परमेश्वर के यहाँ से इस ससार मे आते समय ही भाषा सीखकर आता है, एक दूसरी ही समस्या से विचलित रहे हैं—कौन सी भाषा लेकर मनुष्य यहाँ उतरता है ? ई० पू० ५ वी सदी के ग्रन्थकार हेरोडोटुस ने लिखा है कि मिस्र देश के राजा सैमेटिकुस ने यह जानने के लिए कि ससार मे सबसे प्राचीन कौन मनुष्य जाति है, दो तत्काल पैदा हुए बच्चो को एक पार्क में अन्य मनुष्यो से अलग रक्खा। उन्होंने जब बोलना आरम्भ किया तो उनके मुँह से बेकोस शब्द निकला जो फ्रिजियन है और जिसका अर्थ है "रोटी"। उन बच्चों के सामने किसी को भी बोलने का निषेध था। बेकोस शब्द जो उन बच्चो के मुँह से निकला यह भी रोटी लाने वाले प्रहरी की जबान से अनजान में कभी निकल गया था। इस प्रयोग से यह निश्चय न किया जा सका कि मिस्री लोग आदि पुरुष हैं या फ्रिजियन। इसी प्रकार का एक प्रयोग कुछ बच्चो पर अकबर बादशाह ने भी करवाया था और वे बच्चे भी गूगे निकले। इससे इतना स्पष्ट है कि मनुष्य का बच्चा कोई भी भाषा सीख कर नही आता, जो सीखता है, यहीं इस ससार मे। धर्म में अटल विश्वास रखने वाले इन प्रमाणों से हतबुद्धि नही होते। वे कहते हैं कि माना कि अब मनुष्यजाति जन्म से कोई भाषा सीखकर नही आती पर सृष्टि के आरंभ में, अवश्य भाषा मनुष्य को सिखाई गई थी अन्यथा आज की तरह सब लोग गूगे ही आते। और जब मनुष्य को और कोई पूर्व न स्वजातीय शिक्षक नहीं सिखा सकता था, उस समय निश्चय ही उसको यह ज्ञान किसी दैवी शक्ति से मिला होगा।

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ नींव पर ही स्वीकार करता है, इसीलिए भाषा के उद्गम की समस्या उसके सामने जटिल समस्या के रूप में उपस्थित होती है और इसको हल करने का विद्वानों ने प्रयास किया है।

एक मत यह है कि आरभ मे जब सकेत आदि से मनुष्य-समुदाय का यथेष्ट काम नहीं चला, तब समुदाय ने एकत्र होकर विचारपूर्वक निश्चय किया कि अमुक वस्तु का यह नाम होगा और अमुक का यह। इस प्रकार उसने आपस के समझौते से भाषा का सृजन किया। परन्तु यह मत थोड़े

दिन भी समीक्षा की कसौटी पर नही ठहर सका। सवाल उठा कि जब मनुष्य के पास कोई भाषा थी ही नही, केवल संकेत थे तब उसने एक दूसरे पर अपने समझौते के समय के विचार किस साधन से प्रकट किए होंगे? क्या यह संभव नही कि एक वस्तु के लिए किसी सदस्य ने एक नाम पेश किया हो और दूसरे ने दूसरा और फिर वाद-विवाद हुआ हो कि कौन स्वीकार किया जाय और कौन नही? यह वाद-विवाद क्या केवल संकेतों से हुआ होगा? फिर किसी वस्तु का विचार उठते ही उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिमा मन मे आ जाती है। तो, जब किस वस्तु का क्या नाम रक्खा जाय यह बात निश्चित नही हुई थी तब यह प्रतिमा कैसे मस्तिष्क मे आई और किस रूप मे? और उसकी अनुपस्थिति में विचार ही कैसे आया? इस प्रकार समीक्षा करने पर विचारपूर्वक आदि भाषा के निर्माण का मत कितनी कमजोर दीवार पर खड़ा है यह स्पष्ट हो जाता है।

भाषा की उत्पत्ति का समाधान करने के लिए दूसरा मत यह है कि मनुष्य ने भाषा अपने आस-पास के पशु-पक्षियों तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों से सीखी। कोयल को कुहू, कुहू करते सुना तो उसका नाम कुहू कुहू रक्खा, बिल्ली को म्याऊँ-म्याऊँ करते सुना तो उसकी संज्ञा *म्याऊँ* बनाई, पेड़ से पत्ता गिरते देखा और उसकी आवाज परखी तो *पत्* धातु गिरने के अर्थ मे निश्चित की, पानी की तेज धार को बहते सुनकर *नद्* धातु का निश्चय किया और *नदी* शब्द बनाया। आज भी इस प्रकार शब्द बनते हैं। बच्चे मोटर को मोटर न कहकर *पों-पों* कहते हैं क्योंकि उनको हटाने के लिए मोटर पोंपों शब्द करती है और मोटर के हार्न को हम लोग अपनी भाषा मे *भोंपू* नाम शायद इसलिए दे बैठे हैं। परंतु यह मत भी समीक्षा करने पर पक्का और संतोषजनक नही ठहरता। पहली बात तो यह है कि संसार की पुरानी से पुरानी भाषा का भी अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि ऐसे शब्द जो इस प्रकार पशु पक्षियों के अनुकरण और अन्य पदार्थों के अनुकरण पर बने हैं उनकी संख्या बहुत कम है। कोई कह सकता है कि संस्कृत आदि सब से पुरानी भाषाएँ जिस अवस्था में हमको मिलती हैं वह हजारों वर्ष की विकसित अवस्था है इस कारण यह तर्क पुष्ट प्रमाण नही। इस सन्देह मे कुछ तथ्य है परन्तु संसार की असभ्य और असंस्कृत जातियों की भाषाओं का भी विद्वानों ने अध्ययन किया है और तब भी इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि अनुकरणात्मक और अनुरणनात्मक शब्दों का अनुपात उन भाषाओं मे

भी बहुत थोड़ा है। अमरीका की मैकेंजी नदी के किनारे बसी हुई असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा में तो ऐसे शब्दो का नितान्त अभाव पाया गया है। दूसरी बात यह है कि क्या जब पशु पक्षियो को प्रकृति ने ध्वनियों के उच्चारण करने की शक्ति प्रदान की थी तो आदिम मनुष्य को कोई भी शक्ति प्राप्त न थी? क्या वह स्वयं दृश्यों और वस्तुओं को देखकर कुछ शोर न कर सकता था? जब उसे भी यह शक्ति प्राप्त थी तब वह भाषा के सृजन के लिए दूसरों का ही सहारा क्यों लेता!

दूसरे मत की समीक्षा से ही तीसरा मत निकल आया। प्रकृति के जीवों का अवलोकन करते समय हम देखते हैं कि मन के भावों और आवेशो के ही समय विशेष रूप से ध्वनिया निकलती हैं। पक्षी आनंदोल्लास, भय, भूख आदि के ही समय शोर मचाते हैं अन्यथा चुप रहते हैं। गाय का बच्चा भी कुदक्की मारते समय, भूख से या माँ को देखकर उल्लास से *अम्माँ अम्माँ* करता है। गायें, भैंसें बहुधा मैथुन की प्रबल अदम्य आकांक्षा होने पर रँभाती हैं। श्रीवैशाखनंदन जी भी पीछे नजर घुमाकर और यह ज्ञान प्राप्त कर कि इतनी भारी जगह की घास हमने साफ कर दी आनंदातिरेक से रेंकने लगते हैं। इसी प्रकार, तृतीय मत को पेश करने वाले विद्वानों के अनुसार, आरंभ में मनुष्य मे भी इस प्रकार भाव प्रकट करने की शक्ति थी और विस्मयादिबोधक शब्द इसी शक्ति के परिणाम हैं। इन विद्वानो का कहना है कि प्रारभ मे मनुष्य इन्हीं का उच्चारण कर सकता था और धीरे-धीरे इसी प्रकार की उच्चारित ध्वनियो को उन आवेशों और भावों से अलग भी उच्चारण करने की उसे शक्ति प्राप्त हो गई। जैसे कि हम देखते हैं कि प्रारभ मे बच्चा जो सोचता है उसे अकेला बैठा हुआ भी शब्द में प्रकट करता जाता है पर धीरे धीरे वह विचार और ध्वनि को अलग करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार आदिम मनुष्य-समुदाय की शक्ति का विकास हुआ होगा। उदाहरण के लिए *छिः छिः*, *धत्*, *हुश*, *हला* आदि अथवा अँगरेजी के फाइ, *बाश*, आदि शब्द पेश किये जाते हैं। मजदूर जब बोझ उठाता हुआ थका रहता है तब उसके मुँह से अनायास हे, हो आदि शब्द निकल पड़ते हैं और इसी से उठाने के अर्थ की अँगरेजी धातु *हीव्* की उत्पत्ति बताई जाती है। इसी प्रकार तिरस्कार-सूचक *फ़ाइ* शब्द से तिरस्कारपूर्ण काम करनेवाले *फ़िएंड* (शैतान) शब्द का सबंध जोड़ा जाता है।

दूसरे मत को काटने के लिये यह मत उपकारक साबित हुआ। पर स्वयं

यह मत भी पूरे तौर से संतोषजनक नहीं है। पहली बात तो यह है कि विस्मयादिबोधक अव्यय भाषा के मुख्य अंग नहीं और किसी भी भाषा में उनकी संख्या बहुत परिमित है। वे वाक्य के अंदर तो आते ही नहीं, उनका अस्तित्व अलग ही है। दूसरे, यह बात कि ये अव्यय सदा और सर्वत्र मनोराग, आवेश आदि के द्योतक हैं यह भी ठीक नहीं जँचती क्योंकि कहीं और कभी कोई अव्यय प्रयोग में आते हैं और दूसरे देशकाल में अन्य।

तब भी दूसरे और तीसरे मत के अनुसार भाषा के थोड़े से (परन्तु बहुत थोड़े से) शब्दों की उत्पत्ति समझ में आ जाती है। शेष के विषय में वे केवल असंतोषजनक वाद की सत्ता पर स्थित रहते हैं।

फिर इस जटिल समस्या का क्या हल है? अल्पज्ञानी मनुष्य के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति में इस समस्या का हल नहीं सूझता। इसी कारण पिछली पीढ़ी के भाषा-वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न को उठाया तो, पर टाल दिया था और यह कहा था कि इससे हमें सरोकार नहीं; हम तो जैसी भाषा पाते हैं उसका अध्ययन करते हैं और उसके मूलतत्त्वों तक पहुंचने की कोशिश करते हैं, भाषा की उत्पत्ति का विषय तो दर्शन के क्षेत्र में आता है। पर आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक यह नहीं कहता, वह स्वीकार करता है कि भाषा की मूल उत्पत्ति का पता लगाना उसी का कर्त्तव्य है। वह प्रयत्नशील है। असभ्य और बर्बर जातियों की तथा बच्चों की बोलियों का अध्ययन करता है, दूर-दूर की भाषाओं की परस्पर तुलना करता है और भाषा के मूल आधार पर पहुँचने का उद्योग करता है। वह हिम्मत नहीं हारता।

भाषा और विचार का अटूट संबंध है। मनुष्य के मस्तिष्क में जब विचार उठे होंगे तभी भाषा भी आई होगी। पाणिनीय शिक्षा में कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझ कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि (शक्ति) पर जोर डालता है और वह वायु को प्रेरित करती है (इस प्रकार शब्द निकलता है)। आदि काल में यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर मनुष्य का विकास हुआ होगा तो संभव है कि भिन्न भिन्न भाषाएँ प्रारंभ से ही उपस्थित हुई हों। यदि एक ही स्थान पर सुसंगठित मनुष्य-समुदाय का आविर्भाव हुआ होगा, तो प्रारंभ में एक ही भाषा रही होगी और कालान्तर में उसमें विभिन्नता आई होगी।

मनुष्य को विचार करने की शक्ति कब मिली ? इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिक नहीं दे पाते।

भाषा और विचार के आविर्भाव का प्रश्न मनुष्य-समाज के विकास की समस्या के साथ अनिवार्य रूप से उलझा हुआ है और जब तक विकासवाद के उपस्थापक डार्विन आदि विद्वानों के खोए हुए पूर्वजों का पता नहीं चलता और विकासवाद की शृंखला की टूटी हुई कड़ी नहीं मिलती तब तक भाषा-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक, भाषा और विचार के आदि स्रोत तक पहुंचने में नितांत असमर्थ हैं और रहेंगे। धर्म पर श्रद्धा रखने वाले को यह माया नहीं व्यापती, क्योंकि उसके सिद्धान्त हैं "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" और "संतोषः परम सुखम्।"

चौथा अध्याय

भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान

ऊपर हम देख चुके हैं कि मनुष्य के विचारात्मक ज्ञान से भाषा का घनिष्ठ सबंध है—भाषा विचार का वाह्य स्वरूप है और विचार भाषा का मानसिक स्वरूप, ऐसा भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं। ऐसी दशा में भाषा-विज्ञान का मनुष्य के ज्ञान की अन्य शाखाओं से गहरा संबंध है।

भाषाविज्ञान का अटूट संबंध **मनोविज्ञान** से है। मनुष्य के सभी कार्य उसकी अदम्य इच्छा से प्रेरित होते हैं, भाषा भी। यह इच्छा कैसे उठती है इस प्रश्न का उत्तर मनोविज्ञान ही दे सकता है। फिर मन में विचार कैसे उठते हैं, मस्तिष्क में कैसे संग्रहीत रहते हैं, एक शब्द के कई अर्थ रहते हुए भी किसी समय एक विशिष्ट अर्थ ही क्यों उद्बोधित होता है, शब्दों के अर्थ में परिवर्तन किस प्रकार होते हैं, इन सब प्रश्नों का उत्तर भाषाविज्ञान मनोविज्ञान का सहारा लिए बिना देने मे असमर्थ है। हम देखते हैं कि कोई कोई मनुष्य बोली के सभी अवयवों के सही रहते हुए भी तुतलाते हैं, रुक रुक कर बोलते हैं, इस दोष का हेतु मनोविज्ञान ही बता सकता है। इसी तरह भाषा में जो परिवर्तन एक पीढ़ी से दूसरी तीसरी पीढ़ी तक आते आते हो जाते हैं उनका मुख्य रूप से मनोविज्ञान से ही कारण मालूम हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है परन्तु बदले में मनोविज्ञान भी भाषाविज्ञान का ऋणी है। उसे भी विचारों के विश्लेषण, अनुभव की संपूर्णता, अपूर्णता आदि के अध्ययन मे भाषाविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।

भाषाविज्ञान का **तर्कशास्त्र** से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है यद्यपि शब्दों का अर्थ व्यक्तित्व से सामान्यता को कैसे पहुँचता है तथा सामान्य अर्थबोधक शब्द किसी व्यक्ति का द्योतक किस तरह हो सकता है इसके अध्ययन में तर्कशास्त्र से कुछ सहायता मिलती है। पर साधारण रीति से भाषा तर्क के अनुसार नहीं चलती और प्राणी और अप्राणी, स्वेदज, अंडज, उद्भिज्ज आदि शब्द जिनमें तर्कशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव दीखता है, अनुसन्धानकर्ता के मस्तिष्क की उपज हैं, साधारण भाषा के नहीं।

भाषाविज्ञान का **समाजशास्त्र** से भी गहरा संबंध है। भाषा विचार विनिमय का साधन है, यह विचार विनिमय मनुष्य समाज मे ही होता है,समाज ही अपने समुदाय के व्यक्ति पर भाषा थोपता है, व्यक्ति को जैसी है वैसी ही स्वीकार करनी पड़ती है, वह चीं-चपड़ नहीं कर सकता, उसमे अपनी इच्छा के अनुकूल, बिना दूसरे व्यक्तियों की सम्मति के कोई विकार भी प्रविष्ट नही कर सकता। समाजशास्त्र के अध्ययन से ही भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को उन अवस्थाओं का पता चलता है जिनमें भाषा का विकास होता है। समाजशास्त्र के किन प्रभावों द्वारा भारतीय स्त्री अपने पति के नाम का उच्चारण नहीं कर सकती, किन प्रभावो द्वारा साँप को कीड़ा और लाश को मिट्टी कहते हैं, क्यों गाय बियाती है स्त्री नहीं; क्यों पाखाना (वस्तुतः पैर रखने की जगह) कहा जाता है और उस क्रिया का नाम नही लिया जाता जो इस स्थान पर की जाती है, इन सब बातों का उत्तर समाजशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन से ही मिल सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष समाज की अवस्था का अध्ययन भी इतिहासिक या तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा सहारा पाता है। अवेस्ता की ईरानी भाषा में आँख, कान आदि क़रीब बीस अर्थों के बोधक दो-दो शब्द हैं—एक शुभ और दूसराअशुभ। इनके रखने की उस समाज में क्यों जरूरत पड़ी? ईरान में दैव (देव) शब्द अशुभ और संस्कृत मे उसका विपरीत क्यों है? वैदिक सूक्तों में असुर शब्द कहीं देवता-वाचक और कही राक्षसवाचक क्यों है? सस्कृत में *यक्ष* शब्द अच्छे अर्थ मे और पालि मे बुरे अर्थ में क्यों प्रयोग मे आया है? अशोक महाराज ने *देवानाँ प्रियः* इस वचन का अपने लिए सर्वत्र लेखों मे प्रयोग किया है और उनके बाद वाले सस्कृत के ग्रन्थों मे इसका अर्थ है मूर्ख। क्यों? अशोक के लेखों में पाखडी शब्द धर्मावलम्बी के अर्थ मे आया है और आज उस शब्द का क्या अर्थ है? अपनी भाषा मे जो शब्द *पिल्ला* कुत्ते के बच्चे के अर्थ मे बराबर रूढ़ है वही द्राविड़ भाषाओं में भले आदमियों के *चिदंबरम् पिल्लइ* आदि नामों में आता है। इन सब से विशेष देश और काल के समाज की मनोवृत्ति और अवस्थाओं का पता लग जाता है।

भाषाविज्ञान को मनुष्य के **शरीरविज्ञान** का भी सहारा लेना पडता है। भाषा मनुष्य के शरीर से निकलती है। ज्ञानतंतु मस्तिष्क से मुख, नासिका, जिह्वा, तालु आदि अवयवों को प्रेरित करते हैं। ध्वनि के अध्ययन के तीन भाग हैं—ध्वनि का निर्माण, उसका दूसरे के प्रति वहन और उसकी दूसरे द्वारा प्राप्ति। ध्वनि किस प्रकार बनती है, किस प्रकार अदर से आती हुई प्राण-

वायु स्वरयन्त्र, अलिजिह्व, तालु, दांत, ओठ, नाक आदि में स्थान पाकर और उसके कारण ध्वनि की विशेषता को प्राप्त होती हैं यह मनुष्य के वाचिक अवयवों के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। फिर यह ध्वनियाँ किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती हैं और उस इन्द्रिय की गठन क्या है यह भी शरीर-विज्ञान के अध्ययन से ही मालूम किया जा सकता है। आधुनिक काल मे लिखित भाषा का व्यवहार बहुत विस्तृत है। नेत्रेन्द्रिय किस तरह लेख को ग्रहण करती है और किस प्रकार अनुच्चरित शब्द को मस्तिष्क तक पहुंचाती है यह भी नेत्रेन्द्रिय और ज्ञानतंतुओं के अध्ययन से ही समझ मे आ सकता हैं। साराश यह कि भाषाविज्ञान को ध्वनि के अध्ययन के लिए शरीर-विज्ञान के अध्ययन की जरूरत पड़ती है।

ध्वनि किस प्रकार मुँह से निकल कर दूसरे आदमी के कान तक पहुंचती है यह बात हमें **भूत-विज्ञान** बतलाता है। शब्द आकाश मे लहरें मारता है या वायु में, भाषा की ध्वनियों में और अन्य ध्वनियों मे क्या अतर है यह सब बातें भूत-विज्ञान के ही अध्ययन से मालूम होती हैं। और आजकल तो प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान ने भूत-विज्ञान की कार्य-शैली का अनुकरण करके और उसकी सामग्री को उपयोग में लाकर ध्वनि के मूलतत्वों की प्राप्ति में यथेष्ट सफलता पा ली है।

भाषा-विज्ञान का **इतिहास** से भी संबंध है—राजनीतिक, धार्मिक सामाजिक आदि सभी इतिहास से। भारतीय भाषाओं मे प्रचुर मात्रा के अरबी, फारसी और तुर्की आदि शब्दों का अस्तित्व हमारी पिछले आठ नौ सौ साल की ग़ुलामी का परिचायक है। पंजाब और संयुक्त प्रात की हिंदी उर्दू समस्या पिछले दो-तीन सौ वर्ष की राजनीतिक विषमता की उपज है। बगाली और मराठी आदि भाषाओं में प्रचलित ब्रज शब्द ब्रजमण्डल के वैष्णवधर्म के देशव्यापी प्रभाव के द्योतक है। इसी प्रकार प्राचीन आर्य भाषाओ मे 'विधवा' शब्द का अस्तित्व तथा जिसकी पत्नी का देहान्त हो चुका हो उस अभागे पुरुष के लिए किसी विशेष शब्द का अभाव संभवतः इस बात का सूचक है कि प्राचीन आर्यों के समाज में पत्नी के देहात पर अपना विवाह कर लेने का अधिकार पुरुष ने अक्षुण्ण रक्खा था और वही समान अधिकार स्त्री को नही दे रक्खा था। प्राकृत भाषाओ के काल के पूर्व माँ की बहिन (मातृष्वसा) और बाप की बहिन (पितृष्वसा) के लिए अलग-अलग शब्द थे पर मौसा और फूफा के लिए नहीं, यद्यपि लड़की के

पति (जामातृ) के लिए विशिष्ट शब्द था। इससे स्पष्ट है कि कुटुम्ब मे मौसा और फूफा का कोई स्थान नहीं था। भषा का इतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के उन अंशों पर जिनपर पर्दा पड़ा हुआ था प्रकाश डाल सकता है। इस तरह भाषा-विज्ञान द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अन्य इतिहासिक सामग्री के अभाव में अमूल्य होता है।

भाषाविज्ञान की मदद से प्रगैतिहासिक काल के बारे मे भी कुछ न कुछ ज्ञान मिल जाता है, उदाहरणार्थ प्राचीनतम आर्यों के विषय में प्राचीन आर्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी रोचक सामग्री प्राप्त होती है। ये परिवार बना कर रहते थे—जिस मे मा बाप, भाई, बहिन, लड़की आदि होते थे तथा स्त्री विवाह के अनतर पति के परिवार मे आकर शामिल हो जा थी। पशुपालन मुख्य व्यवसाय था—विशेष कर गाय और घोड़ा। सभवतः नगर बना कर नहीं रहते थे और कृषि भी बहुत नहीं जानते थे। कई वृक्षों से परिचय था तथा कई प्रकार के पशु पक्षियों से। सौ तक की गिनती के शब्द थे, हजार का नहीं। ईश्वर के लिए कोई एक शब्द नहीं मालूम होता—शायद द्यौःपिता बाद को बना। इनका आदि निवास-स्थान कहाॅ था इसका शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त होता, अनुमान कई वाद उपस्थित करता है—(क) उत्तरपूर्व यूरुप, (ख) मध्य एशिया, (ग) उत्तरी ध्रुवप्रदेश तथा (घ) सप्तसिंधु का देश।

भाषाविज्ञान के अध्ययन में भूगोल से भी मदद मिलती है। पहाड़, मरु-भूमि, सागर आदि भाषा के प्रसार मे कैसे कठिनाइयाॅ उपस्थित करते हैं, किन्हीं प्रदेशो मे बोलियों की संख्या अधिक क्यो हो जाती है किन्हीं में कम क्यों—इत्यादि प्रश्नों पर तत्सबधी भूगोल के अध्ययन से यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। स्थानों, नदियों आदि के नामों के इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से भूगोल-सबधी रोचक सामग्री उपस्थित हो सकती है जो इतिहासिक भूगोल के काम की चीज है।

भाषा और वाङमय का भी संबंध है। वाङ्मय द्वारा हमे प्राचीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे भाषा के इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन मे सहायता मिलती है। वैदिक वाङ्मय मौखिक परपरा से, और भारतीय प्राचीन पंडितों के पदपाठ, सहितापाठ, घनपाठ आदि कृत्रिम किंतु बहूपकारक साधनो द्वारा, सुरक्षित रहा और आज बडे काम की चीज है। प्राचीन गाथाएॅ, प्रायः पद्य-बद्ध, धर्म-सबंधी अथवा वीरपूजा-सबंधी भी प्राचीनकाल से ही मौखिकरूप से सुरक्षित

रहती आई हैं और भाषा के अध्ययन के लिए बहूमूल्य साबित हुई हैं। जबसे मनुष्य को लेखनकला का सहारा मिल गया तबसे तो वाङ्मय को सुरक्षित रखने में बड़ी आसानी हो गई। भाषाविज्ञान के लिए यही बहूमुल्य सामग्री है, इस वाङ्मय के बिना भाषाविज्ञान की टाँग टूटी रहती। लेख से जहाँ इतना सहारा मिलता है वहा कभी-कभी भाषा के शब्दों में भ्राति भी उपस्थित हो जाती है—हम बोलते हैं *सिघ, भूक, हात* पर लिखते हैं *सिह, भूख* और *हाथ*। जहाँ पानी का *बरसना* सरल मार्ग से आया है वहाँ *बर्खा (वर्षा)* संस्कृत के पडित के मुख से निकली है। यह सभव नहीं कि लेख ध्वनियों को बिल्कुल यथातथ्य रूप में उपस्थित कर सके पर तब भी उसमें उच्चारण का एक व्यवहारिक प्रतिबिम्ब तो आवश्यक है ही। वाङ्मय का अस्तित्व भाषा के विकास के अस्तित्व की रोक थाम नही कर सकता, हाँ यदि पढ़ने लिखने की मात्रा मनुष्य-समुदाय मे बढ जाती है और सब जगह फैल जाती है तो लेख का प्रभाव भाषा के विकास पर पड़े बिना नहीं रहता।

भाषाविज्ञान का व्याकरण (भाषाशास्त्र) से केवल इतना सबध है कि व्याकरण किसी भाषा की ध्वनियों और शब्द-रूपों का यथातथ्य सामान इकट्ठा करके दे देता है और उसका उपयोग भाषाविज्ञान कर लेता है। इसके अलावा और कुछ नहीं। जैसे किसी व्याकरण का ज्ञान उस भाषा के विज्ञानिक अध्ययन के लिए उपादेय है उसी प्रकार कई भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण तत्सम्बन्धी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए।

सक्षेप से हम कह सकते हैं कि भाषा के विज्ञान का सबंध मनुष्य के सभी इतर ज्ञान से है और यह ठीक भी है क्योंकि दर्शनकार बताते ही हैं कि ज्ञान अखड, अनत तथा एक है—*'सत्य ज्ञान म खंड ब्रह्म, एकमेवाद्वितीयम्।'*

भाषा वाक्यों का समूह है। विज्ञान की दृष्टि से हम लोग वाक्य ही बोलते हैं, ये वाक्य प्रायः पाच छः शब्दों से अधिक के नहीं रहते। लम्बे-लम्बे वाक्य जो हमे साहित्यिक भाषा मे मिलते हैं स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम हैं। कभी कभी वाक्य मे एक ही दो शब्द रहते हैं। ऐसे वाक्यों के बाकी के शब्द अपेक्षित होते हैं और उच्चारण के बिना ही सुनने वाला उन्हें समझ जाता है। इस प्रकार वाक्य स्वतः पूर्ण होता है। वाक्य शब्दों से बनता है, यद्यपि इन शब्दों का अस्तित्व और पार्थक्य, विज्ञान की दृष्टि में, उतना प्रमाणित नहीं जितना वाक्य का। प्रत्येक वाक्य के उपरात मनुष्य क्षणमात्र के लिए रुकता है तब दूसरे वाक्य को प्रारम्भ करता है। परन्तु शब्दों के

बारे में ऐसी कोई बात नहीं आती। उच्चारण में बहुधा हम अव्ययों को पूर्ववर्ती शब्दों से मिलाकर बोलते हैं और जहाँ संधि का प्रयोग अधिक हो वहाँ तो दो प्रधान शब्दों को भी मिला देते हैं, जैसे (१) *इंद्रश्च वरुणश्च* (२) *इंद्रश्चाग्निश्च*, (३) *चोल्ले गया*, (४) *माड् डाला*, (५) *पंडिज्जी*। इन सभी उदाहरणों में व्याकरण की दृष्टि से जितने शब्द हैं, उच्चारण की दृष्टि से उतने नहीं। प्रथम उदाहरण में व्याकरण चार शब्द बताता है पर उच्चारण दो ही। कभी-कभी व्याकरण की दृष्टि से जिसे एक शब्द कहेंगे वह वाक्य मे दो विभिन्न स्थानों में दो टुकड़े होकर दिखाई देता है। वैदिक भाषा मे उपसर्ग और क्रिया के बीच में बहुधा कई शब्द आ जाते हैं। फ्रेंच *न पा* एक शब्द है और उसका अर्थ है *नहीं* पर वाक्य मे *न* आरम्भ की ओर और *पा* अत की ओर आता है और बीच मे अन्य शब्द। इस प्रकार शब्द का अस्तित्व नितात असंदिग्ध नहीं है। इस प्रकरण पर आगे पुनः विचार करेंगे। परन्तु शब्द का कोई अस्तित्व उच्चारण में न भी झलके तो भी दिमाग में रहता ही है अन्यथा हम शब्द के रूप न बना सकते। वाक्य मे प्रत्येक शब्द एक दूसरे की आकांक्षा रखता है और सान्निध्य तो चाहिए ही। इस प्रकार का शब्द-समूह अथवा वाक्य ध्वनियों का समूह होता है। भाषाविज्ञानी ध्वनियों का पृथक् पृथक् अस्तित्व मानते हैं। प्रत्येक वाक्य का अर्थ वाक्यार्थ तथा प्रत्येक शब्द का पदार्थ होता है। शब्द की अभिधा शक्ति से एक अर्थ हो, पर लक्षण और व्यंजना से दूसरा ही तात्पर्य निकल सकता है इस बात का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण भारतीय भाषातत्त्वविदों ने सदियो पूर्व कर रक्खा है।

भाषा के इस प्रकार क्रमशः चार अङ्ग हुए—वाक्य, शब्द, ध्वनि और अर्थ। और इन्हीं के अनुसार भाषाविज्ञान की भी चार शाखाएँ हैं—**वाक्य-विज्ञान, पदविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, और अर्थविज्ञान**।

वाक्यविज्ञान में वाक्यों का परस्पर संबंध, किसी वाक्य में पदों का परस्पर संबंध तथा उनका अपेक्षाकृत स्थान, पदों की परस्पर अपेक्षा, आकांक्षा और सान्निध्य आदि का विचार होता है। हिन्दी के वाक्य में पहले कर्ता, फिर कर्म और अन्त मे क्रिया क्यों होती है और इतिहासिक दृष्टि से देखते हुए यह क्रम कब से आया है? अंगरेजी से तुलना करने पर वाक्यविज्ञान ही इस कुतूहल को शात कर सकता है कि हिंदी में कर्म बीच मे और अंगरेजी में अंत में क्यों आता है। वाक्यविज्ञान शायद इस प्रकार के व्यवहारिक प्रश्नों

का भी उत्तर दे कि हिंदी के परसर्ग (विभक्ति-सूचक अव्यय) सज्ञाओं के साथ मिलाकर रखने चाहिए या अलग।

पदविज्ञान का कर्तव्य पदों का प्रत्येक दृष्टि से अध्ययन करना है। पद में अर्थसूचक कौन अश है और सबधसूचक कौन; धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का परस्पर क्या सबध है, सज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि में परस्पर क्या भेद है और क्यों उत्पन्न हुआ; व्याकरण द्वारा निर्धारित यह श्रेणी-विभाग कहाँ तक विज्ञान पर निर्भर है और कहाँ तक वैयाकरण की सुविधा पर; इत्यादि विविध प्रश्न जो पद के संबध मे उठते हैं उनका समाधान पदविज्ञान ही कर सकता है और पदविज्ञान भी भाषा की इतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है।

ध्वनिविज्ञान द्वारा ध्वनियो का अध्ययन होता है। ध्वनियत्र का-सिंहावलोकन, ध्वनियों का विश्लेषण, ध्वनियों के, मात्रा, बलाघात, सुर आदि गुण, ध्वनिविकार, अक्षर का निर्माण, इत्यादि प्रश्नों का विचार ध्वनिविज्ञान के ही अंतर्गत है।

अर्थविज्ञान अर्थ के विषय में पूर्ण रूप से विचार करता है। व्यक्तिवाचक, भाववाचक, वस्तुवाचक आदि संज्ञाएँ किस प्रकार अर्थ ग्रहण करती हैं कैसे धातु का कुछ अर्थ किंतु पद का कुछ और ही, पद की ध्वनियों और अर्थ का परस्पर सबंध, अर्थ में परिवर्तन और इस परिवर्तन के कारण, इन सब बातों पर अर्थविज्ञान ही प्रकाश डालता है। किसी भाषा के अर्थ का अध्ययन इतिहासिक अथवा तुलनात्मक दृष्टि से भी हो सकता है।

इन मुख्य शाखाओं के अतिरिक्त किसी भाषा के शब्दकोष को उठाकर अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से अध्ययन करना भी भाषाविज्ञान के ही अतर्गत समझना चाहिए। यही नहीं, किसी प्रदेश अथवा जाति के पुरों, ग्रामों और व्यक्तियों के नामों का अध्ययन भी उस प्रदेश अथवा जाति की संस्कृति आदि के बारे मे बड़ी रोचक सामग्री उपस्थित करता है और सामान्य रूप से भाषाविज्ञान के अंतर्गत है।

कभी-कभी लोग पूछ बैठते हैं कि भाषाविज्ञान का अध्ययन क्यों करना चाहिए, इसका **उपयोग** ही क्या है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही है कि विज्ञान का उपयोग मनुष्य की, नैसर्गिक ज्ञान की पिपासा को सन्तोष देना है। जैसे दर्शन, भूतविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन से हमे शाति मिलती है उसी प्रकार की शाति, भाषा विषयक कौतूहल की तृप्ति, भाषाविज्ञान के अध्य-

यन के द्वारा प्राप्त होती है। नितात व्यवहार की दृष्टि से भाषाविज्ञान के अध्ययन से भाषा का स्वरूप तथा परवर्ती भाषाओं का ज्ञान सुगमता से प्राप्त हो सकता है। भाषा-सबधी जो जटिल समस्याएँ (पारिभाषिक शब्द, लिपि, राष्ट्र-भाषा आदि के बारे में) किसी देश और काल मे उपस्थित होती हैं उनका सुलझाना जिस खूबी से भाषाविज्ञान-विद् कर सकते हैं अन्य नही।

भाषाविज्ञान के अध्ययन का **अधिकारी** कौन है ? प्रत्येक ऐसा समझदार व्यक्ति, जो भाषा संबंधी उच्च ज्ञान की पिपासा रखता है इस विषय के अध्ययन का अधिकारी है। अध्ययन प्रारभ करने के पूर्व यदि मनोविज्ञान और मनुष्य-शरीर के ऊपरी भाग की गठन का साधारण भी अध्ययन करके आदमी भाषाविज्ञान की ओर कदम बढाएगा तो उसे सुविधा होगी।

इस विज्ञान के मूलतत्त्वों का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को उनकी परख अपनी मातृभाषा पर (अपने और निकटवर्ती जनो पर) घटित करके करते रहना चाहिएँ और उदाहरण यथा-सभव अपनी मातृभाषा से संग्रहीत करने चाहिए। ध्वनियों के अध्ययन के समय कानों को सदा सतर्क रखना चाहिए और यथासभव लिखित भाषा द्वारा उत्पादित भ्रमजाल से दूर ही रहना चाहिए। भाषा के मूलतत्त्वो को ग्रहण करके इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की ओर बढ़ा जा सकता है। इसका कुछ-कुछ आभास तो सामान्य सिद्धातों के अध्ययन के समय भी उदाहरणों द्वारा उपस्थित हो जाता है।

पाँचवां अध्याय

भाषा का विकास

इस ससार की हर चीज परिवर्तनशील है। कुछ का परिवर्तन इतनी जल्दी जल्दी होता है कि वह हमें प्रत्यक्ष जान पड़ता है, कुछ का बहुत धीरे-धीरे, इतने धीरे कि हमे मालूम नहो पड़ता। मेज पर के फूलदान के फूल कितनी जल्दी कुम्हलाते हैं और फिर कितने शीघ्र उनकी पखुड़ियाँ गिरने लगती हैं, इसका अनुभव साधारण मनुष्य को भी हो जाता है। पर मेज में भी परिवर्तन हो रहा है इसका अनुभव दो-चार महीने या दो-चार साल के अनुभव और इस्तेमाल से नहीं होता। बच्चा कितनी जल्दी-जल्दी बढ़ता है, उसके परिवर्तन का अनुभव आसानी से हो जाता है, पर जवान आदमी में भी परिवर्तन होता है उसे सरलता से नहीं मालूम किया जाता। प्रतिक्षण प्रति ऐहिक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, कोई चीज स्थिर नहीं है। यही भारतीय क्षणिकवाद का अटल सिद्वात है, जो '*इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्*' द्वारा प्रकट है। कवि की दृष्टि मे यह परिवर्तन ही जीवन है। अस्तु।

भाषा भी परिवर्तनशील है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिये ले लें। प्रति अवयव में—क्या ध्वनि, क्या पद, क्या वाक्य-विन्यास और क्या अर्थ, सभी में परिवर्तन होता रहता है और इसका अदाज किसी भी भाषा के सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के रूप के साथ तुलना करने से लग सकता है। भाषा की देश काल के अनुसार जिस अनेकरूपता का हमें अनुभव होता है वह भाषा की परिवर्तनशीलता की गवाही दे रही है।

इस परिवर्तन को कोई उन्नति, कोई अवनति के नाम से पुकारते हैं, कोई कहते हैं कि फलाँ रूप घिस कर ऐसा हो गया, कोई कहते हैं कि अमुक रूप ने बढ़ कर ऐसी शकल ग्रहण कर ली। इन सारे परिवर्तनों को **विकास** कहना चाहिए—*आदित्यवार* विकसित होकर *इतवार* हुआ और *एकादश ग्यारह*। इसी प्रकार *अलावु* से *आल* और *लौकी* का तथा *भक्त* से *भगत* का विकास हुआ। विकास में उन्नति और अवनति का सवाल नहीं उठता, वह अवश्यं-भाविता का परिचायक है। भाषाविज्ञानी यह मानने को तय्यार नहीं कि आज

जो भाषा एक समुदाय बोलता है वह दो पीढ़ी पूर्व या उपरांत बोली जाने वाली भाषा से अच्छी या बुरी है। अपने-अपने समय के लिए सभी अच्छी हैं। विकास में एक आशावादित्व छिपा हुआ है, जो अभाव में भी उपयोग की आशा रखता है। बीज अपने को धरती में खोकर ही सैकड़ों बीजो की सृष्टि करता है।

भाषा के परिवर्तन के कारण भाषा मे ही मौजूद हैं। उसे हम परंपरा से सीखते हैं, इस कारण यह निश्चय ही है कि हम उसे ठीक वैसी ही नहीं ग्रहण कर पाते जैसी कि वह उनके पास है जिनसे हम सीखते हैं। भाषा अन्य मनुष्यों के ससर्ग से सीखी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का ससर्ग भिन्न होता है। एक ही परिवार में कोई वकील है, तो कोई अध्यापक, कोई व्यापारी। ये सभी अलग अलग समुदायों मे काम करते है, अलग अलग के प्रभाव इन पर पड़ते हैं। परिवार में स्त्रियों की स्थिति बहुधा पुरुषों से भिन्न रहती है। इनको वाह्य ससर्ग का उतना मौका नहीं रहता जितना पुरुषों को, इसीलिए इनकी बोली में परिवर्तन उतनी तेजी से नहीं होता जितना पुरुषो की। इस पर भी, सुसंगठित परिवार के व्यक्तियों की भाषा उतनी जल्दी परिवर्तन नही ग्रहण करती जितनी एक विशृखल परिवार वालो की।

वैज्ञानिक रीति से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि कोई दो व्यक्ति बिल्कुल एक तरह की भाषा नहीं बोल सकते। दो व्यक्तियों के बोलने के भेद को हम पहचान लेते हैं, पर उसे व्यक्त नहीं कर पाते। यदि जरा दूर पर हमारी नजर से ओझल दो परिचित जन बोल रहे हों तो हम उनकी आवाज से ही जान लेते हैं कि कौन बोल रहा है। पर कभी-कभी दो बहिनों की या दो भाइयो की या भाई-बहन की आवाज में भेद की मात्रा इतनी कम स्पष्ट होती है कि भ्रम हो जाता है। इस भेद का कारण व्यक्तियो के अभ्यास पर मुख्य रूप से और उनकी शारीरिक गठन पर आंशिक रूप से निर्भर है। हमारा उच्चारण-यंत्र इतना बढ़िया बना हुआ है कि हम सूक्ष्म भेद वाली अनेक ध्वनियों को बोल सकते हैं पर वे सुनने वाले को एक सी प्रतीत होगी। कई तरह का क्, कई प्रकार का प् बोला जा सकता है, जिसकी सूक्ष्मता की परख मनुष्य का कान अथवा कोई भी यत्र नहीं कर सकता। एक ही मनुष्य ठीक एक ही स्थान और उतने ही प्रयत्न से एक ध्वनि का उच्चारण करता है यह भी तो नहीं कहा जा सकता। फिर शब्द मे स्थान के अनुसार भी किसी ध्वनि के स्वरूप में अतर पड सकता है—*काला* का अतिम 'आ' बिल्कुल उतती ही

मात्रा का नही है जितनी का पहले का। इस प्रकार व्यक्तियों की भाषा की विभिन्नता उच्चारण में रहती है। इसी तरह अर्थ-संबधी विभिन्नता भी स्वाभाविक है क्योंकि अर्थ अनुभव-जन्य है और स्मृति और अनुभव के सयोग से बदलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की स्मृति और अनुभव दूसरे की स्मृति और अनुभव से भिन्न होता है।

इस प्रकार चाहे उच्चारण की परिस्थिति (भाषा के बाह्य स्वरूप) अथवा अर्थ की परिस्थिति (भाषा के आतरिक स्वरूप) से देखा जाय, किन्हीं भी दो व्यक्तियों की भाषा यथार्थ रूप से समान नहीं होती। किंतु व्यक्तियों की यह भाषा-विभिन्नता वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात होती है, व्यवहार मे नहीं। व्यवहार में यह विभिन्नता उसी प्रकार समुदाय की भाषा मे लय हो जाती है जिस प्रकार लहर मे बूँद। एक समुदाय और दूसरे समुदाय मे जब तक ससर्ग की प्रचुरता रहेगी, विभिन्नता कम होगी पर इसमें ढिलाई पडते ही विभिन्नता को अपना प्रस्तार करने का अवकाश मिल जायगा।

सामान्य रूप से कह सकते हैं कि एक सुश्लिष्ट कुटुम्ब की भाषा एकरूप होती है और इससे कम मात्रा मे एकरूपता कई कुटुम्बो के सुसगठित समुदाय—ग्राम—मे होती है। गॉव मे यदि जातियों के अनुसार मुहल्ले बसे हों, जैसा कि बहुधा होता है, तो विभिन्नता के मौके अधिक रहते हैं।। कबरिए जुलाहे पास के गॉवों के मुल्ला-मौलवियो के संसर्ग से कुछ अधिक विदेशी शब्दों के (विशेष कर अपने दीन के सबंध के) इस्तेमाल के आदी हो जाते हैं। पूजा व्रत मे लीन पुजारी बाबा की बोली मे गलत सही कुछ सस्कृत के शब्द आ ही जायँगे और पट्टा, कबूलियत, खसरा खेतौनी मे करामात करने वाले मुशीजी की बोलचाल मे भी कुछ नागरिकता का आ जाना स्वाभाविक है। कस्बे के स्कूल से पढ़कर आए हुए विद्यार्थी भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन उपस्थित ही कर देंगे और कलकत्ता, बम्बई अथवा कानपुर मे दस पाँच साल मजदूरी करके बढ़िया कपड़े और गहने खरीद कर लाने वाला सफल आदमी भी गॉव में यदि दस-पॉच शब्दों का प्रवेश करा दे तो कोई अचरज नहीं। और यदि दूर के गॉवो से बहुत-सी बहुएँ ब्याह कर आ जाएँ तो भी कुछ नए शब्दों के समावेश की संभावना है। साधारण रीति से बहुएँ बहुत जल्दी सुसराल की बोली बोलने लगती हैं और मायके की भूल जाती हैं। उनको केवल सास-ससुर, जेठ-जेठानी की डाट का ही डर नहीं रहता बल्कि अपने पति और देवर-देवरानियों की हँसी मजाक का भी भय रहता है। इसलिए

निकरब के स्थान पर *निसरब* अथवा *ईख* के स्थान पर *ऊख* का उच्चारण विश्रम वातावरण में नहीं ठहर पाता। पर जहाँ परिवार का इतना अंकुश नहीं है वहाँ नए शब्द प्रवेश कर ही जाते हैं। इस तरह संसर्ग अपने प्रभाव के चमत्कार अनेक (और कभी-कभी दुर्ज्ञेय) प्रकार से दिखाया करता है।

सवाल होता है कि परिवर्तनत के इतने ठोस हेतुओं के अस्तित्व में, परिवर्तन अधिक तीव्र गति से क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यही है कि भाषा के प्रयोजन में ही परिवर्तन की गति की बाधा मौजूद है। भाषा का प्रयोजन मनुष्य के विचारों का परस्पर व्यक्त करना है। इस व्यक्तीकरण में जो बाधाएँ उच्चारण-संबंधी और अर्थ-संबंधी, उपस्थित होंगी उनके विरुद्ध मनुष्य-समुदाय झुँझलाएगा। जितनी अनायास आ जाएँगी उन्हें वह सह लेगा। भाषा के समझने में जो विषमता उपस्थित होगी उसके विरुद्ध समुदाय खड़ा होगा। यदि बच्चा *ले पाना* के वजन पर *पा पाना* कहेगा, तो उसके माँ बाप तुरन्त उसे समझा देंगे कि 'पाना' धातु के साथ दूसरा *पाना, सकने* के अर्थ में प्रयोग में नहीं आता इसलिए *पा सकना* कहो, चाहे कारण बताएँ या न बताएँ, पर प्रयोग की शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान उसे करा ही देंगे। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी ने *कर्* धातु से *करा* रूप बनाया और उसे अपने लेख में लिखा तो गुरु जी *करा* को काट कर *किया* लिख देंगे। अथवा बालक जब *घली* और *छात* कहेगा तब उसके बड़े भाई और बहेन मुस्कुराएँगे, दो-एक बार उसे चिढ़ाएँगे भी और वह घोर प्रयत्न करके थोड़े ही दिनों में *घड़ी* और *सात* कहने लगेगा। उच्चारण और अर्थ दोनों में, परिवर्तन अपने आप अनजान में होता रहता है, जान में भी ऐसा परिवर्तन जो तुच्छ है सहा जा सकता है। पर घोर परिवर्तन बहुत कम होता है और जब होता भी है तब समुदाय जब उसे अंगीकार कर लेने को तैयार ही रहता है तभी होता है। *असुर* शब्द के अर्थ का *देवता* से *राक्षस* में परिवर्तित हो जाना आर्य जाति के किसी बड़ी ठेस के लगने का द्योतक है। इसी प्रकार *देवाना प्रियः* का अर्थ *मूर्ख* हो जाना पण्डितवर्ग के बौद्धमत और उसके महापुरुषों के प्रति द्वेष का ही सूचक हो सकता है। अंगरेजों को भारत के 'न्यायप्रिय शासक' के स्थान से देश को गुलामी में जकड़े रखने वाली 'बेईमान जाति' की हीनता पर ला पटकने वाली भारतीय मनोवृत्ति भी तो मनोवृत्ति के धीरे धीरे और फिर किसी महापुरुष की प्रेरणा से झटके के साथ जोर से बदल जाने का ही तो उदाहरण है।

क्या परिवर्तन तुच्छ हैं और क्या महत्त्व के इसका निर्णय हर भाषा अथवा उसे बोलने वाला समुदाय स्वयं करता रहता है। बंगाली और नेपाली भाषाओं मे स्वरों की मात्रा मे व्यतिक्रम होने से उतना भ्रम नहीं होता, इसलिए वहाँ वह सह्य है परन्तु हिंदी मे उसका महत्त्व है (नही तो *कटना काटना; मरना मारना* में अंतर न रहे), इसलिए व्यतिक्रम नहीं आने पाता। जर्मन भाषा में अंतिम व्यंजन सघोष हो अथवा अघोष इससे विशेष अंतर नहीं पड़ता इसलिए, *द्* लिख कर भी *त्* बोल सकते हैं (और *गुद्* को *गुत* कह सकते हैं) पर अंगरेजी में ऐसा नही करने पाते क्योंकि ढेरों ऐसे शब्द हैं जहाँ इस अंतर के न रखने से घपला हो जाय (और इसीलिए *किट् किड्, कैप्-कैब्, रिप् रिब्* मे उच्चारण का भेद रक्खा जाता है)।

इस प्रकार भाषा के विकास मे परिवर्तन कुछ अंश मे होता रहता है और कुछ मे नही। सृष्टि के *ऋत* (गति के नियम) और सत्य (स्थिति के नियम) सदा ही काम किया करते हैं और इस जगती के जगत् का एक उदाहरण भाषा इन नियमों के चक्र के बाहर नहीं जा सकती। काल-भेद से एक ही भाषा को अवस्थाओं के अनुसार, हम अनेक नाम देते आए हैं पर वह धारा एक ही है। एक ही धारा कही भागीरथी, कही गंगा तो कहीं हुगली हो जाती है। दर्शनकारों ने सवाल उठाया था कि साल भर का बच्चा जब विकसित होता-होता दस साल का हो जाता है तब वह वही रहता है या दूसरा हो जाता है? उत्तर मिला था कि न हम यही कह सकते हैं कि वही है और न यही कह सकते हैं कि अन्य है। वह भी है और नहीं है और अन्य भी है और नही है। दार्शनिक ढंग से यही उत्तर भाषा के बारे मे भी दिया जा सकता है।

छठा अध्याय

विकास का मूल कारण

पिछले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि ससार की प्रत्येक अन्य वस्तु की तरह भाषा का भी निरंतर विकास होता रहता है, यह विकास ही सृष्टि के हर पदार्थ का नियम है। यह विकास गति और स्थिति के विचित्र समिश्रण के रूप में प्रकट होता है। भाषा-विज्ञानियों ने इस विकास के मूल करण को ढूँढने का प्रयत्न किया है और इस सबंध में विविध विद्वानों के विविध मत हैं। सामान्य रूप से चार वाद उपस्थित किए जाते हैं।

पहला वाद

शारीरिक विभिन्नता—प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शरीर के संस्थान की दृष्टि से भिन्न है, उसके उच्चारण के अवयवों की नाप तथा उसके मस्तिष्क की गुरुता दूसरे के अवयवों और मस्तिष्क से भिन्न है। जो शरीर विशालकाय जर्मन का है वह जापानी का नहीं, और जो मस्तिष्क आर्य ब्राह्मण के कंधे के ऊपर स्थित है वह पंचम जाति के अछूत का नही। इसी प्रकार इससे कम मात्रा में विभिन्नता एक ही जाति अथवा देश के विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाती है। परमेश्वर ने कोई दो व्यक्ति समान नहीं बनाए।

शरीर-भेद के कारण भाषा-भेद होता है, यह वाद परीक्षा करने पर युक्ति-सगत नही जँचता। हमारे रोज के अनुभव की बात है कि एक ही समुदाय मे बड़े कद के भी आदमी होते हैं और छोटे भी, मोटे भी और दुबले-पतले भी, बड़े सिर वाले भी, और छोटे सिर के भी, लबे सिर वाले भी और गोल सिर वाले भी, पर इनके कारण समुदाय की भाषा मे विभिन्नता नहीं आती। इसी बात को और संकुचित और सुश्लिष्ट क्षेत्र—(परिवार) मे जाँचे तो वहाँ भी यही परिणाम पाएँगे। ससर्ग का भेद न होने पर, कन्नौज के ब्राह्मण से अपनी उत्पत्ति बताने वाला बगाली ब्राह्मण और सीधे हजरत मुहम्मद के खानदान से सिल-सिला जोड़ने वाला बगाली मुसलमान बगाल के किसी गाँव में पैदा होकर और जन्म बिता कर एक ही बोली बोलता दिखाई देता है। जो महाराष्ट्र के

ब्राह्मण कुमायूं में जा कर दो सौ वर्ष पहले बस गए थे उनके वंशज उतनी ही शुद्ध कुमाउनी बोलते हैं जितनी कि वहाँ बहुत पहले से रहने वाली क्षत्रिय अथवा डोम की संतान। गढवाल में कई पीढ़ी पूर्व आकर बसा हुआ चीनी परिवार उतनी ही सुंदर गढवाली का प्रयोग करता है जितनी कि कोई अन्य गढ़वाली। कोई-कोई हिंदुस्तानी परिवार विलायत में जा कर बस गए हैं और उनके बच्चे वहाँ शुद्ध अँगरेजी बोलते हैं। इसी प्रकार कोई-कोई हिंदुस्तानी अँगरेज़ी मेमें ब्याह कर ले आते हैं। इनके बच्चे भाषा की दृष्टि से पूर्णरूप से परिवार में खप जाते हैं। फिर शारीरिक भेद पर भाषा-भेद की निर्भरता कहाँ रही?

दूसरा वाद

भूगोलिक विभिन्नता—कुछ विद्वानों का मत है कि भूगोलिक परिस्थिति के अनुसार भाषा में विभिन्नता आ जाती है। पहाड़ आदि ठंढे प्रदेशों के निवासी जाड़े के कारण उतना मुँह नहीं खोल सकते जितना कि मैदान वाले अथवा रेगिस्तान वाले मुँह ढके रहते हैं। इन कारणों से एक प्रकार की भूगोलिक स्थिति वाले प्रदेश की भाषा दूसरे प्रदेश की भाषा से भिन्न होती है। यही भाषा-विभेद का कारण है।

यह वाद भी तर्क कसौटी पर खरा नहीं उतरता। एक बार जब भाषा प्रवाह में आ गई तो भूगोलिक परिस्थिति उसके बनाने या बिगाड़ने में सहायक या बाधक नहीं होती। और जो युक्ति इस वाद के पक्ष में दी जाती है वह इसके विपरीत बैठ सकती है। पहाड़ों और रेगिस्तानों के निवासी जलवायु की असुविधा के कारण ही तो ज्यादा मजबूत होते हैं, कठिन परिश्रम के आदी होते हैं, फिर उन्हें मुँह खोलकर स्पष्ट उच्चारण करने में क्या दिक्कत होनी चाहिए? और मैदानों के आदमी सुगम जलवायु के कारण शिथिल भी रहते हैं। जरूरी न होने के कारण कठिन मेहनत भी नहीं कर पाते। फिर मुँह खोलकर वे स्पष्ट उच्चारण क्यों करें? वर्तमान भाषाओं की समीक्षा से भी यह परिणाम नहीं निकलता कि पहाड़ी अथवा रेगिस्तानी प्रदेशों की भाषा में और मैदानों की भाषा में, स्पष्टता अस्पष्टता आदि का कोई भेद है।

तीसरा वाद

जातीय मानसिक अवस्था-भेद—कुछ लोगों का विचार है कि किसी किसी जाति (अथवा राष्ट्र) की मानसिक अवस्था दूसरी जाति अथवा राष्ट्र की

मानसिक अवस्था से ऊँची या नीची होती है और, इसी कारण भाषा में भेद उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वानों का मत है कि उनकी भाषा में एक सौष्ठव और गति है जो अँगरेजी आदि भाषाओं में नहीं है और उनकी राय से भाषा का यह सौष्ठव और यह गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्ठव के कारण हैं। इसी प्रकार फ्रेंच भाषा में एक अद्भुत लालित्य है जो उस जाति की ललित मानसिक अवस्था का परिचायक है। इसी तरह कोई कह सकता है कि बंगाली भाषा मे दुरूह संयुक्त व्यंजनों तथा मूर्धन्य व्यंजनों के अभाव से जो माधुर्य आता है वह उनके सौन्दर्यानुभव और स्त्रीत्व के प्रभाव से तथा भाषा की द्रुतगति उनके तेज दिमाग़ के कारण है। और मद्रासी जो खटाखट कठिन से कठिन मूर्धन्य व्यंजन जल्दी जल्दी बोलता जाता है वह उसकी इस मानसिक अवस्था का परिचायक है कि वह विषम जलवायु की परिस्थिति में भी अपना काम सुगमता और खूबी से कर सकता है।

कोई भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक द्रुत गति से विकसित होती है, इसमें मूल कारण संगठन की शिथिलता, और सुश्लिष्टता की कमी ही होती है, किसी जाति की मानसिक अवस्था की उच्चता या नीचता नहीं। ऐसा देखा गया है कि यदि किसी देश में कई साल तक युद्ध जारी रहे जिसके कारण पुरुष अधिक संख्या में संग्राम मे जुटे रहे और स्त्रियाँ अन्यान्य व्यवसायों में, तो उस समय भाषा में परिवर्तन की गति द्रुत हो जाती है। इसका कारण यही है कि सीखने वाली, बच्चों की पीढ़ी पर यथेष्ट नियन्त्रण नहीं रह पाता और इस प्रकार संगठन की कमी आ जाती है। यह भी संभव है कि राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण, युद्ध न होने पर भी, स्वतन्त्रता और निरंकुशता की लहर युवक-वर्ग मे फैल जाय और अन्य क्षेत्रों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी फैल जाय, उस समय भी भाषा मे परिवर्तनों की गति के द्रुत होने की संभावना है, क्योंकि बच्चे और लड़के लड़कियाँ भाषा के संशोधनों की पर्वाह न करेंगे और अध्यापक तथा माता पिता खीज कर रह जायँगे। भाषा के प्रवाह मे द्रुत और विलम्बित गति रहती है और यह भी समझ मे आता है कि आपेक्षिक दृष्टि से किसी भाषा में दूसरे की अपेक्षा द्रुत या विलम्बित गति हो। पर इसका मूल कारण केवल जातीय मानसिक अवस्था को ही समझना ठीक नहीं मालूम होता। सौष्ठव, लालित्य और माधुर्य आदि गुणों की मर्यादा तो अपनी अपनी रुचि पर निर्भर है। जिस चीज को जर्मन अपनी भाषा का सौष्ठव कहता है उसी को अँग्रेज या फ्रेंच रूक्षता के नाम से पुकारता है। बंगाली, जिसको अपनी भाषा

की सुन्दरता कहता है उसी को पंजाबी जनानापन कह कर हँसी उड़ा सकता है। भारतीय संस्कृति वाले को संस्कृत के जो पद ललित और सुरस जान पड़ते हैं वही पद इसी देश के ऐसे निवासी को जो विदेशी संस्कृति के पालने पर झुलाया गया है, करीह नजर आते हैं। दसवीं सदी के महाकवि राजशेखर के मत से "संस्कृत की रचना रूक्ष और प्राकृत की सुकुमार है। पुरुष और महिला मे जितना अन्तर है उतना इन दोनों मे है" किन्तु आज जब हम प्राकृत की टवर्गध्वनि-प्रचुरता देखते हैं तब हमें कवि की इस उक्ति में सन्देह होने लगता है। फारसी की एक कहावत का अर्थ है—"फारसी मधुर भाषा है।" इस प्रकार हर एक को अपनी अपनी भाषा मे गुण और अन्यों की भाषा मे अपेक्षाकृत अवगुण दिखाई देते हैं और इस क्षेत्र मे भी हमे तुलसीदासकी यह अनुभूति याद आ जाती है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।

चौथा वाद

प्रयत्न-लाघव—मनुष्य का स्वभाव है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कम से कम प्रयत्न करे और यदि एक ही जगह पर पहुंचने के लिए दो मार्ग हों तो छोटी-मोटी बाधाओं की भी पर्वाह न कर छोटा और सीधा रास्ता ही पकड़े। पहाड़ पर रोज ही का अनुभव है कि चक्करदार चौड़ी सड़क को छोड़ कर ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर ही अधिक लोग चढ़ कर रास्ता और समय की बचत कर लेते हैं। फाटक पर 'आम रास्ता नहीं, का नोटिस मोटे अक्षरों मे टँगे होने पर भी यदि आप के बँगले से कहीं जाने का सीधा रास्ता मिलता है तो आपकी नजर बचा कर लोग आपके बँगले में हो कर जाने की अनधिकार चेष्टा करेंगे ही। और गाँवों में मेढ़ मेढ़ न चल कर बोए हुए खेतों को रौंद कर जाने वालों की शिकायत और ऊपर से गाली-गलौज की बौछार हुआ ही करती है। कुली को छः पैसे की जगह अगर चार ही पैसे देने पर वह चला जाय तो कौन समझदार आदमी दो पैसे की बचत कर लेना न चाहेगा ? केवल परीक्षा में पास हो जाने को ही अपना परम लक्ष्य रखने वाले विद्यार्थी को महत्व के ही अंशों पर निर्भर रहने और ग्रंथों के शेष अंश छोड़जाने से कौन अध्यापक रोक सकता है ? इस प्रकार जिधर भी निगाह डाली जाय हमें मनुष्य के कार्यों में प्रयत्न की बचत करने का सिद्धांत मनोवृत्ति में अंतर्निहित दिखाई देता है। यही सिद्धांत भाषा के परिवर्तनों के मूल में भी हो सकता है।

प्रयत्न लाघव का यह सिद्धात तरह-तरह से भाषा मे काम करता हुआ दिखाई देता है। और कहीं एक चीज मे प्रयत्न लाघव कर के दूसरी मे प्रयत्न-वृद्धि से ही सुविधा मालूम होती है। सुविधा ही प्रयत्न-लाघव की जड़ है।

भाषा के वे अश जो बहुधा प्रयोग में आते हैं उनका मूल अश तो रह जाता है किन्तु शरीर विकल हो जाता है। अभिवादन के शब्द, व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम, बहुव्यवहृत अव्यय इत्यादि मे काफी विकार होने पर भी मूल स्थित रहता है। इसका कारण यही है कि बहुव्यवहार के कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क मे निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनको अशरूप से बोलने से ही काम चल जाता है। शास्त्र मे दंडवत् प्रणिपात करके गुरु को अभिवादन करने का विधान दिया है और अनुमान है कि रघुवश के निर्माता के काल में ऐसी प्रथा भी थी। धीरे-धीरे सारी देह को जमीन पर न टिका कर केवल दोनों हाथों को जोड़ कर टिकाने का प्रयत्न-लाघव किया गया। इस के लिए शरीर को झुकाना तो पड़ता ही था। फिर जमीन तक हाथों को न ले जाने की प्रथा चल पड़ी होगी। यह प्रयत्न-लाघव की दूसरी अवस्था आई। और तीसरी अवस्था थी अपने सिर को थोड़ा झुका कर अजलि उस पर टेक देना। और अब गुरु के अभिवादन की चरम सीमा बिना शरीर का कोई भी अवयव झुकाए हाथ जोड़ देना, और कभी-कभी ये हाथ मस्तक के ठीक सामने न आकर दाए कधे के सामने ही दिखाई पड़ते हैं जिससे दडवत् प्रणिपात की तो नही हाँ दंडवत् प्रहार की मुद्रा की आशका होती है। इसी प्रकार बंदगी करने का पुराना ढंग यह था कि शरीर को काफ़ी झुका कर दाहिने हाथ को अपने मस्तक पर ले जाकर अर्ज करना और इसकी चरम सीमा आज यह है कि हाथ (कभी कभी बाया भी) मस्तक तक जाता है जिस से यह आशंका होती है कि मस्तक पर बैठी हुई मक्खी को उड़ा देने का उद्योग तो नहीं है। इसी प्रकार भाषा के भी प्रयत्न-लाघव के उदाहरण दिए जा सकते हैं। कुछ ये हैं—

अपरं>अवरं>अउरं>और>औ>अ

ततः>तओ>तउ>त

खलु>खु>हु>उ

साहब>साब

जय रामजी की>जय राम>जे रम

हुज़ूर>जुर

बाबू>बाउ

बाप साहब>बा साब; मास्टर साहब>माट साब>मास्साब

भाई>भइ

धीरेन्द्र>धीरेन, रामेश्वर>रमेसुर, गोपीकृष्ण>गोपी; कृष्णमान सिंह>कृष्ण आदि। अथवा *हीराबल्लभ दादा>हिरदा; पद्मादत्त दादा> पद्दा, सुवीरा>सुइरा, बड़ी जिज्जी>बडी जी।*

अस्ति>अत्थि>आथि

आच्छेति>आछइ>आछे>आहि>हइ>है।

वर्तते>वट्टइ>वाटइ>बा।

त्वया>तुए>तुइ, तू

मया>मए>मइ, मैं

बलाघात और भावातिरेक से भी भाषा में परिवर्तन होता है और इसके मूल में भी सुविधाजन्य प्रयत्न-लाघव है। बलाघात के समय हम किसी विशेष अक्षर पर अधिक प्राणशक्ति खर्च कर देते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि उस अक्षर का अस्तित्व तो दृढतर हो जाता है पर पास-पड़ोस के अक्षर कमजोर पड़ जाते हैं और एक आध उन में से ग़ायब भी हो जायं तो अचरज नहीं। प्राचीन *अलाबु* शब्द के वर्तमान दो रूप *आलू* (मालवी) और *लौकी* (हिन्दी) मिलते हैं। इनमें *आलू* उस प्राकृत से आया हुआ रूप है जिस में बलाघात प्रथम अक्षर पर था और *लौ* (*की*) उसका जिसमें बलाघात उपधा के अक्षर पर था। इसी प्रकार भावातिरेक में भी भाषा में परिवर्तन आ जाता है। बच्चे के *पाव* को दुलार में *पइँया* और *गाल* को *गल्लू* कहने लगते हैं। ब्रजनारी की *बाँह* का *बँहिया* रूप मोहक।मोहन के अतिशय प्रेमी का ही द्योतक हो सकता है। इसी प्रकार गुस्से में *रामेश्वर* का *रमसुरा* हो जाना अथवा *कल्लू* का *कलुआ* हो जाना स्वाभाविक है। अतिशय प्रेमातिरेक में भी मनुष्य अपने स्निग्ध जनों के नाम बिगाड (!) कर बोलता है—बहू का *बहुरिया*, *ननद* का *ननँदिया* या *भौजाई* का *भौजइया* रूप स्नेह का सूचक है। कभी-कभी जोर देने के लिए स्वर अथवा व्यञ्जन की मात्रा दीर्घ हो जाती है—*नद्दी* (नदी), *बब्बू* (बाबू) आदि उदाहरण हैं। इन्हीं में से एकाध कारण शब्दों के वर्धित रूपों के मूल में है—संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों में संज्ञाओं को बढ़ा कर बोला जाता है यथा; *लोटवा*, *घोड़वा*; *कुतवा-कुतउना*, *सुअना* आदि।

दिल्ली की तरफ *है* की जगह *हैगा*, *है* की जगह *हैगे* का प्रयोग भी जोर देने की भाषा का उदाहरण है।

बड़े-बड़े शब्दों के पूरे रूप का उच्चारण न करके उनके आदि के अक्षरों का अथवा समस्त शब्द के प्रथम पद को ही बोल कर काम निकालना भी प्रयत्न-लाघव के सिद्धांत का ही उदाहरण है। *इक्का* (*-गाड़ी*), *कापी* (*-बुक*), *ब्लाटिंग* (*-पेपर*), *जोड़ी* (घोड़ों आदि की), *मोटर* (*कार*) तथा *वी० सी०* (*वाइसचैंसलर*), *डी० सी०* (*डिप्टी कमिश्नर*), *सुदि* (*शुक्ल दिवस*—शुक्ल पक्ष का दिन अर्थात् तिथि), *बदि* (बहुल-कृष्ण दिन, कृष्णपक्ष का दिन अर्थात् तिथि) आदि तथा अंग्रेजी *एन्० सी० ओ०*, *एस० डी० ओ०*, *एस० ओ०* आदि इसके उदाहरण हैं। शब्दों या शब्दसमूहों को प्रयत्न-लाघव के लिए छोटा कर के बोलने के कुछ विलक्षण परिणाम हो जाते हैं। गली में "*लेउ साग बथुई का*" यह आवाज सुन कर हम बेचने वाले को "*ए बथुई*" कह कर बुलाते हैं। *जानकी* (*प्रसाद*), *लक्ष्मी* (*शंकर*), *शारदा* (*प्रसाद*) आदि पुरुष प्रयत्न लाघव से *जानकी* आदि कहे जाते हैं, और *इन्दु* (*मती*), *इन्द्र* (*-राणी*) आदि स्त्रियां इन्दु आदि। *फैजाबाद आई*, *बनारस गई*, *लखनऊ जाई* आदि में विशेष प्रयत्न लाघव दिखाई पड़ता है और इन पुलिंग नगरवाची शब्दों से स्टेशनों पर इन नगरों को आने जाने वाली गाडियों का बोध होता है।

बोलते समय प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से मन बहुधा आगे की ध्वनियों पर दौड़ जाता है और इसके कारण तरह तरह के ध्वनि-विपर्यय भाषा में आ जाते हैं। सामान्य रीति से नीचे लिखे प्रकार के परिवर्तन देखे गए हैं।

(१) **परस्पर-विनिमय**—जिन पदों में *स्* , *र्* या *ल्* की ध्वनि रहती है उनमें विशेष रूप से यह देखा गया है। यह विनिमय कभी दो ध्वनियों में ही होता है और कभी सम्पूर्ण अक्षरों में। और यह परिवर्तन पहले-पहल बच्चों और अज्ञों की बोली से आरम्भ होता है और नियंत्रण न होने पर टिक जाता है। हिन्दी के *नखलऊ* (*लखनऊ*), *डूबना* (*बूड़ना*), *कुलफ़ी* (*कुफली*), *अरमूद* (*अमरूद*), *चिन्ह* (*चिह्न*), *मतबल* (*मतलब*), *नहाना*>*हनाना*, *तकुआ*>*कतुआ*, *बसक* (*बकस*), *जबेली* (*जलेबी*), और संस्कृत का *वल्मीक* (वैदिक *वम्री*, *वम्र*) तथा अंग्रेजी *थर्ड* (*थ्रिड*), *ऑस्क* (*ऑक्स*), *वॉस्प* (*वॉप्स*), अवे० *वफ्र* (सं० *वप्र*) फा० *वर्फ़* इसी के उदाहरण हैं। दो-तीन ध्वनियां यदि पास ही पास लगातार आवें तो

इस भूल की सभावना अधिक रहती है। बचपन में बहुधा *तो तचतइ तचत तौ तचिहै* आदि वाक्यों के उच्चारण का अभ्यास खिलवाड़ में ही भाषा की शुद्धि कायम रखने के लिये करा दिया जाता है।

(२) **ध्वनि-लोप या अक्षर-लोप**—जब दो समान ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान मे ही उनमे से एक का लोप हो जाता है, यथा सं० *जहि*< *जहीहि*, स० *मदुघ*<*मधुदुघ*, सं० *वृथा*<*वृत+था*, पा० *अप्पतिस्सवासो*< *अप्पतिस्सवासो*, अव० *बिलइया*< *बिलालिआ*< *विडालिका* तथा अं० *एहट्टीन*> *एट्टीन*; हिं० *बड़ी जिज्जी*> *बडिजी*; हिं० *छोटी जिज्जी*<*छोटी जी*।

(३) **समीकरण**—जब दो कुछ विभिन्न ध्वनिया पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनो सम हो जाती हैं। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—(क) मस्तिष्क एक ध्वनि पर जमा हुआ है और उसी समय आगे आने वाली ध्वनि का आभास आ गया तब पिछली ध्वनि ही आगे आने वाली ध्वनि को अपनी-सी कर लेती है, अथवा (ख) जब मस्तिष्क एक ध्वनि पर आधा ही ठहरा था तभी अगली ध्वनि आ धमकी और उसने पिछली ध्वनि को सम कर लिया। इस प्रकार जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती के समान हो जाय तो उसे पुरोगामी समीकरण और जब पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती के समान हो जाय तो उसे पश्चगामी समीकरण कहते हैं। किसी शब्द मे इन दो समीकरणों में से कौन-सा होगा यह बात प्रायः सदा ही उन दोनों ध्वनियों के आपेक्षिक बल पर निर्भर होती है और बलवती ध्वनि सदा निर्बल को दबा देती है। उदाहरणार्थ—

(क) **पुरोगामी**—स० *लग्न*>प्रा० *लग्ग*, *स्तृणोति* (*स्तृ+नोति*), *दष्टम्* (*दश+तम्*), स० *यस्य*>प्रा० *जस्स*, सं० *निषण्णः*>प्रा० *निसिन्नो*।

(ख) **पश्चगामी**—स० *भक्त*>प्रा० *भत्त*, स० *सप*>प्रा० *सप्प*, सं० *वल्कल*>प्रा० *वक्कल*, सं० *चतुष्क*>प्रा० *चउक्क*, स० *दुग्ध*>प्रा० *दुद्ध*, स० *असूया*>प्रा० *उसूया*, स० *इक्षु*>प्रा० *उक्खु*, हिं० *मार डाला*> *माड्डाला*, हिं० *चोर ले गया*>*चोल्ले गया*, हिं० *ऊँगली*<*उँगुली*<स० *अंगुलि*।

उच्चारण की सुविधा को दृष्टि से और कई प्रकार के प्रयत्न-लाघव देखे गये हैं। जब हम कोई उच्चारण क्रम से करते हैं और उस क्रम में बीच में कोई अवयव विषम बैठता है तब उसको भी क्रम में सम कर लेने की प्रवृत्ति

होतीं है, यथा गिनती गिनते समय *तेंतालीस* और *पैतालीस* के बीच के विषम *चौआलीस* का *चौतालीस* हो जाना, अथवा *तिरपन* और *पचपन* के बीच *चौअन* का *चौपन* हो जाना समझ मे आता है।

(४) **विपमीकरण**—कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियो के उच्चारण मे असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा स० *पक्व*>प्रा० *पिक*, स० *मुकुट*>प्रा० *मउड* हिं० *मौर*, सं० *मुकुल*>प्रा० *मउल*>हिं० *बौर*; *श्रथ* धातु से सं० शब्द *श्रिथिर* बनना चाहिए पर उससे **श्रिथिल* के द्वारा *शिथिल* हुआ, स० *अष्टमी*> हिं० *अट्टिमी*।

(५) **स्वर भक्ति** सयुक्ताक्षरो के बोलने म विशेष प्रयत्नशील रहने की जरूरत होती है। इस असुविधा को हटाने के लिए मन अपने आप उस संयोग को,बीच में और कोई ध्वनि लाकर, दूर कर देता है और दो व्यंजनो के सयोग को दूर करने के लिए एक छोटा-सा स्वर ला धरता है। सस्कृत से प्राकृतों मे विकास होते समय इस प्रवृत्ति के बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं, सं०*रत्न*>प्रा० *रदण*, सं० *कृष्ण*> प्रा० *कसण*, इसी प्रकार *भक्त*> *भगत*, *इन्द्र*> *इन्दर*, *प्रसाद*> *परसाद*। सस्कृत शब्दों का पजाबी लोगो के मुख से उच्चारण आज भी इसके बहुत से उदाहरण उपस्थित करता है। इस प्रकार दो व्यजनो के बीच स्वर रख देने को **स्वरभक्त** कहते हैं। दो सयुक्त ध्वनियों के बीच में स्वर ही नहीं, कभी कभी व्यजन (बहुधा ह् या न्) भी ले आते हैं यथा हि० *तैरना* का उच्चारण *तहेरना*, प्रा० *वक्क*> हि० *बाका*, स० *दर्शन*> प्रा० *दस्सन*> प्रा० *दंसन*।

कभी-कभी दो स्वरो के बीच मे व्यजन रखने के उदाहरण भी प्राकृत मे मिलते हैं, यथा *अपस्सि उत्तिरणपदं*> *अपस्सिमुत्तिरणपदं*।

(६) **अग्रागम** बोलते समय आरम्भ मे ही कोई ऐसी ध्वनि आ जाती है या संयुक्ताक्षर आ जाता है जिसके उच्चारण में कठिनता मालूम होती है तब उस शब्द के पूर्व ही कोई स्वर अनजान ही आकर सहायता करता है। *स्त*, *स्त्र*, *स्न* आदि सयुक्ताक्षर प्राकृत काल से ही उच्चारण में दुख देते रहे हैं, इसी कारण प्राकृत का *इत्थी*<स० *स्त्री* मिलता है। आज भी *स्त्री*, *स्नान*, *स्कूल*, *स्टेशन* को हम *इस्त्री*, *अस्नान*, *इस्कूल*, *इस्टेशन* कहते हैं और पजाबी भाई स्वरभक्ति का सहारा लेकर *सनान*, *सकूल*, *सटेशन* बोलते हैं। र ध्वनि भी शब्द के आरभ मे कठिन प्रतीत होती है, इसीलिए कुछ लोगों के

उच्चारण में *राम* का *अराम* सुनाई देता है यद्यपि वे यही समझते हैं कि हम *राम* ही कह रहे हैं। सुविधा के प्रयोग को **अग्रागम** कहते हैं।

(७) **उभय संमिश्रण**—बोलते समय एक ही विचार के वाचक दो शब्द कभी-कभी एक साथ मस्तिष्क में उद्बोधित हो जाते हैं और परिणाम-स्वरूप दोनों के सम्मिश्रण से (जिसमें एक का अग्रांश और दूसरे का अतिमांश होता है) एक नया ही शब्द बन जाता है। प्राकृत *देक्ख्-*<*दिस्सइ* तथा *पेक्खइ* के मेल से, अव० *फिन* < *फिर* और *पुनि* के मेल से, पा० *दुवे* और *उभयं* से *दुभयं* आदि रूप उदाहरण हैं।

जिस प्रकार समानार्थक दो शब्दों के सम्मिश्रण से नया ही शब्द बन जाता है उसी प्रकार वाक्य में दो वैकल्पिक विन्यासों के कारण नया ही भ्रांत विन्यास हो जाता है। प्राकृत (बोलचाल की) भाषाओं में बहुधा इसके उदाहरण निकले हैं। सकर्मक, अकर्मक प्रयोगों तथा कर्तृवाच्य कर्मवाच्य आदि के व्यवहार में यह भूल अधिकांश में देखी जाती है। गलत परसर्ग के प्रयोग में भी यही बात मूल में है। उदाहरणार्थ—

पा० *तुम्हेहि खादितब्बाहारतो दव्वा खादेय्याथ* (ससजातक)।

हि० *हमने गए (हम गए), हम देखे (हमने देखा), हम लडकी तोरी (हमने लड़कियां तोडी)*।

(८) **स्थान-विपर्यय**—कभीकभी बोलने में ध्वनियों के स्थान में उलट-फेर हो जाता है जो प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है, जैसे, सं० *आश्चर्य*> प्रा० *अच्छेरं* सं० *कार्य*>*केर*। यहाँ-*अर्य* और *आर्य* में बीच में र था और इधर उधर *अ...य* तथा *आ.. य*। प्राकृत के नियम से *अय*>*ए* और *आय*>*अय*>*ए* बदल गए और र् उनके बाद जा पडा।

विदेशी शब्दों के अंगीकार करने में जो परिवर्तन स्वाभाविक रीति से हो जाते हैं वे भी प्रयत्न-लाघव के कारण ही होते हैं। *ग़रीब*>*गरीब*, *सिग्नल*> *सिगल*, *प्वाइंट्‌ज़्मैन*> *पैटमन*, *वक्त*> *बखत*, *टाइम*> *टेम*, *गार्ड*> *गारद*, *हॉस्पिटल्*>*अस्पताल*, फा० *रास्ता*> अव० *रस्ता*, फा० *बस्ती*> अव० *बहत्ती* आदि इसी के उदाहरण हैं। हिंदू-विश्वविद्यालय का *आर्ट्स कालेज* इक्के-तांगे वालों के मुख से *आठ कालेज* हो गया और बाद को जो सायंस् कालेज बना उसका नाम उच्चारण की शुद्धता स्वरूप *आठ कालेज* के वजन पर *नौ कालेज* बन गया। प्रयाग में *युनिवर्सिटी* को प्रायः तांगे वाले *अनवरसिटी* कहते हैं। पूर्व काल के स्वदेशी शब्द भी परकाल में तत्कालीन

शब्दों के मेल-जोल में बदल से जाते हैं, अवध की अपढ गाने वालियों के मुख से *मंगलाचार* की जगह *मंगलाचारि* सुना गया है क्योंकि *चारि* (सख्यावाचक) शब्द पूर्व-परिचित था। प्रयाग मे कोई-कोई समझदार भिखमगे आशीर्वाद देते समय *'बाबू लाट कमंडल होइ जा'* कहते हैं। *कमंडल* शब्द स्पष्ट ही विदेशी कमाडर का स्वदेशी रूप है जिस से भिखारी पहले से ही परिचित है।

संस्कृत भाषा की सधियों के प्रायः सभी नियम सुविधा अर्थात् प्रयत्न-लाघव के द्वारा ही भाषा मे आए होंगे। हर भाषा के कोष मे थोडे-बहुत विदेशी शब्द पूर्ण रूप से घुली-मिली अवस्था मे रहते है।

सातवां अध्याय

ध्वनि यंत्र
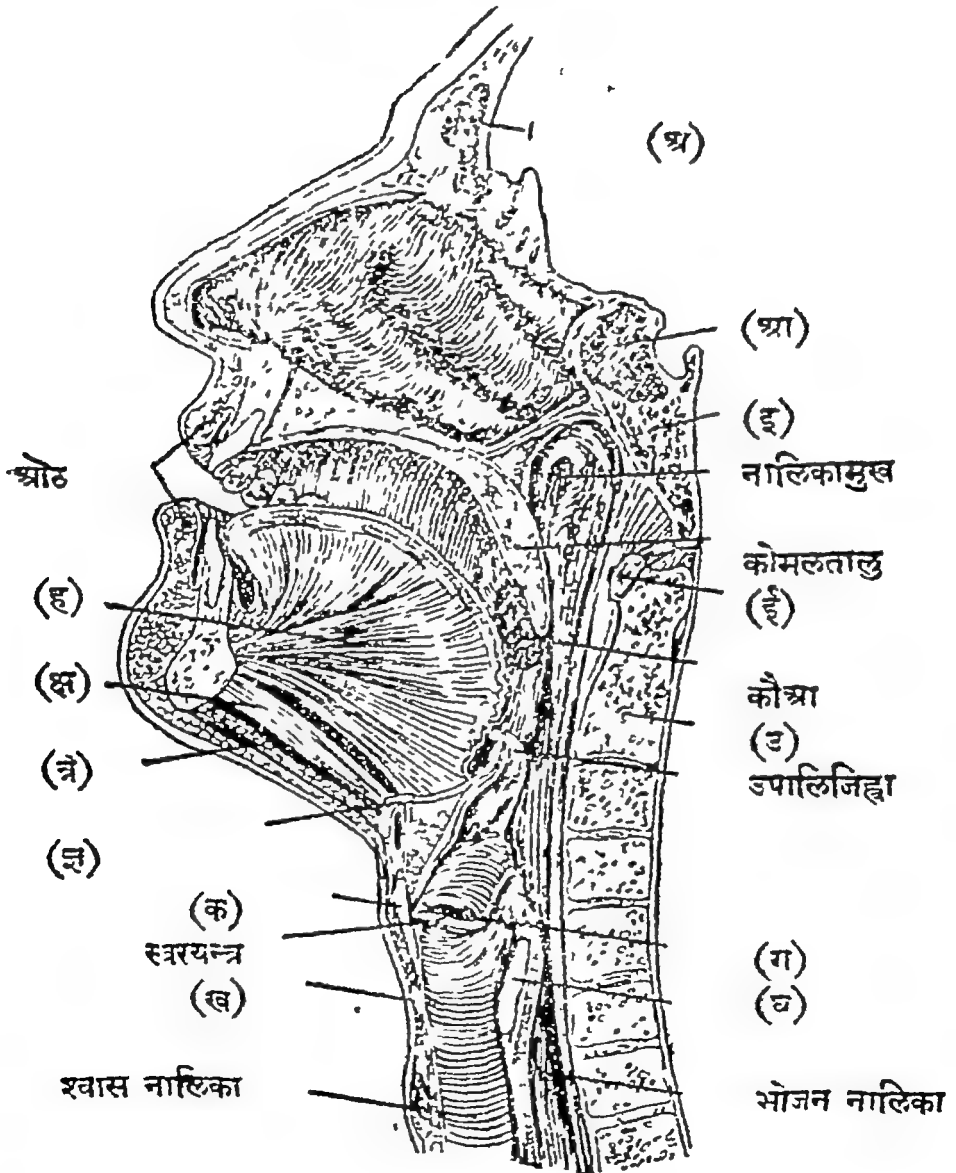
शरीर के जो अवयव बोलने के काम में लाए जाते हैं उनके समूह को ध्वनि-यंत्र कहते हैं। पर अवयवों के इस समूह का यह नाम विद्वानो ने केवल सुविधा की दृष्टि से ही रख छोड़ा है वस्तुतः यह नाम उचित नहीं, क्योंकि पशुओं के भी

ये अवयव होते हैं और उन्हीं की भाँति हम भी इन अंगों से, मुख्य रूप से, दूसरा ही काम लेते हैं। ध्वनियों का उच्चारण इनका गौण काम है। जैसे मुख्य रूप से अन्य काम के लिए बनी हुई उँगलियों से हम हारमोनियम, सितार आदि बजा लेते हैं उसी प्रकार इन अवयवों से ध्वनियों का भी उच्चारण कर लेते हैं।

मनुष्य जीवन भर निरंतर श्वास लेता और बाहर फेंकता रहता है, जिस श्वास को हम बाहर फेंकते हैं उसी की विचित्र विकृति से ध्वनियों की सृष्टि होती है। साँस लेने और फेंकने के लिए हमारे सीने में दो फेफड़े हैं जो धौंकनी का काम देते हैं और ये श्वास-नलियों द्वारा हमारे गले की श्वास नलिका से संबद्ध हैं। गले में श्वास नालिका के अलावा एक और नालिका है जिसके द्वारा खाना पानी आमाशय में पहुँचता रहता है और आमाशय, पक्वाशय, मलाशय में जो वायु बनती है वह अपान वायु होकर निकल जाती है और कभी-कभी ऊपर को भी डकार के रूप में आ जाती है। पर यह डकार भोजन नालिका से ही निकलती है, श्वास-नालिका से नहीं। श्वास-नालिका और भोजन-नालिका दोनों को अलग-अलग रखने के लिए बीच में एक मजबूत झिल्ली की दीवार है, पहली का संबंध श्वास-नलियों द्वारा फेफड़ों से है, दूसरी का आमाशय से, पहली आगे की ओर है, दूसरी पीछे की ओर। इन दोनों नालिकाओं का अलग-अलग काम है। श्वास-नालिका से जरा भी पानी या खाना अंदर नहीं पहुँचाया जा सकता। आदमी कभी-कभी यदि खाते पीते समय बोल या हँस पड़े तो पानी या पान आदि का कोई अंश श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से में पहुँच जाता है और तुरंत उच्छू और निरंतर खाँसी के द्वारा बाहर आ जाता है। यदि बाहर न आए और श्वास-नालिका में टिक जाय तो मनुष्य का जीवित रहना संदिग्ध हो जाता है। सुपारी का टुकड़ा एकाध बार श्वास-नलिका में पहुँचा नहीं कि कुछ ही क्षण में मौत आ गई।

श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से में स्वर-यंत्र है। स्वर-यंत्र स्वरतंत्रियों का समूह है। इसमें बहुत महीन-महीन तंत्रियाँ होती हैं, मनुष्य-निर्मित बढ़िया से बढ़िया और सूक्ष्म से सूक्ष्म बाजे के भी तारों से कई गुना महीन। ये तंत्रियाँ श्वास-नलिका के ऊपरी हिस्से के दो कोनों में आमने-सामने दो हिस्सों में बँटी हुई रहती हैं। आपेक्षिक दृष्टि से ये तार बच्चों के छोटे होते हैं और मनुष्य की शारीरिक वृद्धि के अनुपात से बढ़ते रहते हैं। तब भी पुरुष के स्वर-यंत्र के तार स्त्री के तारों से बड़े होते हैं। स्वर-तंत्रियाँ चार विभिन्न प्रकारों से स्थित रहती हैं—(१) दोनों समूह अलग-अलग निस्पंद पड़े रहते हैं और बीच से साँस आती

जाती रहती है, (२) दोनों समूह आकर वीणा के तारों की भांति आपस में टक्कर मारते हैं और गाने के स्वरों, ध्वनि के गुण सुर, अथवा ध्वनि के घोष की सृष्टि करते हैं, (३) दोनो समूह आपस मे जुट कर खड़े हो जाते हैं और श्वास के निकलने में पूरी तरह एक क्षण के लिए बाधा उपस्थित कर देते हैं और (४) दोनो समूह आकर जुट जाते हैं पर नीचे की ओर थोडा-सा भाग श्वास के आने-जाने के लिए छोड़ देते हैं। प्रथम अवस्था, जब हम साधारण रीति से सास लेते हैं या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं तब की है, दूसरी जब सघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, तीसरी जब हम स्वर-यंत्रोद्-भूत व्यंजन (हमजा) बोलना चाहते हैं, और चौथी फुसफुसाहट के समय की हैं। इस प्रकार ध्वन्यात्मक श्वास में विकृति पैदा करने वाला प्रथम अवयव स्वर-यत्र है। इस विकृति की स्थिति के काल के अनुसार घोष की मात्रा, प्रकार के अनुसार उदात्त आदि अथवा षड्ज आदि स्वर, तथा तारों के खिंचाव अथवा ढीलेपन के अनुसार तीव्रता उत्पन्न होती है।

श्वास-नालिका में विकृत हुई या अविकृत इस प्रकार की सास मुख-विवर या नासिका-विवर में आती है। इन विवरों की दीवारों मे, यदि स्वर-यंत्र द्वारा विकृत होकर आई है तो उसकी प्रतिध्वनि करने की सामर्थ्य होती है। मुख-विवर और नासिका-विवर दोनों को अलग-अलग रखने के लिए एक दीवार है जो अंदर की ओर कौवे (अलिजिह्व) से आरंभ होकर ऊपर के दातों मे समाप्त होती है—उधर से ही गिनने में इसके, कौवा, सुकुमार तालु, कठोर तालु, वर्त्सभाग (मसूड़े) तथा दात हैं और दातों के बाहरी भाग मे मसूड़ों के पास जुड़ा हुआ ऊपर का ओठ है। मुख-विवर की नीचे की दीवार जीभ है जिसको विवरण की सुविधा के लिए चार भाग (जिह्वामूल, पश्चभाग, अग्रभाग और नोक) मे विभाजित करते हैं। जिह्वा के नीचे एक विवर है जिसके नीचे की दीवार का अंतिम भाग मसूड़े और नीचे के दांत हैं और नीचे की दतपक्ति के बाहरी भाग मे जुड़ा हुआ नीचे का ओठ (अधर) है।

अलिजिह्व (कौवा) तीन अवस्थाए ग्रहण करता है—

(१) तन कर खड़ा हो जाता है (पट पड़ जाता है) और श्वास-नालिका और नासिका-विवर के परस्पर संबंध को बिल्कुल रोक देता है। परिणाम-स्वरूप सारी सांस मुख-विवर में ही आती है, नासिका-विवर मे नहीं जाने पाती।

(२) बिल्कुल ढीला, शिथिल, गिरा हुआ रहता है और इस प्रकार श्वास–

नालिका और मुख-विवर के संबंध को रोक रखता है। परिमाण-स्वरूप सारी सास नासिका विवर से ही आती जाती है।

(३) मध्यम अवस्था में रहता है जिसमें कुछ सास मुख विवर मे आती है और कुछ नासिका-विवर में।

साधारण रीति से जब हम सास लेते रहते हैं तब द्वितीय अवस्था होती है पर जब जुकाम के कारण नासिका-विवर बिल्कुल आच्छन्न रहता है और हम मुँह से सास लेते हैं तब पहली अवस्था होती है।

ध्वनियों की दृष्टि से, अनुस्वार के उच्चारण मे द्वितीय अवस्था, अनुनासिक व्यजनों और सानुनासिक स्वरों के उच्चारण में तृतीय अवस्था और शेष में प्रथम अवस्था होती है।

जीभ भी विविध अवस्थाए ग्रहण करती हैं। साधारण रीति से सास लेते समय वह ढीली पड़ी रहती है,बिल्कुल निष्पद, निष्क्रिय। कभी-कभी मुख-विवर में आई हुई सास को वह बाहर निकलने से रोकती तो नहीं, पर अपना कोई भाग थोड़ा बहुत उठा कर ऊपर (तालु)की दीवार और अपने बीच का रास्ता आपेक्षिक दृष्टि से सकुचित कर देती है (इस अवस्था में अकारादि स्वरों का उच्चारण होता है)। ऊपर की दीवार के किसी भाग का स्पर्श करके क्षण भर श्वास को रोक कर (क आदि) स्पर्श व्यजनों की सृष्टि करती है, अथवा ऊपर के किसी भाग से सघर्ष करके (जिसअवस्था में पूर्ण रूप से श्वास के निकलने का मार्ग बद भी नहीं रहता और बिल्कुल खुला भी नहीं रहता) (स् आदि) संघर्षी वर्णों की सृष्टि करती है। अथवा ऊपर काल की थोड़ी सी मात्रा के लिए स्पर्श द्वारा श्वास का निर्गम रोक कर फिर सघर्ष कर के (च्, ज् आदि) स्पर्शसघर्षी ध्वनिया बनाती हैं। कभी-कभी एक या दोनों पार्श्वों को ऊपर उठा कर और बीच मे खाली रह कर प्रोक्षणीपात्र की शकल ग्रहण कर(ल)पार्श्विक ध्वनि का सृजन करती है। अन्यत्र प्रोक्षणी के आकार के पत्ते की तरह ऊपर उठ कर (र् आदि) लोडित ध्वनि तथा इस प्रकार ऊपर उठकर और क्षणान्तर मे वह गिर कर (ड)उत्क्षिप्त ध्वनि बनाती है। जीभ की नोक नीचे के दांतों पर, ऊपर चिकने हिस्से पर, और ऊपर खुरखुरे हिस्से पर या इसके भी ऊपर मूर्द्धा-भाग (सुकुमार तालु और कठोर तालु के सधिस्थान) पर अपने निचले तल से स्पर्श, सघर्ष आदि कर सकती है। जीभ का पिछला भाग सुकुमार तालु से अथवा अलिजिह्व से सयोग में आ सकता है। इस प्रकार यह चञ्चल जिह्वा विविध अवस्थाए ग्रहण करके श्वास-नालिका से बाहर आती हुई सास

को तरह तरह से विकृत कर भाँति-भाँति की ध्वनियों की सृष्टि करने में सहायक होती है।

ओठ भी कई अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं। दोनों आपस में सट कर अंदर से आती हुई साँस को क्षण भर रोक कर ओष्ठ्य और दाँतों के स्पर्श से दंतोष्ठ्य स्पर्श व्यंजनों की सृष्टि कर देते हैं। दोनों आपस में संघर्ष करके अथवा दाँतों के संयोग में आकर संघर्ष करके ओष्ठ्य अथवा दंतोष्ठ्य संघर्षी ध्वनियाँ बनाते हैं। स्वरों के उच्चारण में दोनों मिलकर थोड़ी या बहुत गोलाकार शक्ल या कोनों की ओर फैल कर चौड़ाई ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हमारे ध्वनियंत्र में स्थानभेद और प्रयत्नभेद से अनंत ध्वनियों के उत्पादन की शक्ति है और प्रत्येक भाषा इन ध्वनियों की एक बहुत परिमित संख्या से ही अपना काम आसानी से चलाती है।

ध्वनि का लक्षण क्या है? आकाश में उत्पन्न विशेष लहरियों को जिन्हें मन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है उन्हें शास्त्रज्ञ शब्द कहते हैं और भाषाविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के ध्वनियंत्र से निःसृत शब्द को ध्वनि कहते हैं। ध्वनियंत्र से निकला यह शब्द ग्रामोफोन आदि यंत्रों में सुरक्षित रक्खा जा सकता है और आवश्यकता के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा बार-बार ग्रहण किया जा सकता है। पर उसके ध्वनि होने के लिए मनुष्य के ध्वनियंत्र से प्रथम निःसरण आवश्यक है।

ध्वनि की इस प्रकार तीन अवस्थाएँ हैं—उत्पत्ति, प्राप्ति और वाहन। प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं का अध्ययन ध्वनि-विज्ञानी करता है और तृतीय का भूत-विज्ञानी।

ध्वनियंत्र से निकली हुई ध्वनियों को, उच्चारण करने वाला आदमी अपने लिए नहीं बोलता बल्कि दूसरे के लिए। और सुनने वाले मनुष्य में उन ध्वनियों को ग्रहण कर तुरंत विचारधारा की सृष्टि हो जाती है और आवश्यकता के अनुसार वह प्रत्युत्तर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान ही उच्चारण का मुख्य ध्येय है और यह उच्चारण प्रेषक और प्रापक दोनों के बस में होना है।

ध्वनि का साधारण लक्षण ऊपर दिया गया है। मगर यदि और बारीकी से किसी विशेष ध्वनि का लक्षण करें तो प्रो॰ डेनियल जोंस के अनुसार "ध्वनि मनुष्य के विकल्प-परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रे-

न्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है।" मनुष्य कोई भी ध्वनि नियत रूप से एक ही स्थान और प्रयत्न की नही बोलता। *का, को, कू* इन तीनो क् के उच्चारण में स्थान-भेद सभव है। *काका* के प्रथम और द्वितीय *आ* मे मात्राभेद सभव है। इस प्रकार हम लोग वाक्य की अन्य ध्वनियों के बीच मे आपेक्षिक दृष्टि से स्थान के अनुसार तरह तरह की *क, ख्, ग्,* अथवा *अ, आ, इ* आदि ध्वनियो का उच्चारण करते हैं। व्यवहार की दृष्टि से हम इनको अलग-अलग ध्वनियाँ नहीं मानते। *का की कू,* इन सब के क को हम क् ध्वनि समझते हैं। विज्ञान की दृष्टि से इन्हे ध्वनि न कह कर ध्वनि-ग्राम कहना चाहिए।

ध्वनिग्राम मे स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से प्रायः एकरूप कई ध्वनियाँ (यथा *का, की, कू* के आदि के *क्, मकर, वल्कल, चतुष्क,पक्का* आदि के मध्य के *क्, वाक्, धिक्* आदि के अन्त के क्) समूह रूप से होती हैं और इनमें कोई ध्वनि जो उस भाषा मे अधिक व्यवहार में आती है मुख्य सत्ता रखती है। प्रत्येक भाषा मे इन ध्वनिग्रामो की सख्या परिमित होती है। जहाँ ध्वनियों के विषय मे सूक्ष्म विवेचन नहीं किया जाता, वहाँ ध्वनि शब्द से तत्सबधी ध्वनिग्राम का ही अभिप्राय समझना चाहिए।

नोट—ध्वनियन्त्र का ऊपर दिया चित्र सर्वश्री पिल्जबरी व मीडर की पुस्तक द साइकोलाजी आव् लैंग्वेज (The Psychology of Langvage) से लिया गया है। उसमे (क), (ख), (ग), (घ) स्वर-यन्त्रपिटक को सहारा देने की चार कोमल अस्थियाँ हैं। (च), (त्र),(ज्ञ) ठुड्डी और जिह्वा के पास की हड्डियाँ हैं। (ह) जीभके नीचे और ठुड्डी के ऊपर का विवर है। (अ), (आ) नाडियों के स्थान हैं। (इ) खोपड़ी के नीचे भाग की हड्डी है। (ई) खोपडी को सहारा देने वाली, गर्दन की रीढ़ का सबसे ऊपर का भाग है। (उ) गर्दन का केन्द्र भाग है। स्वरयन्त्र-पिटक से लेकर ऊपर नासिका-विवर के पास तक के श्वासनालिका के भाग को उपरिनालिका कहते हैं। इसी नालिका के आगे निकले हुए भाग, कमरे से, मुख-विवर और नासिका-विवर हैं।

आठवाँ अध्याय

ध्वनियों का वर्गीकरण

पिछले अध्याय मे ध्वनियों के उच्चारण के उपयोग में आने वाले अवयवों का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि भीतर से जो साँस बाहर की ओर श्वासनालिका से होकर आती है, उसी में स्वरयन्त्र या मुख-विवर या नासिका-विवर आदि मे कुछ रोक-थाम, विकार आदि उत्पन्न किए जाने से, ध्वनियाँ पैदा होती हैं। यह भी बताया गया है कि इन ध्वनियों की गिनती नहीं की जा सकती। हर एक भाषा अपनी जरूरत के अनुसार इनकी परिमित संख्या का इस्तेमाल करती है। ध्वनियों का वर्गीकरण दो बातों पर निर्भर है—स्थान और प्रयत्न। अन्दर से आती हुई **साँस** को जिस जगह विकृत करते हैं उसी को उस ध्वनि का **स्थान** कहते हैं। यथा अन्दर से आती हुई साँस को यदि दाँतो के पास विकृत करे तो ध्वनि दन्त्य कहलाएगी। त् और स् दन्त्य ध्वनियाँ हैं क्योंकि भीतर से आनेवाली साँस को जीभ की नोक ने उठ कर और दाँतों के पास पहुँच कर रोक दिया, अबाध गति से बाहर नहीं निकल जाने दिया। इस रोक-थाम, विकार के लाने मे हमे जो काम करना पड़ता है उसको **प्रयत्न** कहते हैं। त् और स् दोनों दन्त्य हैं, पर त् स्पर्श ध्वनि है क्योंकि जीभ ने केवल थोड़ी देर के लिए दाँतो को छूआ, लेकिन स् संघर्षी ध्वनि है क्योंकि इसके बोलने में जीभ थोड़ी देर तक दाँतों पर संघर्षण करती रही। नीचे लिखे विवरण में स्थान और प्रयत्न का यह महत्त्व विशेष ध्यान से समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ध्वनियों के प्रायः दो वर्ग किए जाते हैं—**स्वर** और **व्यंजन**। और स्वर से तात्पर्य समझा जाता है उस ध्वनि से जो स्वतः बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बोली जा सके और अक्षर बनाने की सामर्थ्य रखती हो, तथा व्यंजन वह ध्वनि है जिसका स्वतः उच्चारण न हो सके और स्वयं स्वर की मदद के बिना अक्षर न बना सके। स्वर और व्यंजन के ये लक्षण भी प्राचीन काल से व्याकरणों में चले आए हैं।

ध्वनि-विज्ञान के आधुनिक अनुसंधान से पता चलता है कि स्वर और व्यंजन

के ये लक्षण सर्वांश मे ठीक नहीं। व्यंजन का भी स्वतः, बिना किसी स्वर की सहायता के, उच्चारण संभव है, यह प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है। स, ल् आदि अकेली ध्वनियों को यदि हम सावधानी से बोलें तो बिना स्वर की किंचित् भी मात्रा लाए इन्हें बोल सकते हैं, यह और बात है कि इन अकेली ध्वनियों का कोई अभिप्राय न हो। और संयुक्त व्यंजन अक्षर भी बना सकते हैं, यथा अँगरेजी के गॉ-ड्न् (garden) और बॉ-ट्ल् (bottle) शब्दों के द्वितीय अक्षर (ड्न् और ट्ल्) मे कोई स्वर नहीं है तब भी वे अक्षर बन गए हैं। इनमें न् और ल् वर्णों ने अक्षर बनाने मे सहायता दी है।

पिछले अध्याय मे स्वर-यन्त्र के व्यापार का ब्यौरा देते समय बताया गया है कि जब इसके तार, वीणा के तारों की तरह आपस मे टक्कर मारकर भीतर से आती हुई सांस को विकृत करते हैं तब घोष उत्पन्न होता है। सभी स्वरों में यह घोष मौजूद रहता है। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार **स्वर** वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास-नालिका से आती हुई श्वास धारा-प्रवाह से अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख-विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किञ्चिन्मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। आँ, ईं, ऍं आदि सानुनासिक स्वरों मे सांस की कुछ मात्रा नासिका-विवर से भी अबाध गति से निकलती रहती है। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियां व्यंजन हैं। **व्यंजन** वह सघोष या अघोष ध्वनि है जिसके मुख-विवर से निकलने मे पूर्ण रूप से अथवा कुछ मात्रा में बाधा उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वर और व्यंजन के बीच का स्थूल भेदक लक्षण श्वास की गति का अबाध या सबाध होना है। किन्हीं-किन्हीं व्यंजनों में और उनके तद्रूप स्वरों मे भेद की भित्ति बहुत अल्प है। वैदिक पूर्व प्राथमिक आर्य भाषा मे छः अंतस्थ (बीच की) ध्वनियां थीं जो शब्द मे अपने स्थान के अनुसार ही स्वर या व्यंजन की संज्ञा पाती थीं। उस समय व्यंजन रूप में ये य्, र्, ल्, व, म्, न् थी और स्वर रूप मे इ, ऋ, ऌ, उ तथा स्वर न̥ और म̥ थीं। यह प्राथमिक आर्य भाषा, आर्य प्राचीनतम भाषाओं, वैदिक, ईरानी, लैटिन, ग्रीक आदि की जननी है, इसका विवरण आगे दिया जायगा। वैदिक तथा उत्तरकालीन संस्कृत मे अन्तिम दो स्वर (म̥ और न̥) विलुप्त हो गए और इनके स्थान पर अ का आदेश हो गया, उदाहरणार्थ गम् और मन् धातुओं के क्त प्रत्ययांत रूप गत (ग+अ +त्+अ) और मत (म्+अ+त्+अ) बनते हैं पर होने चाहिए थे (ग्+म̥ +त्+अ) और (म्+न̥ +त्+अ)। इन स्वर म̥ और न̥ की

ध्वनि सभवतः उन म् और न् स्वरों की-सी रही होगी जो अंगरेजी आदि भाषाओं में गॉड्न् आदि शब्दों मे आज कल भी स्वर का काम देते हैं। संस्कृत के बाक़ी चार अन्तःस्थ स्वरों मे से भी ऌ और कुछ समय बाद ॠ का भी लोप हो गया। ऌ और ॠ का क्या स्वरूप था, इसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। संभव है ऌ अँगरेजी के बॉट्ल् आदि शब्दों मे प्रयुक्त ल् के ढंग की कोई ध्वनि रही हो। य् और व् व्यंजन रूप मे बहुत कमजोर पड़ गईं। साराश यह कि वाक्य की ध्वनियों मे कुछ का स्वरत्व या व्यंजनत्व वाक्य की ध्वनियो में उनके विशेष स्थान पर ही निर्भर है।

स्वरों के उच्चारण मे जीभ का कोई न कोई भाग थोड़ा या बहुत ऊपर को उठता है और इस भाग के नाम के अनुसार स्वरों में **अग्र**, **मध्य** और **पश्च** का भेद किया जाता है। फिर श्वास के निकलने के लिए मुख आपेक्षिक दृष्टि से बहुत या कम खुलता है, इस दृष्टि से स्वरों की संज्ञा **विवृत** (पूरा खुला हुआ), **अर्धविवृत** (अधखुला), **अर्धसंवृत** (आधा बन्द), तथा **संवृत** (पूरा बन्द) होती है। ध्वनि-विज्ञान मे चार अग्र स्वर और चार पश्च स्वर मूलरूप माने गए हैं—
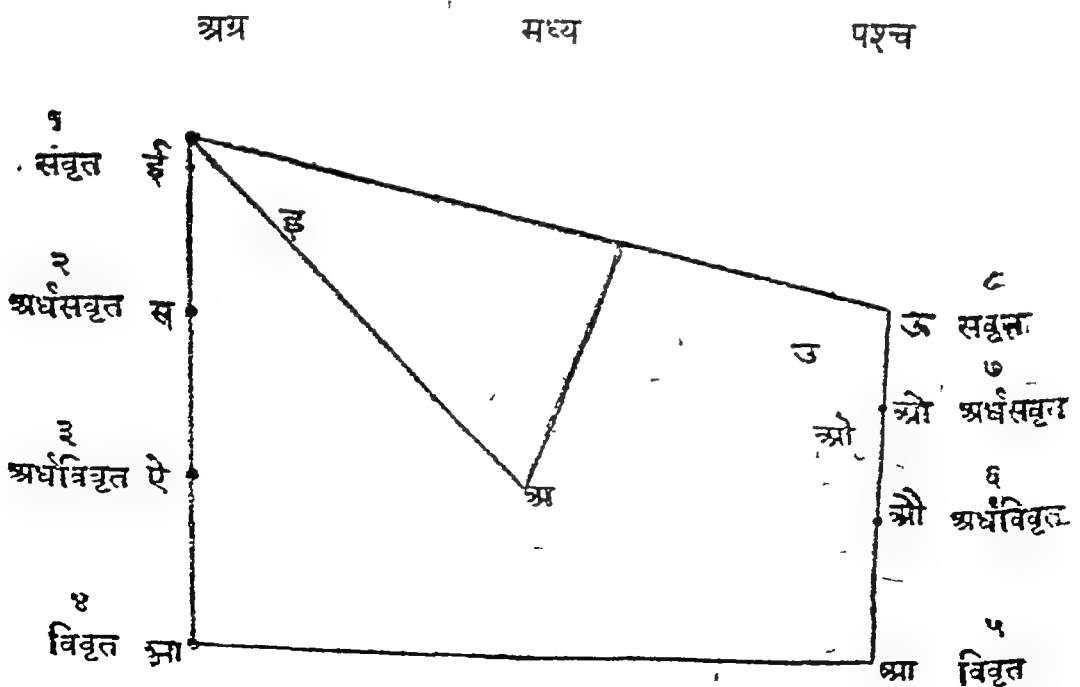
संवृत (१ और ८) उच्चारण की वह आदर्श अवस्था है जिसमें जिह्वा का अग्र भाग ऊँचे से ऊँचा उठ सकता है और स्वरत्व क़ायम रहता है, इससे ज़रा

भी ऊँचा उठा कि स्पर्श या संघर्ष उत्पन्न होकर व्यंजन प्राप्त हो जायगा। **विवृत** (४ और ५) उच्चारण की वह अवस्था है जिसमें मुख-विवर अधिक से अधिक खुल सकता है, इससे अधिक की संभावना नहीं। **अर्धसंवृत** (२ और ७) और **अर्धविवृत** (३ और ६) संवृति और विवृति के क्रम से इनके बीच की अवस्थाएँ हैं। विभिन्न भाषाओं के स्वरों का विवरण देने के लिए ये आठ स्वर आदर्श माने गए हैं और जिस प्रकार किसी गाव मे सरकारी (सर्वे) नाप विभाग द्वारा कुछ खूँटे गाड़ दिए जायँ तो उनकी दूरता और निकटता का उल्लेख करके प्रत्येक गृहस्थ अपने अपने घर का निश्चित स्थान बता सकता है कि अमुक खूटे से इतने गज पूरब,, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन मे मेरा घर स्थित है, इसी प्रकार इन मूल स्वरों के उल्लेख से विशिष्ट भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान उन भाषाओं के स्वरो का विवरण दे सकते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी का ई स्वर सवृति मे मूल स्वर नं० १ से कुछ कम है और उसका आ स्वर मूल स्वर न० ५ के निकट है और पश्च स्वर है न कि अग्र स्वर।

अग्रस्वरों के उच्चारण मे ओठ प्रायः नं० ४ से लेकर न० १ तक उत्तरोत्तर फैलते ही जाते हैं और पश्चस्वरों के उच्चारण मे न० ५ से न० ८ तक अधिकाधिक गोलाकार होते जाते हैं। पर जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं मे ऐसे भी स्वर हैं जिनके अग्र होते हुए भी उच्चारण मे ओठ गोलाकार होते हैं और पश्च होने पर भी उच्चारण मे ओठ कोनों की तरफ फैलते हैं।

व्यंजनों का वर्गीकरण स्थान और प्रयत्न के भेद के कारण होता है। स्वरयन्त्र मे उत्पन्न घोष के कारण व्यजन **सघोष** और **अघोष** कहे जाते हैं। सघोष व्यजन के भी दो भेद हैं—**पूर्ण सघोष**,**अपूर्ण सघोष**। **पूर्ण सघोष** वह व्यजन होता है जिसके उच्चारण में जिस समय जिह्वा उस स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ से उस व्यंजन का उच्चारण होता है उस समय से जब तक उस व्यंजन का उच्चारण समाप्त नहीं होता तब तक बराबर घोष जारी रहता है और अपूर्ण सघोष व्यंजन मे बराबर जारी नहीं रहता, उच्चारण के आदि भाग, मध्य भाग या अन्त भाग में होता है। उदाहरण के लिए अंगरेजो की व् अपूर्ण सघोष है (क्योंकि इसके उचारण के अन्तिम भाग मे ही घोष रहता है) और हिन्दी की पूर्ण **सघोष**।

जब भीतर से आती हुई सांस मे दोनों ओठों के द्वारा विकार लाया जाता है, तब उन ध्वनियों को **द्वयोष्ठ्य** कहते हैं। जब विकार नीचे के ओठ और

ऊपर के दाँतों से उत्पन्न होता है तब ध्वनियाँ **दन्त्योष्ठ्य** कहलाती हैं और जब केवल दाँतों से तब **दन्त्य**। ऊपर की दन्तपंक्ति से आगे जब तालु की ओर बढ़े तो मसूड़े मिलते हैं। इस जगह को **वर्त्स** भाग कहते हैं और यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **वर्त्स्य**। इस भाग से और ऊपर जो तालु का भाग है और जो उँगली से छूने पर कड़ा (लुचलुचा नहीं) मालूम पड़ता है उसको **तालु** का नाम दिया गया है और उस जगह पैदा हुई ध्वनियों को **तालव्य** का। इसके और आगे एक ऐसा सन्धि-स्थान है जहाँ पर आगे का भाग (कठोर तालु) और पीछे का भाग (कोमल तालु) मिलते हैं। इस सन्धि स्थान का नाम **मूर्धा** है, और यहाँ पर पैदा हुई ध्वनियों का **मूर्धन्य**। कोमल (लुचलुचे) तालु पर उत्पन्न हुई ध्वनियों को आज भी **कंठ्य** कहते हैं, यद्यपि यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं क्योंकि यह स्थान कंठ से भिन्न है। **अलिजिह्व** (कौवा) का उल्लेख विस्तार से पिछले अध्याय में हो चुका है। यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **अलिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र के भाग से ऊपर और नासिकाविवर से नीचे वाले श्वासनलिका के हिस्से को **उपरिनालिका** और वहाँ पैदा हुई ध्वनियों को **उपालिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र पर भी श्वास को एक साथ रोक कर जब एक प्रकार का विशेष घर्षण करके विकार उत्पन्न किया जाता है तो उस ध्वनि को **स्वर-यन्त्र-स्थानीय** कहते हैं। इस तरह स्थान के अनुसार व्यंजन **द्वयोष्ठ्य** (प् आदि), **दन्तोष्ठ्य** (व्), **दन्त्य** (त् आदि,) **वर्त्स्य** (श्), **तालव्य** (कठोर तालु वाले ट् आदि हिन्दी के), **मूर्धन्य** (संस्कृत के ट् आदि), **कंठ्य** (कोमल तालु वाले हिन्दी के क आदि), **अलिजिह्वीय** (क़् ग़्), **उपालिजिह्वीय** (अरबी बड़ी हे और ऐन ह् अ्), तथा स्वरयन्त्र-स्थानीय (हमजा ह्) होते हैं। इनके भी सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दाँतों के अग्र, मध्य और पश्च भाग के स्पर्श के अनुसार **अग्रदन्त्य, मध्यदन्त्य** और **पश्चदन्त्य** होते हैं।

ध्वनियों के उच्चारण में तरह तरह के प्रयत्न किए जाते हैं। यदि केवल दो अवयवों का स्पर्श करके भीतर से आती हुई साँस को रोक रक्खा जाय तो इस प्रयत्न से बनी ध्वनि को **स्पर्श** कहते हैं। यदि दो अवयवों में परस्पर संघर्षण हो तो इस तरह पैदा हुई ध्वनि को **संघर्षी** कहा जाता है। यदि जीभ के एक या दोनों पार्श्वों को उठा कर आती हुई साँस के बाहर निकलने में बाधा डाली जाय तो इस प्रयत्न से उत्पन्न हुई ध्वनि **पार्श्विक** कहलाती है। अगर जीभ को यथासंभव लपेट कर ध्वनि निकाली जाय तो वह ध्वनि **लोडित** की संज्ञा पाती

है। यदि इस तरह लिपटी हुई जीभ को एक क्षण उस अवस्था में रख कर, उसे झटके से फिर सीधा कर लिया जाय तो इस प्रकार श्वास में उत्पन्न हुए विकार से बनी हुई ध्वनि को **उत्क्षिप्त** कहते हैं। **स्पर्शसंघर्षी** ध्वनि के उच्चारण में किंचिन्मात्र स्पर्श और फिर संघर्ष होता है। इस तरह प्रयत्न के अनुसार व्यजनों के स्पर्श (क् आदि), संघर्षी (स् आदि), स्पर्श-संघर्षी (च् आदि) पार्श्विक (ल्), लोडित (र्), उत्क्षिप्त (ड्), आदि भेद होते हैं। इनमें से भी बहुतों के सूक्ष्म प्रभेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ स्पर्श व्यजनों के **बहिःस्फोटात्मक** (जैसे हिंदी के) **अंतः स्फोटात्मक** (सिंध की ज, ब्) तथा **उत्क्षेपात्मक** प्रभेद होते हैं। प्रथम में सास स्पर्श हटते ही फट् से बाहर निकल जाती है, द्वितीय में बाहर निकलने के पूर्व सास क्र अंदर की ओर चूसने का-सा भाव होता है और तृतीय में एकत्रित की हुई सास को ढकेल फेंकने का-सा भाव होता है। **क्लिक** ध्वनियों का भी विशेष प्रयत्न से दंत, वर्त्स, तालु आदि स्थानों पर उच्चारण किया जाता है। हिंदी आदि भारतीय भाषाओं में इनका प्रयोग करुणा (च्च्च् ..) प्रेरणा (ट्ट्ट...) आदि भावातिरेक को व्यक्त करने के लिए होता है पर अफ्रीका आदि कुछ विदेशों में भाषा में उनका उसी प्रकार प्रयोग होता है जैसे अपनी भाषाओं में स्पर्श आदि ध्वनियों का।

स्थानभेद का विचार करते समय नासिका का भी उल्लेख अभीष्ट है। स्पर्श व्यजनों में दन्त्य आदि के उच्चारण में जब कुछ सास नाक से भी निकलती है तब न, म, ण आदि **अनुनासिक** व्यजनों का उच्चारण होता है। इस प्रकार ब और म के उच्चारण में केवल इतना भेद है कि ब् के उच्चारण में सम्पूर्ण सास मुख से ही निकल जाती है और म् के में कुछ भाग नाक से भी निकल जाता है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञानियों के अनुसार, अनुस्वार का स्थान केवल नासिका बताया गया है। यह ध्वनि आधुनिक भारतीय भाषाओं में नहीं मिलती, जहाँ हम इसका संकेत लिखते हैं वहाँ उच्चारण में कोई न कोई वर्गो का पंचमाक्षर (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) उपस्थित रहता है। प्राचीन भाषा के विषय में ऐसा अनुमान होता है कि शब्द की ध्वनियों के मौखिक उच्चारण के उपरांत नासिका-विवर से शेष श्वास स्वतंत्र (और आपेक्षिक दृष्टि से पूर्वापर ध्वनियों से असंबद्ध) रूप में निकलती थी और यही अनुस्वार था।

य् और व् के दो रूप भाषाओं में मिलते हैं, एक तो पूर्ण व्यंजन रूप जो

ऊपर के दाँतों से उत्पन्न होता है तब ध्वनियाँ **दन्त्योष्ठ्य** कहलाती हैं और जब केवल दाँतों से तब **दन्त्य**। ऊपर की दन्तपंक्ति से आगे जब तालु की ओर बढ़े तो मसूड़े मिलते हैं। इस जगह को **वर्त्स** भाग कहते हैं और यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **वर्त्स्य**। इस भाग से और ऊपर जो तालु का भाग है और जो उँगली से छूने पर कड़ा (लुचलुचा नहीं) मालूम पड़ता है उसको **तालु** का नाम दिया गया है और उस जगह पैदा हुई ध्वनियों को **तालव्य** का। इसके और आगे एक ऐसा सन्धि-स्थान है जहाँ पर आगे का भाग (कठोर तालु) और पीछे का भाग (कोमल तालु) मिलते हैं। इस सन्धि स्थान का नाम **मूर्धा** है, और यहाँ पर पैदा हुई ध्वनियों का **मूर्धन्य**। कोमल (लुचलुचे) तालु पर उत्पन्न हुई ध्वनियों को आज भी **कंठ्य** कहते हैं, यद्यपि यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं क्योंकि यह स्थान कंठ से भिन्न है। **अलिजिह्व** (कौवा) का उल्लेख विस्तार से पिछले अध्याय में हो चुका है। यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **अलिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र के भाग से ऊपर और नासिकाविवर से नीचे वाले श्वासनलिका के हिस्से को **उपरिनालिका** और वहाँ पैदा हुई ध्वनियों को **उपालिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र पर भी श्वास को एक साथ रोक कर जब एक प्रकार का विशेष घर्षण करके विकार उत्पन्न किया जाता है तो उस ध्वनि को **स्वर-यन्त्र-स्थानीय** कहते हैं। इस तरह स्थान के अनुसार व्यंजन **द्व्योष्ठ्य** (प् आदि), **दन्तोष्ठ्य** (व्), **दन्त्य** (त् आदि,) **वर्त्स्य** (श्), **तालव्य** (कठोर तालु वाले ट् आदि हिन्दी के), **मूर्धन्य** (संस्कृत के ट् आदि), **कंठ्य** (कोमल तालु वाले हिन्दी के क आदि), **अलिजिह्वीय** (क़् ग़्), **उपालिजिह्वीय** (अरबी बड़ी हे और ऐन ह् अ़), तथा **स्वरयन्त्र-स्थानीय** (हमज़ा ह्) होते हैं। इनके भी सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दाँतों के अग्र, मध्य और पश्च भाग के स्पर्श के अनुसार **अग्रदन्त्य, मध्यदन्त्य** और **पश्चदन्त्य** होते हैं।

ध्वनियों के उच्चारण में तरह तरह के प्रयत्न किए जाते हैं। यदि केवल दो अवयवों का स्पर्श करके भीतर से आती हुई साँस को रोक रक्खा जाय तो इस प्रयत्न से बनी ध्वनि को **स्पर्श** कहते हैं। यदि दो अवयवों में परस्पर सघर्षण हो तो इस तरह पैदा हुई ध्वनि को **सघर्षी** कहा जाता है। यदि जीभ के एक या दोनों पार्श्वों को उठा कर आती हुई साँस के बाहर निकलने में बाधा डाली जाय तो इस प्रयत्न से उत्पन्न हुई ध्वनि **पार्श्विक** कहलाती है। अगर जीभ को यथासंभव लपेट कर ध्वनि निकाली जाय तो वह ध्वनि **लोडित** की संज्ञा पाती

है। यदि इस तरह लिपटी हुई जीभ को एक क्षण उस अवस्था में रख कर, उसे झटके से फिर सीधा कर लिया जाय तो इस प्रकार श्वास में उत्पन्न हुए विकार से बनी हुई ध्वनि को **उत्क्षिप्त** कहते हैं। **स्पर्शसंघर्षी** ध्वनि के उच्चारण में किंचिन्मात्र स्पर्श और फिर संघर्ष होता है। इस तरह प्रयत्न के अनुसार व्यजनों के स्पर्श (क् आदि), संघर्षी (स् आदि), स्पर्श-संघर्षी (च् आदि) पार्श्विक (ल्), लोडित (र्), उत्क्षिप्त (ड़्), आदि भेद होते हैं। इनमें से भी बहुतों के सूक्ष्म प्रभेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ स्पर्श व्यजनों के **बहिःस्फोटात्मक** (जैसे हिंदी के) **अंतः स्फोटात्मक** (सिंध की ज, ब्) तथा **उत्क्षेपात्मक** प्रभेद होते हैं। प्रथम में सास स्पर्श हटते ही झट् से बाहर निकल जाती है, द्वितीय में बाहर निकलने के पूर्व सास के अंदर की ओर चूसने का-सा भाव होता है और तृतीय में एकत्रित की हुई सास को ढकेल फेंकने का-सा भाव होता है। **क्लिक** ध्वनियों का भी विशेष प्रयत्न से दंत, वर्त्स, तालु आदि स्थानों पर उच्चारण किया जाता है। हिंदी आदि भारतीय भाषाओं में इनका प्रयोग करुणा (चूचू ..) प्रेरणा (टूट्ट...) आदि भावातिरेक को व्यक्त करने के लिए होता है पर अफ्रीका आदि कुछ विदेशी में भाषा में उनका उसी प्रकार प्रयोग होता है जैसे अपना भाषाओं में स्पर्श आदि ध्वनियों का।

स्थानभेद का विचार करते समय नासिका का भी उल्लेख अभीष्ट है। स्पर्श व्यंजनों में दन्त्य आदि के उच्चारण में जब कुछ सास नाक में भी निकलती है तब न, म, ण आदि **अनुनासिक** व्यजनों का उच्चारण होता है। इस प्रकार ब और म के उच्चारण में केवल इतना भेद है कि ब् के उच्चारण में सम्पूर्ण सास मुख से ही निकल जाती है और म के में कुछ भाग नाक से भी निकल जाता है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञानियों के अनुसार, अनुस्वार का स्थान केवल नासिका बताया गया है। यह ध्वनि आधुनिक भारतीय भाषाओं में नहीं मिलती, जहाँ हम इनका संकेत लिखते हैं वहाँ उच्चारण में कोई न कोई वर्गों का पंचमाक्षर (ङ्, ञ्, ण, न, म) उपस्थित रहता है। प्राचीन भाषा के विषय में ऐसा अनुमान होता है कि शब्द की ध्वनियों के मौखिक उच्चारण के उपरांत नासिका-विवर से शेष श्वास स्वतंत्र (और आपेक्षिक दृष्टि से पूर्वापर ध्वनियों से असबद्ध) रूप से निकलती थी और यही अनुस्वार था।

य् और व् के दो रूप भाषाओं में मिलते हैं, एक तो पूर्ण व्यजन रूप से

शब्द के आदि मे या किसी अन्य व्यंजन के उपरात आता है और दूसरा श्रुतिरूप जो दो स्वरो के बीच मे (यथा *गया, हुवा*) विशेष कर क्रमशः इकार और उकार के उपरात आता है। इनका श्रुतिरूप बहुत थोड़ी मात्रा का होता है। यदि यह ध्वनिया कहीं दो व्यंजनो या व्यंजन और स्वर के बीच में आवें तब तो बहुधा तद्रूप स्वर (इ और उ) का रूप ग्रहण कर लेती हैं। *साहित्यिक* का वर्तमान हिन्दी मे वास्तविक उच्चारण *साहित्तिक* ही है अन्य कुछ नही और इसी प्रकार यदि कोई शब्द *धात्वुक* बनता तो उसका उच्चारण हिन्दी में *धात्तुक* ही होता और कुछ नही।

प्राचीन भाषाविज्ञानियो ने स्पर्श व्यजनो के दो भेद और माने हैं—*अल्प-प्राण* और *महाप्राण*। प्राण अन्दर से आती हुई श्वास के बल का ही दूसरा नाम है। आपेक्षिक दृष्टि से ही अल्पता और महत्ता का प्रश्न है। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय *क्, ग्* आदि का एक साधारण प्राण के साथ उच्चारण था और एक अधिक प्राणशक्ति के साथ। आज भी अंगरेजी आदि भाषाओं मे जहा महाप्राणत्व बलाघात के रूप मे प्रकट होता है, बलाघातयुक्त क् ध्वनि ख् सी सुनाई देती है, जैसे *खाऑ* (कॉर) और *खाट्* (काट) मे। प्राचीन सस्कृत की *ख्, घ्, ठ्, ढ्* आदि ध्वनियां इसी प्रकार की महाप्राणत्व-प्राप्त ध्वनिया रही होंगी। उत्तर काल मे तो भारतीय भाषाओं मे ख्, घ् आदि ध्वनियां केवल सयुक्त ध्वनिया (क्+ह्, ग्+ह्) हो गई और म्ह्, न्ह्, ल्ह्, र्ह्, ढ (ड्+ह्) आदि संयुक्त ध्वनियो की श्रेणी में आ गई।

इस स्थान पर एक बात का और विचार कर लेना चाहिए। ध्वनियों के उच्चारण मे कभी-कभी एक मुख्य स्थान होता है और साथ ही साथ युगपत् एक गौण स्थान भी हो सकता है। स्वरों के विवरण मे हम देख चुके हैं कि अग्र स्वरों के उच्चारण मे प्रायः ओठों का फैलना गौण रूप से मौजूद रहता है। इसी प्रकार व्यंजनो के उच्चारण में भी संभव है कि मुख्य स्थान कोई एक हो और गौण रूप से अन्य स्थान भी सहायता करता रहे। ऐसी अवस्था में ध्वनि का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहेगा, वह संयुक्तत्व को प्राप्त हुई नहीं कहीं जा सकती। उदाहरण के लिए, वैदिक पूर्व आर्य भाषा मे ओष्ठ्य गौणत्व प्राप्त कवर्ग और तालव्य गौणत्व प्राप्त कवर्ग के प्रथक् प्रथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इनका विशेष विवरण आगे चल कर आर्य परिवार की आदिम भाषा के ब्योरे मे मिलेगा। संस्कृत के वैयाकरण चवर्ग को स्पर्श वर्ण मानते आए हैं और पद-रचना में क् और च् का व्यत्यय (*पाक-पचति; जलमुक्-*

जलमुचौ) बराबर देखा जाता है। आधुनिक हिन्दी के उच्चारण मे चवर्ग की ध्वनिया स्पर्श-सघर्षी हैं, केवल स्पर्श नहीं। इस विषमता की उपस्थिति में ऐसा अनुमान होता है कि वैदिक भाषा का चवर्ग, कवर्ग का ही तालव्य गौणत्व-प्राप्त रूप था जिसमें च् आदि का स्पष्ट उच्चारण क् आदि के साथ य् की अल्पाति अल्प श्रुति से मिश्रित होता होगा।

—: (०) :—

नवाँ अध्याय

ध्वनियों के गुण

मात्रा, सुर और **बलाघात**—ये तीन, ध्वनियों के **गुण** कहलाते हैं। **मात्रा** काल की उस मात्रा का नाम है जो किसी विशेष ध्वनि के उच्चारण में लगती है। व्यवहार की दृष्टि से मात्रा **ह्रस्व** और **दीर्घ** होती है। स्वरतन्त्रियों के तनाव के कारण **सुर** उत्पन्न होता है और साधारण रीति से सुर **उच्च**, **नीच** और **सम** कहा जाता है। किसी विशेष ध्वनि पर वाक्य अथवा पद की अन्य ध्वनियों की अपेक्षा, उच्चारण में अधिक प्राण-शक्ति लगाना बलाघात कहलाता है।

भाषा की प्रत्येक ध्वनि के बोलने मे कुछ न कुछ समय लगता हैं। प्रचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने केवल स्वरों की ही मात्रा का उल्लेख किया है और उनकी **ह्रस्व दीर्घ** और **लुप्त** संज्ञाएँ की है। एक-मात्रिक ह्रस्व द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत कहलाते थे। सामान्यरूप से प्लुत स्वरो का भाषा मे प्रयोग नही होता था, पुकारने आदि मे वह काम मे आते थे। अन्य दोनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है। आधुनिक अनुसन्धानो से इतना और मालूम हुआ है कि व्यजनो के उच्चारण मे भी काल की मात्रा से नाप हो सकती है और यहा भी ह्रस्व दीर्घ आदि सज्ञाओं का व्यवहार किया जा सकता है, उदाहरणार्थ *पका* में क् ह्रस्व और *पक्का* मे क दीर्घ, कसक मे स् ह्रस्व और कस्स मे स् दीर्घ है। व्यंजन का दीर्घत्व लिखाई मे द्वित्व से व्यक्त किया जाता हैं। वस्तुतः देखा जाय तो हिन्दी में स्वरों की अपेक्षा व्यंजनो को ह्रस्व दीर्घ कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उल्लिखित ह्रस्व और दीर्घ स्वरों (*अ आ* अथवा *इ ई* आदि) मे स्थानभेद पर्याप्त है किन्तु ह्रस्व और दीर्घ (क क्क आदि) व्यंजनों में स्थान-भेद बिल्कुल ही नहीं है, केवल उच्चारण में लगने वाले समय की मात्रा मे ही भेद है। ह्रस्व ध्वनि में दीर्घ ध्वनि की अपेक्षा ठीक ठीक आधा ही समय लगता है, यह समझ बैठना भूल होगी। एक ही शब्द में एक ही ध्वनि दो विभिन्न स्थानों पर आने से ही मात्रा में भिन्न होगी। शब्द के अन्त मे

आने वाला स्वर बहुधा उसी शब्द मे प्रयुक्त अन्य-स्थानीय उसी स्वर से मात्रा मे कम होता है। *काला* शब्द का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। *पटवर्धन* शब्द मे *प ट व* तीनों के स्वर ह्रस्व कहे जाते हैं पर *ट* के *अ* की अपेक्षा *प* का *अ* और उसकी भी अपेक्षा *व* का *अ* मात्रा मे अधिक है। सयुक्त व्यंजनों अथवा दीर्घ व्यजन के पूर्व आने वाला स्वर मात्रा मे दीर्घ होता है चाहे लिखाई मे ह्रस्व ही अकित किया जाय। स्पर्श ध्वनियों की अपेक्षा सघर्षी ध्वनियां मात्रा मे दीर्घ होती हैं। बलाघात प्राप्त करके भी ध्वनि मात्रा मे दीर्घ हो जाती है।

जब ह्रस्वत्व दीर्घत्व का ठीक ठीक आधा नही होता और ह्रस्व ध्वनि लिखाई मे ह्रस्व होती हुई भी उच्चारण मे दीर्घ हो सकती है तब ह्रस्व और दीर्घ सज्ञाओं का व्यवहार किस प्रकार साध्य है? इसका उत्तर यही है कि हर भाषा का व्यवहार करने वाला जहा भाषा की अन्य बातें सीखता है वहा अपनी भाषा के ह्रस्व-दीर्घ के भेद को भी हृदयगम करता रहता है और यदि किसी विशेष शब्द मे अकार की मात्रा ३० इकाई और आकार की ४० इकाई हुई तो भी एक ही वाक्य मे ३० इकाई के आकार के प्रयोग को ऊपर लिखे हुए ३० इकाई के अकार से भिन्न समझ लेगा। ऐसा भेद करना वह अपनी भाषा के प्रवाह से जानता है।

वर्तमान लिपियो मे मात्रा को अकित करने का कोई विशिष्ट साधन नहीं है, वर्णो की आकृति में (अ, आ; इ, ई; उ, ऊ) ही दीर्घत्व दिखाने के लिए अंतर कर दिया जाता है—दीर्घत्व का कोई विशेष सकेत या चिह्न नहीं। ध्वनि विज्ञानियों ने, रोमन लिपि मे वर्णों के आगे विसर्ग का सा सकेत (:) लगाकर दीर्घत्व का और केवल एक बिंदु (.) लगाकर अर्धदीर्घत्व का निर्देश किया है। अन्य विद्वानों ने वर्णो के ऊपर बेडी पाई (—)लगाकर दीर्घत्व को व्यक्त किया है। देवनागरी आदि भारतीय लिपियों मे ये दोनों उपाय उपयुक्त साबित न होंगे यह स्पष्ट है। यहां छन्द मे । (दीर्घ) और ऽ (ह्रस्व) चिह्न वर्ण के ऊपर लगाए जाते है।

वीणा सितार आदि सगीत के साधनों मे हम देखते हैं कि तारो के तानने और ढीला करने से सगीत के स्वरो मे विभिन्नता पैदा होती है। यही हाल स्वरतन्त्रियों का है। उनके तनने और ढीला होने से सुर उत्पन्न होता है। सुर केवल (स्वर आदि) ऐसी ध्वनियो मे संभव है जिनमे घोष हो क्योंकि जब स्वरतन्त्रिया निष्क्रिय पड़ी होंगी तब उनमे तनाव या ढीलेपन का सवाल ही नहीं उठता। साधारण रीति मे सुर के तीन भेद किए जाते हैं, उच्च, नीच

और सम। तनाव को अधिकता देना उच्च, उसे कम करना **नीच** और उसे बराबर एक की अवस्था में रखना **सम** सुर का लक्षण है और क्रमशः "इन तीन संकेतों से आधुनिक ध्वनिविज्ञानियों द्वारा व्यक्त किया जाता है। वैदिक ग्रन्थों के उदात्त, **अनुदात्त** और **स्वरित** भी सुर के ही भेद थे। इसी प्रकार ग्रीक भाषा के ग्रेव, **अक्यूट** आदि भेद भी स्वर से सबंध रखते थे।

आर्य भाषाओं के प्राचीनकाल मे वैदिक संस्कृत और ग्रीक में सुर के अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाण हैं। परन्तु शब्दो के अर्थभेद के लिए इसका विशेष प्रयोग नही होता था। साथ ही उच्चारण की शुद्धता पर जोर था ही। *इन्द्रशत्रु* शब्द मे अस्थान सुर के प्रयोग से दैत्यों का नाश हो गया यद्यपि वे देवो का नाश करने चले थे, यह कथा पुराण मे प्रसिद्ध ही है। वर्तमान काल मे आर्य भाषाओं मे सुर का प्रयोग केवल मनोराग अथवा भावातिरेक, विधि, निषेध, प्रश्न, स्वीकृति, सन्तोष, विस्मय आदि को व्यक्त करने के लिए होता है, अर्थ मे विभिन्नता नही आती। हिंदी की भोजपुरी बोली मे वाक्य के अन्तिम भाग मे सुर का प्रयोग होता है, अन्य बोलियो मे प्रयोग स्पष्ट नही दिखाई पड़ता। चीन और अफ्रीका की भाषाओं मे सुर का अधिक मात्रा मे प्रयोग होता है और सुरभेद से अर्थभेद हो जाता है। उदाहरण के लिए चीनी भाषा मे 'व' शब्द मे धीर सुर होने से उसका अर्थ होता है *महिला*, उच्च होने से उसी 'व' का *उमेठना* और तीक्ष्ण होने से अर्थ होता है *राजा का कृपापात्र*। अफ्रीका की फ़ुल नाम की भाषा मे *'मिवरत'* का अर्थ होगा *मै मार डालूंगा* यदि अन्तिम अ का वही सुर हो जो वाक्य को शेष ध्वनियों का है। किन्तु यदि उसी अ का सुर अन्य ध्वनियो की अपेक्षा उच्च हो तो उसी वाक्य का निषेधात्मक (*मैं नही मारूंगा*) अर्थ होगा। चीनी भाषा में आठ प्रकार का सुर वर्तमान है, ऐसा माना जाता है। फेरी लगाकर कपडा बेचने वाला चीन देश का निवासी जब हिंदी बोलने का प्रयत्न करता है तब उसके उच्चारण मे सुर के उदाहरण अनायास ही सुनाई पड़ते हैं।

बलाघात का प्रयोग आर्य भाषाओं (विशेषकर यूरोप की अँगरेजी आदि) मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है। हिंदी विद्वानो ने कभी-कभी इसको **स्वराघात** की संज्ञा दी है किन्तु सुर से इसकी विभिन्नता रखने तथा इसका स्वरूप ठीक ठीक व्यक्त करने के लिए बलाघात शब्द ही अधिक उपयुक्त है। **बलाघात** पद अथवा वाक्य मे किसी विशेष ध्वनि अथवा ध्वनि-समूह पर अपेक्षाकृत अधिक प्राणशक्ति के

व्यय करने से पैदा होता है। देवनागरी लिपि में इसे अंकित करने का कोई विशेष संकेत नहीं है, पर रोमन में जिस अक्षर या ध्वनि पर बलाघात हो उसके उपरान्त ऊपर की ओर, चिह्न लगा कर व्यक्त किया जाता है, अन्तर्-राष्ट्रीय ध्वनि-विज्ञान-परिषद् (International Phonetics Association) की प्रथा के अनुसार बलाघात-प्राप्त ध्वनि या अक्षर के पूर्व जरा ऊपर की ओर खड़ी पाई लिखकर बताया जाता है।

बलाघात किस ध्वनि या अक्षर पर हो और कितना, यह अलग अलग भाषाओं के अलग अलग प्रवाह के अनुसार प्रचलित है। पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अघोष ध्वनियों पर सघोष ध्वनियों की अपेक्षा कुछ अधिक बलाघात होता है।

ध्वनियों के गुणों का महत्त्व प्रत्येक भाषा का अलग अलग होता है, साधारण रीति से कोई भी भाषा तीनों का बराबर मात्रा में प्रयोग नहीं करती। हिन्दी में मात्रा (काल) का, अंगरेजी में बलाघात का और चीनी में सुर का महत्त्व है और इन भाषाओं में इन गुणों का व्यतिक्रम अर्थ का अनर्थ कर सकता है। उदाहरण के लिए *मरना, मारना; पिटना, पीटना; सुर, सूर; पता, पत्ता; रसा, रस्सा;* में अर्थभेद मात्राभेद के ही कारण है।

ये गुण भाषाओं के महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। यदि कोई ध्वनियों का ठीक उच्चारण करता हुआ भी गुणों के उच्चारणों में गलतियाँ करे तो उस भाषा के समझने में बड़ी दिक्कत हो जाती है। विदेशियों द्वारा निज भाषा के उच्चारण की असफलता का अनुभव प्रायः सभी करते हैं।

प्रत्येक भाषा में (काल की) मात्रा छन्दःशास्त्र के लिए, सुर संगीत-शास्त्र के लिए तथा बलाघात (विशेष कर रंगमंच पर की) वाग्मिता के लिए उपयोगी होता है।

दसवां अध्याय

संयुक्त ध्वनियां

वाक्य मे ध्वनियो के समूह का ही प्रयोग होता है। किसी विदेशी भाषा को सुनकर हम केवल इतना बता सकते हैं कि वाक्य यहां से आरम्भ हुआ और यहाँ अन्त हुआ। यह भी इसलिए कि प्रत्येक वाक्य के उपरान्त हर आदमी थोड़ी देर के लिये रुकता है। पर वाक्य के भीतर शब्दों और अक्षरों को अलग अलग जमाकर रखना, विदेशी भाषा क्या, निज भाषा मे भी तब तक संभव नही जब तक मनुष्य ने उस भाषा का अध्ययन न किया हो। किसी अपढ आदमी से कहा जाय कि तुम इतने धीरे धीरे बोलो कि सब शब्द और अक्षर अलग अलग ही रहे तो निश्चय है कि वह इस आदेश का पालन न कर सकेगा।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रत्येक भाषा मे इस सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भंडार मे से कुछ परिमित संख्या की ध्वनियों का प्रयोग होता है। और ये वाक्य मे भिन्न भिन्न सयोगो मे उपस्थित होती हैं। व्यजन और स्वर परस्पर आते रहते हैं। पर कौन कौन व्यंजन एक साथ आ सकते हैं और कौन कौन स्वर यह हर एक भाषा अपने आप निश्चित करती है। उदाहरण के लिए, सस्कृत मे कई व्यजन तो पास पास रह सकते थे (जैसे *कार्त्स्न्यं*, *धार्ष्ट्यं* मे) पर दो स्वर एक साथ नहीं रहने पाते थे, सन्धि के नियमो के अनुसार या तो बीच मे कोई व्यंजन आ जाय (जैसे *गो + एषणा = गवेषणा*, *पौ + अकः = पावकः*) या दोनों मिलकर एक हो जायें (*कुसुम + अवलिः = कुसुमावलिः*, *गज + इन्द्रः = गजेन्द्रः*)। पर प्राकृत काल में प्रायः इसकी उलटी ही स्थिति आ गई। दो से अधिक व्यंजन एक साथ आने ही न पाते थे (*दंष्ट्रा>दाढा*) और आते भी तो शब्द के मध्य मे, आदि और अन्त मे नही, नही तो बहुधा एक ही व्यजन (ह्रस्व या दीर्घ) एक साथ रहता था। पर संस्कृत की प्रथा के विपरीत एक से अधिक स्वर एक साथ पास पास रह सकते थे (*गेउरं*, *अन्तेउरं*, *वण्णइराआ*। इस प्रकार भाषा यही केवल निश्चय नही करती कि कौन कौन सी ध्वनियों के सयोग वह ग्रहण करेगी बल्कि यह भी कि उनको कहाँ स्थान देगी।

सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि भाषा में सघोष और अघोष स्पर्श ध्वनियाँ साथ नहीं आने पातीं। यदि ऐसे संयोग की संभावना होती है तो वे दोनों समीकरण को प्राप्त होती हैं (*भुज+त=भुक्त, वाक्+जाल=वाग्जाल*)। दो महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ उच्चारण में नहीं आतीं, एक अल्पप्राण कर दी जाती है (*भूक्*)। सघोष अल्पप्राण स्पर्श सघोष ही महाप्राण के साथ आ सकता है और अघोष अघोष के साथ। पंचमाक्षर सघोष अघोष दोनों के साथ आ सकते हैं और इसी प्रकार अंतःस्थ वर्ण भी। श ष स् ऊष्म वर्णों के साथ अघोष स्पर्श ध्वनि ही आ सकती है, सघोष नहीं। सघोष ह् के साथ सघोष स्पर्श और अघोष के साथ अघोष स्पर्श आते हैं। संस्कृत में म्, न्, हकार के उपरान्त आते थे, प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पूर्व (*ब्रह्म>ब्रह्म, बरम्हा; चिह्न> चिन्ह, चीन्ह*)।

जब दो स्वर पास-पास आते हैं तो उनके स्पष्ट उच्चारण के लिए बीच में जरा रुकना होता है, यथा *वप्पइराआ* के उच्चारण में अ और इ तथा आ और आ के बीच में यदि रुका न जाय तो अ+इ का उच्चारण ऐ हो जाय और आ+आ का आ। कभी-कभी न रुकने से बीच में य् या व् श्रुति आ जाती है (*राआ>राया*)। किन्हीं दो स्वरों का यदि अलग-अलग स्पष्ट उच्चारण न करके एक साथ उच्चारण किया जाय तो दोनों के इस संयोग को मिश्र स्वर कहते हैं। ऐसी अवस्था में जिह्वा एक स्वर के उच्चारण स्थान से एक साथ दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान को पहुँच जाती है और ऐसे समय में संभावना यही होती है कि दोनों स्वरों के व्यक्तित्व में कमी होकर, एक संमिश्रित स्वर का उच्चारण हो। उदाहरण के लिए *पइसा* शब्द के अ इ स्वरों में अ का उच्चारण प्रथम आता है। इसका स्थान मध्य (पश्च की ओर थोड़ा हटा हुआ) और प्रयत्न प्रायः अर्धविवृत है. तथा इ का स्थान अग्र और प्रयत्न संवृत और अर्धसंवृत के बीच का है। अब इन दोनों को एक साथ बोलने में जिह्वा अ के स्थान से तुरत हट कर जाना चाहती है और इ तक पहुँचना चाहती है बीच में अग्र और मध्य स्थान ग्रहण करके प्रायः अर्धविवृत प्रयत्न से ही उच्चारण कर देती है। परिणामस्वरूप मिश्र स्वर ऐ (मूल स्वर ऐ से भिन्न) दोनों के स्थान पर सुनाई पड़ता है। मिश्र स्वर में जिन दो मूल स्वरों से यह बना है उन दोनों का व्यक्तित्व कुछ न कुछ रहता है. यदि प्रथम का व्यक्तित्व प्रबल हुआ तो उसे. दूसरे स्वर के व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण अवनामित मिश्र स्वर कहते हैं और दूसरा प्रबल [illegible]

उन्नायक मिश्र स्वर कहते हैं। *पैसा, कैसा, पौना, ढऔचा* आदि उन्नायक मिश्र स्वर के उदाहरण हैं तथा *देउता, नेइया* आदि अवनायक मिश्र स्वर के।

इस जगह हमे मूल स्वर और मिश्र स्वर के परस्पर अंतर का विचार कर लेना चाहिए। मूल स्वर मे जिह्वा एक स्थिति मे आरंभ से अत तक रहती है और इसीलिए स्वर का एकरस उच्चारण होता है, मिश्र स्वर मे जिह्वा दो स्थितिया ग्रहण करती है, एक स्थिति मे उच्चारण आरंभ होता है और दूसरी मे उसका अत होता है, इस कारण वह एकरस नहीं रहता। उदाहरण के लिए वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं मे ऐ और औ सकेतो द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनिया मूल स्वर हैं, इनका उच्चारण एकरस होता है। सस्कृत मे ये मिश्र कही जाती हैं, इससे प्रायः निश्चय ही समझना चाहिए कि उस समय का उच्चारण वर्तमान उच्चारण से भिन्न (सभवतः मिश्र ऐ और औ) रहा होगा।

संयुक्त ध्वनियों के छोटे से छोटे समूह को **अक्षर** कहते हैं और अक्षर की ध्वनियों का एक साथ (अति सन्निकटता) मे उच्चारण होता है। प्राचीन भाषा-विज्ञों का विचार था कि स्वर ही अक्षर बनाने मे समर्थ होता है और जितने व्यंजन उसके साथ लिपटे हों उनको साथ लेकर वह अक्षर कहलाता है। पर उपर हम देख चुके हैं कि *म̥, न̥* भी अक्षर बनाने में समर्थ हैं।

बोलते समय हमारे ध्वनियंत्र से ध्वनियों का प्रवाह-सा निकलता है। उस प्रवाह को अक्षरों मे विभक्त करना भाषाविज्ञानी का कर्तव्य है। बहुधा लिखाई के ढंग से हम लोगों को भ्रम हो जाता है, विशेष कर देवनागरी आदि अक्षरात्मक लिपियों मे। *पापा,माशा,क्षिप्र,रस्सा में प्रायः पा। पा,मा। शा,क्षि। प्र* और *रस्सा* इस प्रकार अक्षर-विभाग किया जायगा। पर उच्चारण पर थोड़ा भी ध्यान देने वाला *क्षिप्र* और *रस्सा* का अक्षर-विभाग *क्षिप्।र* और *रस्।सा* करेगा, *पा। पा* और *मा। शा* को वह वैसा ही छोड़ देगा। परन्तु भाषाविज्ञानी और गहराई में जाता है। *रस्सा* के उच्चारण मे स्पष्ट मालूम होता है कि दीर्घ स् का कुछ भाग प्रथम अक्षर मे और कुछ द्वितीय अक्षर मे जाता है। इसी प्रकार *कुत्ता* का *त्* का कुछ भाग प्रथम अक्षर में और कुछ द्वितीय मे स् मे तो यह विभाजन समझ में आ सकता है क्योंकि स् संघर्षी वर्ण है और उसका उच्चारण धारारूप मे होता है, पर *त्* के विषय मे कठिनाई है। उसका उच्चारण तो स्फोटात्मक है। उसमे श्रोत्रेन्द्रिय को स्फोट ही सुनाई पड़ता है, एक अविभक्त रूप में। धारा का आप विभाजन कर सकते हैं, मानसिक ही सही, पर स्फोट का विभाजन कैसे किया जाय ? *त् प्* आदि स्फोटात्मक ध्वनियों के

उच्चारण मे तीन अवयव होते हैं—जिह्वा द्वारा (स्पर्श) उच्चारण-स्थान की प्राप्ति (अर्थात् उस तक पहुँचने का प्रयत्न), उस स्थान पर कुछ काल तक स्थिति और फिर उस स्थान से झटके के साथ हटना। इसमें से अंतिम अवस्था ही हमे सुनाई देती है। *कुत्ता, कुप्पा, छक्का, वट्टा* आदि की *त, प्, क, ट्* का अतिम अवयव (स्फोट) दूसरे अक्षर के साथ जाता है और प्रथम अवयव (प्राप्ति) प्रथम अक्षर के साथ; द्वितीय अवयव क्षणिक अवस्थिति (मौन) इन दोनों को अलग अलग कर देती है। इसी प्रकार *क्षिप्र* की पूरी प् न क्षि के साथ है न र् के साथ। उसका प्रथम भाग प्रथम अक्षर के साथ और तृतीय, द्वितीय अक्षर के साथ जायगा। इन्हीं उदाहरणों के अनुसार *पापा* और *माशा* मे भी अक्षर-विभाजन करना चाहिए। *माशा* की *श्* का कुछ भाग प्रथम अक्षर मे और कुछ द्वितीय मे जायगा। *पापा* की दूसरी प् का प्रथम अवयव प्रथम अक्षर मे शामिल होगा और तृतीय द्वितीय में। प् का द्वितीय अवयव विभाजक रहेगा। यह भाषा के प्रवाह के अनुकूल ही विभाजन हुआ। वाक्यों का परस्पर पृथक्करण हम दो वाक्यों के बीच के मौन से ही तो करते हैं। इसी आदर्श पर वाक्यांशों का भी विभाजन होना चाहिए। वाक्य के भीतर भी थोडा बहुत रुकना होता है यद्यपि वह वाक्यांत के रुकने से, आपेक्षिक दृष्टि से, कम होता है और इसी प्रकार दो अक्षरों के बीच मे भी अल्पाति अल्प रुकना पड़ता है। इस रुकने का स्थान उन दो अक्षरों के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णों का द्वितीय अवयव) या श्राव्यता की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरों में, उससे कम अंतस्थों मे, फिर सघर्षी वर्णों मे और कम से कम स्पर्श वर्णों मे होती है। इस प्रकार प्रवाह मे आई हुई ध्वनियों का विभाजन किया जा सकता है। भाषण मे हमें निरतर स्वरत्व का उत्थान और पतन सुनाई पडता है, इसमें स्वरत्व की अल्पता उसी प्रकार दिखाई देती है जैसे दो पहाडियों के बीच की बगड़ (तराई)। जैसे बगड़ दो पहाड़ियो के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो बगड़ों के बीच के भाग को हम पहाडी कहते हैं, उसी प्रकार दो अल्प-स्वरत्व वाली ध्वनियों के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते हैं।

यदि हम किसी ध्वनिसमूह की दो ध्वनियों के, बीच में उन दोनों से कम स्वरत्व रखने वाली ध्वनि के होने के कारण, पृथक्त्व का अनुभव करते

हैं तब हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वे दो ध्वनियां अलग-अलग दो अक्षरों की हैं।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि स्वरत्व की मात्रा का ज्ञान अन्य ध्वनियों की तुलना की अपेक्षा पर निर्भर रहता है।

ग्यारहवां अध्याय

ध्वनि-विकास

ऊपर भाषा के विकास पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि भाषा के प्रत्येक अवयव, ध्वनि, अर्थ, वाक्यविन्यास आदि का विकास परिवर्तन के रूप में बराबर होता रहता है और इसका मूल कारण प्रयत्न-लाघव या सुविधा है। ध्वनियों के परिवर्तन में यह कारण विभिन्न प्रकार से काम करता रहता है। यह प्रयत्न-लाघव तरह तरह से व्यक्त होता है। ऊपर *मंगलाचार* के *चार* के स्थान पर *चारि* और *कमंडर* की जगह *कमंडल* का उच्चारण भी मस्तिष्क की शिथिलता और इसलिए प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है। सादृश्य से भी विकास होता है। जब *ग़रीब* की जगह *गरीब* और *सिग्नल* की जगह *सिगल* बोला जाता है, तब विदेशी अपरिचित ध्वनियों के स्थान पर वैसी ही, निकट-तम परिचित ध्वनियों या ध्वनि-समूहों के प्रयोग में भी प्रयत्न-लाघव ही छिपे रूप से काम कर रहा है। विदेशी अपरिचित ध्वनि का उच्चारण कष्ट-साध्य था, उसके सदृश चिरपरिचित स्वदेशी ध्वनि का सरल। प्रयत्न-लाघव केवल बोली हुई ध्वनियों के परिमाण को कम ही करे, ऐसी भी बात नहीं है। *छोटा लोटा* की जगह जब *छोटा वाला लोटा* कहा जाता है, तब साफ ही अधिक ध्वनियां बोली गईं। या जब *बेटा* की जगह *बेटवा* कहा गया तब भी कुछ अधिक ही ध्वनि निकली। पर इन विस्तृत ध्वनिसमूहों के बोलने ही में मस्तिष्क को कुछ अधिक आराम मिला, इसलिए यहां भी मूल कारण प्रयत्न-लाघव ही है।

सहसा यह कह देना कि अमुक ध्वनि अथवा अमुक ध्वनि-गुण का उच्चारण सरल है और अमुक का कठिन, ज़रा मुश्किल बात है। ध्वनियों की सरलता और कठिनाई भाषा के प्रवाह पर निर्भर है। हिन्दी वालों के लिए फ़, थ़, द, ज़, आदि सवर्णी सघोष अथवा अघोष ध्वनियां जितनी ही कठिन हैं, उतनी ही अंगरेज़ी वाले के लिए हमारी दन्त्य त, थ, द, ध, अथवा फ़ारसी वाले को हमारी ख, घ, थ, ध, आदि महाप्राण। हिन्दी में भी बोलियों के अनुसार, किसी को चन्दन की जगह चनन और *अंधारी* (अँधेरी) की जगह

अन्हारी सहल मालूम पड़ता है तो दूसरे को इसके विपरीत *जोन्हय्या* की जगह *जोंधय्या* और *कन्हय्या* की जगह *कॅधय्या* अधिक सहल है। वैदिक भाषा-भाषी जिस *ऋ* को अनायास स्वाभाविक रूप से बोल सकते थे, उन्ही के उत्तराधिकारी वर्त्तमान भारतीयों मे इस ध्वनि का शुद्ध उच्चारण करने वाला तलाश करने पर भी नही मिलता। हिन्दी की कुछ पच्छिमी बोलियों में दो स्वरों के बीच मे आनेवाला हकार गायब होता दिखाई देता है (*रहता>रैता*) तो कुछ अन्य बोलियों में हकार आता हुआ नजर आता है (*तैरता>तैह्‌रता*)। इस प्रकार कवि के शब्दों में शब्दब्रह्म हम लोगों से खिलवाड़-सा करता दिखाई देता है। नीचे ध्वनिविकास का स्वभाव दिया जाता है।

(१) ध्वनिविकास बहुत धीरे धीरे मन्दातिमन्द गति से चलता रहता है। संस्कृत का *अग्निः* आज *आग* के रूप मे दीखता है। इसके बीच के रूप *अग्गी*, *अग्गि*, *आगि*, आदि मिलते ही हैं। परन्तु *अग्निः* और *अग्गी* के बीच में न जाने कितनी सदिया लगी होंगी। और फिर अन्तिम ई का ह्रस्व इ और उससे फिर लोप हो जाना यह भी कम समय का द्योतक नहीं। यदि ई की कालमात्रा ४० इकाई रही होगी तो उसको शून्य तक पहुँचने मे कई सौ वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार का ध्वनिविकास अपने आप मनुष्य-समुदाय के अनजान में ही हुआ करता है। यदि जान बूझ कर होता तो भाषा के समझने में दिक्कत होती और लोग इस को रोकते। यह अनायास अपने आप होता रहता है और बहुत धीरे धीरे होने के कारण ही मालूम नहीं पडता। मालूम तो तब होता है जब भाषाविज्ञानी बैठकर उस भाषा के विकास का अध्ययन करता है, तब वह इस परिवर्तन पर दृष्टि डालता है।

(२) ध्वनि-विकास शनैः शनैः और अनजान मे तो होता ही है वह एक सुसंगठित मनुष्य-समुदाय मे सर्वत्र व्यापक होता है। यह नही कि वह समुदाय के दस व्यक्तियों या परिवारों मे तो हो रहा हो और शेष अछूते छूट गए हों। ध्वनिविकास की विभिन्नता मनुष्य समुदाय की सुश्लिष्टता की कमी की द्योतक होती है। यदि दो स्वरों के बीच मे आने वाली *त्* ध्वनि का महाराष्ट्री प्राकृत में लोप और शौरसेनी में *द्* आदेश मिलता है तो इतना निश्चय समझना चाहिए कि इन दोनों प्राकृतों के बोलने वाले भिन्न भिन्न प्रदेशों मे रहते थे और एक म उपर्युक्त परिवर्तन की गति तीव्र थी और दूसरे समुदाय मे मन्द। संस्कृत *गतः* का स्थानापन्न ब्रज मे *गओ* और खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) मे *गया* भी प्रदेश और मनुष्य-समुदाय की विभिन्नता ही बताता है। यह ध्वनि-विकास

किसी की नकल करने का परिणाम नहीं होता क्योंकि वैसी अवस्था में कुछ लोग ही तो नकल करते, सभी न करते, न कर पाते और परिवर्तन में विभिन्नता दिखाई पड़ती। और फिर नकल अनजान मे तो होती नहीं।

(३) ध्वनि की वाक्य अथवा शब्द में जो परिस्थिति होती है उसके अनुसार ही उसका विकास होता है। शब्द के आदि मे है, मध्य में है या अन्त में, आगे पीछे समान ध्वनियां हैं या असमान, स्वयं स्वर है या व्यजन, अनुनासिक है या केवल मौखिक इत्यादि बातों पर ध्यान देना पड़ता है। सस्कृत के *स्नान, सप्त, वत्स,* सब में *स्* है पर प्राकृत में इन शब्दों के उतराधिकारी *ण्हाण, सत्त, वच्छ* मिलते हैं और एक ही ध्वनि *स्* के तीन रूप (*ह्*, *स्*, *छ्*) अलग-अलग स्पष्ट दिखाई पडते हैं। सस्कृत के *ततः, कति, भवन्ति* के प्राकृत रूप *तओ, कइ, होन्ति* हैं और यहाँ भी *त्* के बारे में परिणाम की विभिन्नता नजर आती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही ध्वनि की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न विकास होता है। पर बिल्कुल ही एक ही परिस्थिति मे केवल एक ही विकास होना चाहिए। यदि शब्द के आदि का अन्य व्यजनों से असयुक्त *स्* शौरसेनी प्राकृत में ज्यों का त्यों वर्तमान रहता है तो सभी शब्दों मे उस परिस्थिति में वर्तमान रहना चाहिए (*सप्त*>*सत्त, सर्प*>*सप्प, सुर, सूत*>*सूद, सेवते*>*सेवदि* आदि)। दो स्वरों के मध्य का *त्स्* यदि वत्स मे *-च्छ* के रूप में परिणत होता है तो *मत्स्य*>*मच्छ, उत्सव*>*उच्छव* मे भी। *उत्सव* का रूप यदि *उस्सव* भी मिलता हो तो *उस्सव* को किसी अन्य बोली से आया हुआ समझना चाहिए या परिस्थिति की विभिन्नता खोजनी चाहिए। इसी प्रकार अवधी में शब्द की मध्यवर्ती *क्ष माछी* (<*मक्षिका*) मे छ् के रूप मे और *आँखी* (<*अक्षि*) और *ममाखी* (<*मधुमक्षिका*) मे ख् के रूप मे मिलती है तो या तो परिस्थिति की विभिन्नता होनी चाहिए या इनमे से एक (छ् अथवा ख्) रूप किसी दूसरी बोली से आया है। परिस्थिति की अभिन्नता में एक सुश्लिष्ट भाषा में किसी ध्वनि का केवल एक ही विकास समान रूप से जहा जहा उस बोली का क्षेत्र है सर्वत्र होता है।

(४) यह ध्वनिविकास पूर्व पीढ़ियों के बोलने वालों के उच्चारण से नियत किया हुआ एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ता रहता है। टवर्ग का उच्चारण उत्तर भारत में पाणिनि के समय में मूर्धा स्थान से होता था और आज हिन्दी टवर्ग का उच्चारण वर्त्स स्थान के ठीक ऊपर मे होता है। हिन्दी का [illegible]

सम्पूर्ण कठोर तालु का क्षेत्र पार कर लाई यह सतत उसके आगे बढ़ने से ही हुआ है। ऐसा संभव नहीं कि जिह्वा ने एक दो पीढ़ियों तक तो आगे पग धरा हो और तब पीछे चली गई हो और फिर दो चार पीढ़ियों तक पीछे जाकर बाद को फिर आगे बढ़ना शुरू किया हो। एक ओर इन स्पर्श व्यजनों को आगे बढ़कर उच्चारण करने का जो सिलसिला जारी हुआ वह आज तक जारी है। टवर्ग में ही नहीं कवर्ग और तवर्ग में भी जिह्वा के इस आगे बढ़ने के झुकाव की गवाही मिलती है। अस्तु ध्वनिविकास पूर्व उच्चारण से निश्चित किए हुए मार्ग मे मूक गति मे वशवद भृत्य की तरह चलता रहता है।

ध्वनि-नियम—ध्वनिविकास की इस निश्चित तथा नियत गति के कारण ही ध्वनि-परिवर्तन के नियम निर्धारित किए जाते हैं और हम यह कह सकते हैं कि अमुक भाषा से अमुक भाषा में ध्वनिविकास निश्चित नियमों के अनुसार हुआ है। अथवा उस विकास की परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण कर उनको निश्चित शब्दों में व्यक्त कर देना ही नियम बना देना है। शब्द के आदि का परन्तु व्यजन से असयुक्त सस्कृत का प् सब प्राकृतों में प् ही रहता है यह एक ध्वनि-नियम है। यह सब प्राकृतों में व्यापक है। शब्द के आदि का सस्कृत य् प्राकृतो में ज हो जाता है यह भी एक ध्वनि नियम है पर यह सब प्राकृतों पर लागू नहीं, मागधी मे य ही रहता है। और लट्ठी (=यष्टि में ल्) हो जाना जो अपवाद दिखाई पड़ता है (शायद समानार्थक लगुड का प्रभाव आदि) उसकी परिस्थिति की विभिन्नता ढूंढ़नी चाहिये। इस प्रकार ध्वनिविकास के नियम कोई अधिक व्यापक, कोई कम व्यापक होते हैं। संस्कृत के शब्दों के आदि का स् शौरसेनी प्राकृत में स् ही रहता है पर आदि का होते हुए भी न् या म् के परवर्ती होने पर ह् हो जाता है और स्थानविपर्यय भी कर लेता है (*स्नान*>*ण्हाण*, *स्मः*>*म्हो*)। इस प्रकार एक नियम जो भाषा भर में व्यापक मालूम होता था वह परिस्थितयों के अनुकूल सकुचित हो गया। संस्कृत के एक ही शब्द *मध्ये* के *मॉझ*, *मॅह*, *मॉ*, *में* आदि कई रूप हिन्दी बोलियों में मिलते हैं और यह अनेक-रूपता काल अथवा देश की भिन्नता के कारण ही हो सकती है। फिर पग पग पर भाषा अपनी पूर्वकालीन अथवा समकालीन भाषाओं से नए नए शब्द ग्रहण करती रहती है और इस प्रकार एक ही पुराने शब्द के अनेक विकास एक ही बोली मे नजर आते हैं।

ध्वनिविकास के ये नियम भूतकाल के बारे ही में हमें जानकारी प्राप्त

कराते हैं, और इस प्रकार किसी भाषा का पूर्ववर्ती भाषा से विकास निर्धारित करते हैं, पर इस वर्तमान भाषा के भविष्य के बारे में कुछ नहीं बताते। संस्कृत के दो स्वरों के मध्यवर्ती क्, ग्, त्, द्, स्पर्श वर्ण, ह्रस्व मात्रा वाले, वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में लुप्त हैं, पर संस्कृत के कुछ संयुक्त व्यंजन प्रथम दीर्घ व्यंजन (क्क्, ग्ग, त्त्, द्द्, आदि) में परिवर्तित होकर आज ह्रस्व स्वरूप में (पका, माग, पाती, सूद आदि में) वर्तमान हैं। क्या इनकी भी भविष्य में संस्कृत के क्, ग्, त्, द्, की-सी गति होगी? इस प्रश्न का उत्तर साहसी भाषा-विज्ञानी भी नहीं दे सकता। जो विकास होता आया है उसकी प्रवृत्ति उसी मार्ग पर होगी, बस इतना भर बतलाया जा सकता है। टवर्ग के उच्चारण में अथवा कवर्ग और तवर्ग के उच्चारण में जिह्वा जो आगे को बढ़ती आई है वह बढ़ती रहेगी, बस ऐसी प्रवृत्ति का निर्देशमात्र भाषाविज्ञान कर सकता है। इसके आगे क्या होगा नहीं कहा जा सकता। और कौन जाने यदि परिस्थिति भिन्न हो गई और उत्तरभारत में ऐसी जाति ने यहां के निवासियों को ऐसा छाप लिया जिसकी प्रवृत्ति उच्चारण में जिह्वा को पीछे ले जाने वाली हो तो क्या जाने उस प्रभाव से सदियों से आई हुई यह प्रवृत्ति कुंठित हो जाय।

इस प्रकार ध्वनिविकास के नियम को अटल कहना और उसकी भूतविज्ञान आदि के नियमों से तुलना करना उचित नहीं। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का जो सिद्धांत खोज निकाला वह सब कालों और देशों में व्यापक है। भाषाविज्ञानी द्वारा ढूँढा हुआ ध्वनिविकास का नियम नियत देश और नियत काल के विषय में ही लागू होता है। भूतकाल के एक निश्चित जनसमुदाय की निश्चित भाषा की निश्चित परिस्थिति में ही ध्वनिविकास के नियम की अटलता है, इतना ध्यान रखना चाहिए।

ध्वनिविकास के इन नियमों की जानकारी से हमें भाषा का विकास समझ पड़ता है और उस भाषा से सम्बद्ध पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान भाषाओं के अध्ययन में सुगमता होती है, यही इन नियमों की उपयोगिता है।

ध्वनिविकास से कभी कभी परिस्थिति के अनुसार बिल्कुल नई ध्वनि भाषा में आ जाती है, जैसे मसूरी आदि स्थानों पर नौकरों कुलियों (डाडयों) के उच्चारण में ज (आज>आज़)।

ध्वनिविकास के परिणाम-स्वरूप कभी ऐसे शब्द जो विभिन्न ध्वनियों के और विभिन्न अर्थ के थे, समान-ध्वन्यात्मक हो जाते हैं पर अर्थ विभिन्न ही रहता है, उदाहरणार्थ—काज, काज; काम, काम; हार, हार; पैना, पैना; गाड़ी, गाड़ी

खोया, खोया; गया, गया (तीर्थ विशेष); *जुआ* (यूका), *जुआं* (युग), *जुआ* (द्यूत); *खाना, खाना* (ख़ाना); *जाना, जाना* (मालूम किया); स० *भक्त, भक्त; सैन्धव, सैन्धव; गौः, गौः;* पा० *अस्स* (अन्य), *अस्स* (स्यात्), *अस्स* (अश्व); प्रा० *कइ* (कवि), *कइ* (कति), *कइ* (कपि)।

इस प्रकार के समान ध्वनि वाले किन्तु विभिन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्द प्रायः प्रत्येक भाषा में होते हैं और जब तक प्रकरण के अनुसार उनके द्वारा भ्रम की कोई संभावना नहीं होती, उनको कोई छेड़ता नहीं और वे ज्यों के त्यों भाषा में वर्तमान रहते हैं। पर यदि उनके प्रयोग से भ्रम होने लगता है तो फिर उस भ्रम को दूर करने के लिए उपाय किए जाते हैं। भ्रम की संभावना तभी होती है जब एक ही प्रकरण में दोनों का प्रयोग हो सकता हो। उदाहरण के लिए हिन्दी का *बड़ा* शब्द है। इसका प्रयोग क़द में बड़ा या आयु में बड़ा दोनों अर्थों मे होता है। यदि छोटे बच्चे देवदत्त के दो भाई उससे बड़े हैं एक रामदत्त और दूसरा यज्ञदत्त और रामदत्त यज्ञदत्त से अवस्था में तो बड़ा है पर कद में छोटा है तब देवदत्त को रामदत्त को *बड़े दादा* और यज्ञदत्त को *छोटे दादा* कहने में उलझन होती है। वह साक्षात् देखता है कि यज्ञदत्त रामदत्त से है तो (क़द में) बड़ा पर कहलाता है छोटा। उम्र की बात उस समय उसकी समझ में नहीं आती। इस प्रकार की विषम परिस्थिति को सरल करने का उपाय यही है कि कद की या अवस्था की बड़ाई छोटाई के लिए अलग अलग शब्द रक्खे जायँ। या तो *जेठा* शब्द से अवस्था की बड़ाई सूचित की जाय या *लम्बा* शब्द से क़द की। संस्कृत का *सन्ध्या* शब्द जो सवेरे शाम (प्रातः सन्ध्या, सायं सन्ध्या) दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था, भ्रम के कारण ही केवल अब शाम (*सन्ध्या, संझा, सांझ*) के अर्थ में प्रयोग में आता है। अंग्रेजी में *सन्* शब्द दो अर्थों में आता है—*बेटा* और *सूरज*। भ्रम की संभावना है क्योंकि सवेरे दोनों उठते (उगते) हैं। इसीलिए अब बेटा का बोध कराने वाले *सन्* शब्द के लिए *ब्वाय* या *लैड्* शब्द का बोलचाल की भाषा में प्रयोग होने लगा है। बार बार की व्याख्या के श्रम की अपेक्षा दो में से एक अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के लिए किसी भिन्न-ध्वन्यात्मक शब्द का प्रयोग आ जाना अधिक स्वाभाविक है। सुरप्रधान चीनी आदि भाषाओं में समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थ-बोधक बहुत से शब्द होते हैं और उनका विभेद सुर की विभिन्नता से ही किया जाता है। इसी प्रकार बलाघात-प्रधान भाषाओं में बलाघात द्वारा।

सन्धि आदि के कारण भाषा में आया हुआ ध्वनि-विकार कभी-कभी अस्थान भी आ जाता है। उदाहरणार्थ—प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के अंतिम व्यंजन का लोप पाया जाता है (*सम्यक्*>*सम्मा*, *यावत्*>*जाव*) किन्तु *एव* के पूर्व यदि वही शब्द आवे तो उस व्यंजन का पुनर्जीवन (आदेश के रूप में) हो जाता है (*यावदेव*>*जावदेव*)। पर *सम्मदेव* (<*सम्यक् एव*=*सम्यगेव*) में द का अस्तित्व है जो अस्थान है क्योंकि *ग* होना चाहिए था। प्रत्यक्ष ही यह *जावदेव* के दृष्टान्त पर हुआ है। इसी प्रकार पा० *उसभोरिव* (*वृषभः इव*=*उसभो इव*) *अरिरिव* आदि के साथ अस्थान सादृश्य के कारण प्रयोग में आया है। संस्कृत भाषा में ही *व-ब*, *स-श* के विकल्प की नींव भी कुछ ऐसे ही कारणों पर निर्भर रही होगी।

सादृश्य का प्रभाव जोड़ी के शब्दों में बहुधा दिखाई पड़ता है। सं० *स्वर्ग-नरक* हिन्दी में *स्वर्ग-नर्क* हो गए और बहुधा *नरक* के स्थान पर *नर्क* पढ़े लिखों के मुख से निकलता है। इसी प्रकार *सुख* के सादृश्य पर हिं० *दुख* (सं० *दुःख*) अवधी *ॲधेरु* (हिं० *ॲधेरा*) के वजन पर अव *उजेरु* (हिं० *उजाला*) आदि उदाहरण हैं। बच्चों की लोरी के गीत *सोने चाँदी का है पलका। बिस्तर तकिया है मखमल का* में *सोने* के स्थान पर छोटी बच्ची *सोंदे* बोलती है जो स्पष्ट ही *चाँदी* का प्रभाव है।

सादृश्य के अस्थान में प्रयोग करने के उदाहरण पंडितमन्य व्यक्तियों के मुख से बहुधा सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत न जानने वाले 'विद्वान' *इच्छा* को *इस्छा*, *शाप* को *श्राप* और *बन्धन* को *बन्धन* बोल कर अपनी पंडिताई का परिचय देते हैं। *शाप* का *श्राप* तो कई सदियों से प्रचलित पुराना रूप है। इसी का विकसित *सराप*, *सरापब* रूप अवधी में चलता है, *शाप* तो कभी का गायब हो गया। बहुतेरे *प्रण*, *गल्प* और *संगठन* को संस्कृत के शब्द समझते हैं। इससे यह मालूम होता है कि यह अस्थान सादृश्य वाले शब्द कुछ व्यक्तियों की भूल की सनक तक ही सीमित नहीं रहते, भाषा में वस्तुतः व्यापक रूप में आ जाते हैं।

पूर्वकालवर्ती स्वदेशी भाषा के विषय में इस प्रकार के प्रयोगों के बहुतेरे उदाहरण पालि भाषा में मिलते हैं। संस्कृत के अघोष स्पर्श वर्णों का पालि के समय में सघोष वर्ण द्वारा आदेश प्रायः हो गया था पर ऐसा अनुमान है कि पालि ग्रंथ-संपादकों ने अपनी पुस्तकों को प्राचीनता का आकार देने के लिए संस्कृत के अघोष वर्णों का ही प्रयोग किया। इस काम में वह यत्न से अस्थान

प्रयोग कर गए। धम्मपद से ही कुछ उदाहरण ये हैं—*कुसीत* (<*कुसीद*), *अलापून्* (<*अलाबून्*), *पाचेति* (<*प्राजयति*), *पिथीयति* (<*पिधीयते*)।

विदेशी भाषा के शब्दों के, इस प्रकार के अनर्थ प्रयोग के, भी प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। नगरवी शहर *लखनऊ* को *लखनऊ* कह कर लोग समझते हैं कि हम ठीक नाम ले रहे हैं। *जवाब* को *जवाब*, *रवाज* को *रवाज*, *जिगर* को *जिगर* आदि कहने वालों की भी कमी नहीं है।

जिस प्रकार पूर्ववर्ती भाषाओं अथवा विदेशी भाषाओं के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग होते हैं उसी प्रकार वर्तमान भाषाओं और बोलियों के भी। अकसर देखा गया है कि किसी चुनाव के लिए खड़ा हुआ नगरवासी जब देहात में सभाओं में बोलता है तब निजत्व स्थापित करने के लिए वह ग्रामवासियों की बोली बोलने का उद्योग करता है। उसके इस प्रकार के उद्योग से उसे वोट भले ही मिल जायँ पर वह गाँव में हँसी दिल्लगी के लिए अपनी भाषा के रूप में काफी सामग्री छोड़ जाता है।

ऊपर लिखे सारे प्रयोग वक्ता के अज्ञान में होते हैं। पर कभी कभी मनुष्य अपनी भाषा से खिलवाड़ करता है और शब्दों को बिगाड़ कर बोलता है। यह प्रयोग जानकर, विनोद आदि के लिए होते हैं और कभी कभी कोई कोई भाषा में टिक जाते हैं।

कवि भी भाषा को अपनी कल्पना का अपर्याप्त माध्यम पाकर शब्दों के नए रूपों का प्रयोग करता है। इनमें से भी कुछ भाषा में स्थिर स्थान पा जाते हैं।

बारहवाँ अध्याय

पद-रचना

ऊपर हम देख चुके हैं कि भाषा का अवयव वाक्य है, अथवा भाषा वाक्यों का समूह है। वाक्य में ध्वनियों का समूह रहता है। इस ध्वनि समूह के भी छोटे छोटे समूह बनते हैं, एक तो उच्चारण की सुविधा के अनुसार और दूसरे अर्थ-व्यंजकता की सुविधा के अनुसार। पहली श्रेणी के समूहों की जानकारी ध्वनिविज्ञान से प्राप्त होती है और दूसरी की पद-रचना-विज्ञान के द्वारा। दूसरी श्रेणी के समूहों को शब्द या पद कहते हैं। पूरे वाक्य की प्रतिमा मस्तिष्क में रहती है और यही ध्वनि-समूह द्वारा मुख से निकलती है और इन ध्वनियों के द्वारा ही अन्य मनुष्य हमारे मस्तिष्क में स्थित विचारों को समझ सकते हैं। ध्वनियों का प्रतिबिम्ब भी मस्तिष्क में रहता है। पर शब्दों का अस्तित्व इतने निश्चित रूप से वहाँ नहीं रहता, तब भी अन्तःकरण में कहीं न कहीं इनका रूप भी रहता है जहाँ से ये बनते बिगड़ते रहते हैं।

कभी कभी वाक्यात्मक प्रतिमा मस्तिष्क में कुछ रहती है और उच्चारण कुछ हो जाता है। *पम्प में हवा भर दो* आदि वाक्य इसी के उदाहरण हैं। अथवा सामने खड़ी हुई *सावित्री* को पुकारना चाहें और उसे पुकारें *सरोजिनी* (इसी को साहित्य-शास्त्री गोत्रस्खलन कहते हैं)। लिखी हुई चीज पढ़ने में इस प्रकार की भूल अनायास ही हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि प्रयत्न-लाघव के लिए बहुधा हम पूरे शब्द न पढ़कर उसके अंशमात्र से शब्द का अस्तित्व प्राप्त कर आगे बढ़ जाते हैं। इस जल्दी में भूल हो जाना कोई अचरज की बात नहीं। यही जल्दी अथवा मस्तिष्क की शिथिलता कभी कभी उच्चारण की भूलों के मूल में रहती है।

वाक्य में कभी कभी एक ही पद रहता है और बहुधा कई। पर वाक्य में चाहे जितने पद रहें, उसका ग्रहण समष्टि-रूप से होता है। वाक्यार्थ ग्रहण करते समय हमारा मन प्रत्येक ध्वनि या प्रत्येक शब्द (पद) पर नहीं रुकता। परन्तु वाक्य का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि उसमें दो तत्त्व मिले रहते

हैं—कुछ ध्वनियां अर्थतत्त्व का बोध कराती हैं और अन्य उन अर्थतत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध का। यह *सुन्दर रचना तुलसीदास की है*, इस वाक्य में *सुन्दर, रचना, तुलसीदास* यह विशिष्ट अर्थोद्बोधक ध्वनि-समूह हैं। इनसे हमारे दिमाग में उपस्थित निश्चित विचारों का बोध होता है। बाकी के यह, की और है शब्द कोई विशिष्ट अर्थ नहीं बताते, केवल *रचना* और *तुलसीदास* का परस्पर सम्बन्ध जतलाते हैं। यह शब्द किसी विशेष रचना का निर्देश करके उससे वक्ता के निकटस्थ होने की सूचना देता है, की, *तुलसीदास* और *रचना* का परस्पर कर्तृत्व-कृति सम्बन्ध स्थापित करती है और है उस रचना के वर्त्तमान अस्तित्व और उस सम्बन्ध के वर्तमानत्व की सूचना देता है।

अर्थतत्त्व से अभिप्राय भाषा के उन अंशों से है जो अर्थ अथवा विचार का उद्बोध कराते हैं। **सम्बन्धतत्त्व** से तात्पर्य उन अंशों से है जो अर्थतत्त्व द्वारा व्यक्त किए हुए विचारों के परस्पर सम्बन्ध की सूचना देते हैं।

किसी भी भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि मनुष्य-समुदाय में विचारों को व्यक्त करने की कुछ धाराएं बन जाती हैं जो प्रवाहरूप से चलती रहती हैं और जिनमे सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार हेर फेर होता रहता है। संस्कृत बोलने वालों की विचारधारा एक प्रवाह से चल रही थी जिसका ज्ञान हमें संस्कृत के वाक्यों के विश्लेषण से होता है, पालि आदि उत्तर-कालीन भाषाओं की धीरे धीरे बदलती गई पर प्रवाह अक्षुण्ण रूप से आधुनिक आर्य भाषाओं तक मिलता है। यह प्रवाह चीनी भाषा द्वारा व्यक्त हुए प्रवाह से अथवा अरबी भाषा द्वारा व्यक्त किए गए प्रवाह से बहुत भिन्न है। अंग-रेजी के प्रवाह से भी काफ़ी भिन्न है, पर भेद की वह मात्रा नहीं जो चीनी या अरबी से है।

विचारधारा का यह प्रवाह सम्बन्धतत्त्वों को प्रकट करने के ढंगों से मालूम होता है। हर भाषा का यह ढंग जुदा जुदा होता है। विविध भाषाओं का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानियों ने सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के नीचे लिखे प्रकार बताए हैं।

(१) सम्बन्धतत्त्व अलग शब्द ही हो सकता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत के *इति, एव, अपि, च, परं* आदि, हिन्दी के *से, का, के, में, पर,* और *तब, जब, जहां तहां* आदि। सभी सर्वनाम-शब्द सम्बन्धतत्त्व ही प्रदर्शित करते हैं। कभी कभी

जो शब्द वाक्य में सम्बन्धतत्त्व जतलाते हैं और इनका स्थान भिन्न रहता है,
जैसे हिं० यदि...तो, न...न, यद्यपि.. तथापि।

(२) सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व में ही जोड़ दिया जाता है, इस प्रकार वह उसी शब्द का अंग बन जाता है। यह शब्द के आदि, मध्य अन्त में कहीं भी हो सकता है, उदाहरणार्थ स० में लङ् और लुङ् में आदि में अ (अगच्छत्, अगमत्, अचोरयत्, अचूचुरत्) जो भूतकल की क्रिया का द्योतक हो गया अथवा अ- (अकुर्वन्, अगच्छन्, अपाणिपादः) जो क्रियाओं और संज्ञाओं में निषेध का सूचक हो गया, मध्य में य- (गम्यते, हस्यते, चोर्यते) भाववाच्य अथवा कर्मवाच्य का द्योतक, अथवा अय पय करति-कारयति, स्नाति (स्नापयति) जो प्रेरणा की सूचना देने लगाः अन्त में स्य,-स्मिन (रामस्य, सर्वस्मिन्) आदि विभक्त्यर्थक, शतृ क्त (गच्छत्, गत) आदि क्रिया के काल भाव आदि के द्योतक। इसी प्रकार हिन्दी का निषेधात्मक अ, प्रेरणार्थक -वा (करना करवाना), स्त्रीप्रत्यय आनी, आइन (पंडितानी, पंडिताइन) आदि, विभक्त्यर्थक हि ए (घरहि, दुआरे) आदि इसी के उदाहरण हैं। सामी भाषाओं में इस उपाय का अवलम्बन प्रचुर मात्रा में किया जाता है। वहां अर्थतत्त्व तीन व्यंजनों द्वारा उद्बोधित होता है और प्राय. सभी शब्द आगे पीछे बीच में कुछ ध्वनियों (विशेष कर स्वरों) को जोड़ कर बनते हैं, जैसे व् ल् द् इन तीन की इसी क्रम की समष्टि का अर्थ पैदा करना होता है, इसी से वालिद, वल्द, तवल्लुद आदि शब्द बनते हैं; इसी प्रकार क़्, त्, ल् की समष्टि से क़ातिल, कत्ल, मकतूल, कतल, कुतिल, यक्तुलु, कित्ल, किताल, कातल, क्, त्, ब्, से किताब, कुतुब, कातिब, मकतूब, तकूतुब, कतबत आदि।

(३) अर्थतत्त्व की ध्वनियों में कुछ परिवर्तन कर देने (एकाध का लोप करके उसके स्थान पर दूसरी बिठा देने) से भी सम्बन्धतत्त्व का बोध कराया जाता है, उदाहरणार्थ संस्कृत में शृङ्ग (सींग) शार्ङ्ग (सींग का बना हुआ), पुत्र-पौत्र, हिन्दी में पिटना-पीटना; कटना-काटना, मरना-मारना, बकरा-बकरी, पोथा-पोथी, फूला-फूली आदि।

(४) अर्थतत्त्व की ध्वनियों में ध्वनिगुण (मात्रा, सुर या बलाघात) का भेद उपस्थित कर देने से भी सम्बन्धतत्त्व का बोध हो जाता है, जैसे अंगरेजी में बलाघात के ही द्वारा शब्द क्रिया है या संज्ञा इसका बोध होता है 'कन्डक्ट (संज्ञा) कन्'डक्ट (क्रिया) ('Conduct-Con'duct), रे-कर्ड (संज्ञा)

रे-'कर्ड (क्रिया) ('Record-Re'cord), चीनी और अफ्रीकी भाषाओं में सुर के द्वारा निषेध आदि का बोध होता है। अफ्रीकी भाषा फुल के एक वाक्य का उदाहरण ध्वनिगुण के अध्याय मे ऊपर पृ० ५८ पर दिया गया है।

(५) जैसे गाने में क्षणिक विराम, अथवा वाक्यों के बीच का विराम पर्याप्त भाव का बोधक होता है, वैसे ही किसी अर्थतत्त्व मे ध्वनियों को जोडकर या उनमे परिवर्तन करके जब रूपों की श्रेणी बनती है तब अर्थतत्त्व मे कोई विकार न उत्पन्न करना और उसको ज्यों का त्यों छोड़ देना भी सम्बन्धतत्त्व का द्योतक हो सकता है। वैदिक-पूर्व और उत्तर-कालीन संस्कृत भाषा मे किसी किसी संज्ञा का अविकृत रूप ही (*पात्, सरित्, जलमुक्, वणिक्, यशः*) प्रथमा एकवचन का द्योतक होता था। हिन्दी मे धातु का अविकृत रूप (*कर, चल, जा, खा*) क्रिया के आज्ञार्थ का बोधक होता है।

(६) अर्थतत्त्व का वाक्य मे अथवा वाक्यांश मे स्थानमात्र ही कभी कभी सम्बन्धतत्त्व का बोधक होता है। उदाहरणार्थ हिन्दी मे *राम गीत गाता है*; *गीत अच्छा लगता है* इन दो वाक्यों मे *गीत* शब्द का वाक्य मे स्थान ही उसके कारक का बोधक है। समास मे तो शब्द के स्थान पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। *मल्लग्राम* (पहलवानों का गांव) और *ग्राममल्ल* (गांव का पहलवान), *राजपुत्र* (राजा का लड़का) और *पुत्रराज* (लड़कों मे राजा, श्रेष्ठ) आदि प्रयोगों मे अपेक्षाकृत प्रथम या द्वितीय स्थान ही सम्बन्ध-तत्त्व को जतलाता है।

इस तरह सम्बन्धतत्त्व को प्रकट करने के विभिन्न उपाय होने के कारण भाषाओं की रचना की भिन्न भिन्न शैलियाँ मालूम पडती हैं। किसी किसी भाषा मे अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व इस ढंग से मिला हुआ रहता है कि एक ही शब्द दोनों तत्त्वों का पूर्णरूप से बोधक होता है। प्राचीन आर्य और सामी भाषाएँ अधिकांश मे इसी ढंग की हैं। इनमे सम्बन्धतत्त्व को बताने के लिए स्वरक्रम (*गुण, वृद्धि* आदि *अवश्रुति*), आदि, मध्य या अन्त मे प्रत्यय लगाना, ध्वनियों में कुछ लोप, आदेश आदि कर देना—इत्यादि उपाय काम में लाए गए हैं। कुछ अन्य भाषाओं मे सम्बन्धतत्त्व के अंश अलग ही शब्द रहते हैं, जैसे चीनी भाषा में सम्बन्धतत्त्व वाले शब्दों को रिक्त और अर्थतत्त्व वालों को पूर्ण कहते हैं। दोनों का अस्तित्व अलग अलग रहता है। अफ्रीका की कुछ (बान्टू आदि) भाषाओं मे एक ही सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त

करने के लिए एक से अधिक शब्द रहते हैं। कुछ भाषा-परिवारों (फीनो उग्री या तुर्की-तातारी) में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जुड़ा रहता है परन्तु उसका अस्तित्व इतना प्रत्यक्ष होता है कि बिना अर्थतत्त्व को जरा भी छेड़े हुए उसको अलग कर सकते हैं। कोई भी भाषा ऊपर लिखे उपायों में से केवल एक ही का अवलम्बन नहीं करती। इनमें से एक उपाय की प्रचुरता देखकर ही हम कह देते हैं कि अमुक भाषा अमुक उपाय का अवलम्बन करती है। हिन्दी ही को ले लीजिए। आर्य भाषा होने के कारण बहुत से शब्दों मे सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व में जुड़ा हुआ अभिन्न रूप में दिखाई देता है, किन्तु इस अभिन्नता की मात्रा संस्कृत मे कम है। चीनी भाषा की तरह इसमें सम्बन्धतत्त्व को बतलाने के लिए विभक्त्यर्थक आदि अलग ही अस्तित्त्व रखने वाले शब्दों की संख्या है और सो भी कम नहीं। बान्टू भाषा की तरह कुछ प्रयोगों (यदि तो आदि)में एक से अधिक शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते हैं। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनमे फीनी या तुर्की भाषा की तरह सम्बन्धतत्त्व का अंश बिना अर्थतत्त्व को छेडे अलग ही झलकता है।

अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का परस्पर भेद समझ लेने पर भी शब्द क्या है यह सवाल हल नहीं होता। संस्कृत के वैयाकरणों ने शब्द के प्रयोग को 'पद' की संज्ञा दी है। ध्वनियों का समूह ही शब्द माना गया है। यदि उसमें प्रत्यय जोडकर उसे वाक्य मे व्यवहार के योग्य कर लिया जाय (जिस प्रक्रिया से उसमें अर्थ को उद्बोधित करने की सामर्थ्य आ जाय) तो उसे पद कहते हैं। यही पाणिनि द्वारा दिए गए पद के लक्षण (सुप्तिङन्त पदम्) का अभिप्राय है। वैयाकरण की दृष्टि मे जब तक प्रकृति मे प्रत्यय नहीं जुटता तब तक उसके अर्थ का कोई बोध नहीं होता है और इसीलिए ऐसे पदों में (यहां तक कि नीचैः आदि अव्ययों) मे भी जिनमे कुछ भी विकृति नहीं आती, उन प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ी है और उन प्रत्ययों के तात्कालिक लोप की। तथापि सिद्ध शब्द के लिए पद शब्द का प्रयोग और असिद्ध के लिए केवल शब्द का प्रयोग करके दोनों का भेद रखना उचित है। किसी किसी भाषा में पद ही पूरा वाक्य होता है अथवा वाक्य ही पूरा पद होता है। एस्किमो ऐसी ही एक भाषा है। बांटू में हम देख भी चुके हैं कि दो शब्दों को मिलाकर या सम्बन्धतत्त्व-बोधक पद का बोध होता है। चीनी भाषा मे कभी कभी एक से अधिक शब्द मिलाकर ही अर्थतत्त्व का बोध होता है। उदाहरणार्थ इ-फु (वस्त्र), फु-न-च्श्रा (पिता)। इन दो दो शब्दों के समूह को भी पद कह सकते

हैं। कहीं कहीं ये दो शब्द वाक्य में अलग अलग एक दूसरे से दूरस्थित रह सकते हैं। फ्रेंच भाषा का *न पा* (नहीं) उदाहरण है (*ज न ले पा व्यू*—मैंने नहीं देखा)। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पद का नीचे लिखा लक्षण ठीक मालूम होता है—

"पद उस ध्वनि या ध्वनिसमूह को कहते हैं जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्त्व का, अर्थतत्त्व का अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि-समूह है तो एकत्र और कभी कभी अनेकत्र भी उसके अंशों की स्थिति रहती है।"

हर भाषा में उसकी परम्परा के अनुसार ही पद का विशिष्ट लक्षण करना पड़ेगा। पर साधारण रीति से उपर्युक्त लक्षण सभी भाषाओं के पदों के लिए उपयुक्त होगा।

पद का लक्षण कर देने पर, शब्द के विषय में भी कुछ कहना जरूरी है। ऊपर कह ही चुके हैं कि शब्द पद की उस अवस्था का नाम है जब उसमें अर्थ का उद्बोध नहीं हुआ। परन्तु सामान्य रूप से उसमें अर्थ निहित रहता है। ध्वन्यात्मक शब्द और व्याकरणात्मक शब्द में यह अन्तर है कि ध्वन्यात्मक शब्द एक साथ उच्चारण में आता है। सुविधा के अनुसार उसमें एक ही व्याकरणात्मक शब्द (जैसे *नीचैः प्रविशति* में) एकाधिक व्याकरण-शब्द (*अग्निश्च*) अथवा एक व्याकरण-शब्द और द्वितीय का कुछ अंश (*पुत्रः अस्माकं=पुत्रोऽस्। माकं*) हो सकता है। व्याकरणात्मक शब्द में अर्थ का बोध कराने की, विशिष्ट भाषा की परम्परा से, शक्ति रहती है। जब ध्वनियों के किसी समूह में व्याकरण के प्रयोग के अनुसार अर्थ के बोध कराने की शक्ति होती है तब उसे शब्द की संज्ञा देते हैं।

तेरहवाँ अध्याय

पदविकास

व्याकरणात्मक धाराएँ--ऊपर कह चुके हैं कि भाषा का अवयव वाक्य है। हमें सम्पूर्ण वाक्य से अर्थ का बोध होता है। हमारा अनुभव प्रथम वस्तुओं और जीवों पर केन्द्रित होता है, फिर गुणों पर। वस्तुओं से भिन्न, अलग से गुण का बोध धीरे धीरे जैसे जैसे अनुभव बढ़ता जाता है, होता जाता है। वाक्य द्वारा उद्बोधित अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा में किन्हीं धाराओं में होता है जो स्वाभाविक और सर्वसाधारण हो जाती हैं। आज हम हिन्दीभाषी लोग क्रिया में भी लिंग रखते हैं, यह हमारे लिए सर्वसाधारण और स्वाभाविक सी बात है। हमारी भाषा इसी धारा में चली आई है, जिस धारा का विकास संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के क्रम से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पर क्रिया में लिंग का भेद करना अंगरेजी या बगाली मे नही होता—इन भाषाओं की स्वाभाविक धारा इस बारे मे हमारी से बिल्कुल विपरीत है। इसी प्रकार जिन भाषाओं का हमारी भाषा से जितनी दूर का सम्बन्ध है उनकी धाराएं उतनी ही भिन्न होंगी इन धाराओं का विश्लेषण व्याकरण द्वारा होता है। विशिष्ट सम्बन्धतत्त्वों द्वारा ही इन धाराओं का निर्धारण होता है। इस प्रकार शब्द का रूप ही इन धाराओं का निरूपण करता है, यदि शब्द के रूप की विभिन्नता नहीं है तो समझना चाहिये कि वह धारा नही है। संस्कृत मे विशेष्य के लिंग के अनुसार विशेषण का लिंग होता था—(सुन्दरः पुरुषः, सुन्दरी स्त्री, सुन्दरं कमलं) परन्तु आज हिन्दी मे अधिकांश विशेषणों मे लिंग का भेद नही होता (सुन्दर पुरुष, सुन्दर स्त्री, सुन्दर कमल) जैसा कि रूप की अभिन्नता से स्पष्ट है और जिनमें है भी (मोटा आदमी, मोटी औरत) वहां भी मिट जाने के लक्षण दूर से दिखाई पड़ रहे हैं। यदि किसी भी सम्बन्धतत्त्व द्वारा लक्षित रूप विभिन्न न हो तो समझ लेना चाहिए कि वह धारा उस भाषा के इतिहास में या तो थी ही नहीं या थी तो विलुप्त हो गई। संस्कृत मे आशीर्लिङ् और विधिलिङ के लिए जुदा जुदा रूप थे, प्राकृत-काल में उनकी एकरूपता हो गई। और

आज हिन्दी मे इनकी तथा प्राचीन आज्ञा (लोट्) के रूपों की एकरूपता पाई जाती है। *बच्चा सुखी रहे* (आशीर्वाद), *वह बिछौने से उठकर मुँह धोए* (विधि), *वह खाना खाए* (आज्ञा), और *यदि वह बीमार पड़े* (संकेत) इन सब प्रयोगों मे क्रिया के रूप के लिए एक ही सम्बन्धतत्त्व है। ऐसी दशा मे हम कह सकते हैं कि हिन्दी में आशीर्वाद आदि के लिए विभिन्न धाराएँ नहीं हैं। इस प्रकार इन व्याकरण-सम्बन्धी धाराओं का अध्ययन विशिष्ट भाषा के सम्बन्ध में ही और सो भी उसके इतिहास के किसी विशिष्ट समय के बारे में ही हो सकता है।

लिङ्ग, वचन, कारक (कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि), पुरुष (उत्तम, मध्यम, अन्य), काल (भूत, वर्तमान, भविष्य), प्रश्न, निषेध आदि के भाव सम्बन्ध-तत्त्वों द्वारा बतलाए जाते हैं। जिन भाषाओं में इनमें से कुछ के लिए अलग सम्बन्धतत्त्व नहीं हैं उनके विषय में निश्चयात्मक रूप से हम कह सकते हैं कि उन भाषाओं में सोचने विचारने की वे धाराएँ नहीं हैं। इस जगह पर इन सम्बन्धतत्वों द्वारा निर्दिष्ट धाराओं के इतिहास पर विचार कर लिया जाय।

लिंग

व्याकरण के अनुसार शब्दों में तीन लिंग मिलते हैं—पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुसकलिंग। परन्तु इस लिंग का नैसर्गिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व से कोई सम्बन्ध नहीं। सस्कृत में स्त्रीवाचक शब्द सभी लिंगों (*दारा:* पुं०, स्त्री, *महिला* स्त्री०, *कलत्रं* नपुं०) में मिलते हैं। संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ्रेंच आदि भाषाओं मे अचेतन पदार्थों को बतलाने वाले शब्द कोई पुल्लिग होते हैं तो कोई स्त्रीलिंग, जैसे—पानी के लिए संस्कृत में *वारि*, *जलं* आदि नपुं० पर *अपस्* स्त्री०, हिन्दी मे *बाट* (स्त्री०), *रस्ता* (पुं०), *डगर* (स्त्री०), *मार्ग* (पुं०), अरबी मे *किताब* (स्त्री०) *मौत* (स्त्री०)।

मुंडा भाषाओं मे पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भेद नहीं है। जहा भेद जतलाने की जरूरत होती है वहाँ फारसी की तरह नर और *मादह* के लिए शब्द जोड़कर लिंग-भेद किया जाता है, जैसे *आंडिया कूल* (बाघ), *एंगा कूल* (बाघिन)। सजाओं के चेतन और अचेतन ये विभाग मिलते हैं। द्राविड़ भाषाओं मे सजाओं के दो भेद पाए जाते हैं—उच्चजातीय और जातिहीन, तथा फारसी की तरह पुरुष और स्त्री सूचक शब्द जोड़कर पुल्लिग और स्त्रीलिंग का भी भेद कराया जाता है। अग्रेजी में अचेतन पदार्थों पर भी कभी कभी

पुरुषत्व और स्त्रीत्व का आरोप जान बूझ कर किया जाता है; उस भाषा में सूर्य-वाचक शब्द सन् पु० और चन्द्र-वाचक शब्द मून् स्त्री० होता है, *शिप्* (जहाज) और ट्रेन स्त्री० होते हैं। इस प्रकार भाषाओं में लिंग के बारे में बड़ी विभिन्नता है।

यदि अचेतन पदार्थों के लिए सदा नपुंसकलिंग और चेतन जीवों में पुरुषों के लिए पुल्लिंग और स्त्रियों के लिए स्त्रीलिंग होता तो बात युक्तिसंगत होती। पर अधिकतर बात इसके विपरीत है। इसका क्या कोई कारण है? प्रश्न के तीन भाग हैं—(क) पुरुष के लिये स्त्रीलिंग शब्द क्यों, अथवा स्त्री के लिए पुल्लिंग शब्द क्यों?, (ख) चेतन के लिये नपु० शब्द क्यों और (ग) अचेतन के लिये पु० और स्त्री० शब्द कैसे? वर्तमान भाषाओं के लिंग को हम खोजते-खोजते पुरानी भाषाओं तक पहुँचते हैं। हिन्दी का पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग अपना इतिहास वैदिक संस्कृत तक पाता है। गुजराती और मराठी में का स्वल्पावशिष्ट नपुंसकलिंग भी संस्कृत तक पहुँचता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के बारे में भी कह सकते हैं। आदि भाषाओं के विषय में विचार करना है।

(क) पुरुष के लिए स्त्री० शब्द और स्त्री० के लिए पुं० शब्द का प्रयोग, तब संभव है, जब पुरुष में स्त्री के कोई विशिष्ट गुण, विशेष परिस्थिति में, देखे गए होंगे और स्त्री में पुरुष के गुण, तभी विपरीत लिंग का प्रयोग हुआ होगा। संस्कृत का स्त्रीवाचक पु० दाराः शब्द शायद स्त्री के गृहप्रबन्ध के कौशल को देखकर ही पु० हुआ होगा।

(ख) चेतन के लिए नपु० शब्द का प्रयोग, संभव है, कि कुछ अचेतनत्व देखकर ही प्रयोग में आया होगा। संस्कृत का स्त्रीवाचक नपु० कलत्र शब्द शायद इस बात का द्योतक है कि स्त्री और सामग्री की तरह पिता के घर से पति के घर पहुँचा दी जाती थी।

(ग) अचेतन के लिए पु० या स्त्री० का प्रयोग अचेतन पदार्थों में जीवन की कल्पना करने से ही संभव हुआ होगा। अग्निवाचक संस्कृत के पावक, अग्नि, दहन आदि शब्द शक्ति और प्रकाश आदि गुणों का [illegible] हैं। शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये आदि मन्त्र में [illegible] शब्द का स्त्री० में प्रयोग उसके सुख, शान्ति देने के गुण का [illegible] है।

जल कोमलत्व, शान्ति आदि की कल्पना की जाय तथा [illegible] [illegible]

युक्तिसगत जान पडता है। और किसी भाषा मे यदि एक बार इस तरह का प्रयोग कुछ शब्दों में चल पड़ा तो दूसरों में भी होकर भाषा का स्वाभाविक अंग बन जाता है। वर्तमान भाषाओं में जहाँ लिंग-भेद है वहाँ से उसे हटाने की या उसे छेड़ने की यदि जरा भी बात की जाती है तो उस भाषा के बोलने वालों को बुरा लगता है। अपने आप दूर हो जाय तो कोई बात नही।

वचन

संसार की वर्तमान अधिकाश भाषाओं मे एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने का प्रबन्ध है। लिथुऐनी मे अब भी द्विवचन अवशिष्ट मिलता है। अफ्रीका की कुछ भाषाओं मे त्रिवचन के भी रूप मिलते हैं। द्विवचन और त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि जिन भाषाओ में ये हैं उनके बोलने वाले दो या तीन से आगे की गिनती नही जानते थे। संसार मे जीव और वस्तुएँ एक और अनेक दिखाई देती हैं। इसलिए एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने के लिए भाषाओं में साधन होना स्वाभाविक ही है। द्विवचन का आविर्भाव किन्ही वस्तुओं को समान और साथ साथ देखने से हुआ होगा, जैसे *दो पैर, दो हाथ, दो आँखें, दो कान, अश्विनौ* आदि। धीरे २ निरन्तर साथ रहने वाली पर भिन्न वस्तुओं अथवा जीवो के लिए भी इस वचन का प्रयोग होने लगा। *इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, द्यावापृथिवी, पितरौ* आदि योग इसी के उदाहरण हैं। और फिर द्विवचन सर्वसाधारण प्रयोग में आ गया। संस्कृत में द्विवचन था, पर पालि और बाद वाली आर्य भाषाओं से वह गायब हो गया। उसके लोप का कारण यही हो सकता है कि द्विवचन की स्वतन्त्र सत्ता का उसके विस्तृत व्यवहार के कारण कोई उपयोग नही दिखाई पड़ा। किन्हीं दो वस्तुओं का बोध कराने के लिए संख्यावाचक दो का प्रयोग करके अनेकवाचक बहुवचन को लाकर काम चल गया। इसी प्रकार जिन भाषाओ में त्रिवचन का व्यवहार है वहाँ किन्हीं वस्तुओं को तीन के समूह में देखना और उसे विशेष रूप से व्यक्त करना आवश्यक समझा गया होगा।

इन वचनों के अतिरिक्त भाषाओं मे व्यक्ति और समूह को अलग-अलग व्यक्त करने के भी साधन मौजूद रहते हैं। वैदिक सस्कृत में कई प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनमें संज्ञा बहुवचन में है और क्रिया एकवचन मे। ऐसे स्थलो में बहुवचन से केवल समूह का बोध होता है। बाद को समूहवाचक बहुत से शब्द बन गए। *गण* पुराना शब्द है। *द्वितय, त्रितय, चतुष्टय* आदि भी समूहवाचक हैं। हिंदी के *जोडा जोड़ी, गंडा* (४), *पंजा* (५), *दर्जन, कोड़ी* आदि शब्द

इसी श्रेणी के हैं। और साहित्यशास्त्री तो, विशेष समूहों की संख्या को व्यक्त करने के लिए—वेद, रस, ऋषि, वसु, रुद्र, आदित्य आदि कितने ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। किसी समूह की कल्पना करके अनेक समूहों की भी कल्पना हो सकती है, इसी कारण समूहवाचक शब्द एकवचन या बहुवचन में हो सकते हैं।

काल

काल का विचार आज जितना स्पष्ट जान पड़ता है उतने स्पष्ट रूप से पूर्व समय की भाषाओं में नहीं व्यक्त पाया जाता। संस्कृत के भूतकाल के लिए तीन रूप (अनद्यतन, परोक्ष और सामान्य) मिलते हैं। उनमें क्रिया के समाप्त होने की भावना अधिक निहित है, भूतकाल की कम, और वह काम आज से पहले खत्म हुआ, या दूर के पूर्ववर्ती समय में जिसको वक्ता ने अपनी आँखों नहीं देखा, इत्यादि भावों की विवेचना पर जोर रहता था। वर्तमान भाषाओं की काल-प्रक्रिया को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि वर्तमानकाल के रूप तो असन्दिग्ध और सुस्पष्ट हैं, अन्यों के नहीं। उदाहरण के लिए भविष्य को ही ले लीजिए। अंगरेजी में इसको व्यक्त करने के लिए अलग रूप नहीं—धातु में वर्तमान-कालिक इच्छावाचक कोई *विल्* (will) *शल्* (shall) अन्य धातु जोड़ कर ही इसका बोध कराया जाता है। फ्रेंच में भी भविष्य और भूत के रूपों में विलक्षण घालमेल है। हिंदी में तो खड़ीबोली का भविष्यकाल वर्तमान और भूतकाल के रूपों को जोड़ कर ही बनाया जाता है। *जायगा* में दो अंश हैं *जाए-*<*याति* (जाता है) और*-गा*<*गत* (गया)। यह*-गा* (*-गी, गे*) अंश वर्तमान-कालिक अन्य धातु-रूपों के बाद जुड़ा मिलता है। अवधी आदि बोलियों में, *जाब, जाइब, जइबे* आदि रूप प्राचीन कृत्य रूपों पर निर्भर हैं जिनका तात्पर्य था '......चाहिए......होगा'। ब्रज आदि में जइहै, जाई आदि रूप प्राचीन (संस्कृत) भविष्य से धीरे-धीरे विकसित हुए हैं पर संस्कृत में ही धातु और वर्तमान काल के प्रत्ययों के बीच में-*स्य* जोड़कर ही तो भविष्य का बोध कराया जाता था न।

इसी प्रकार भूतकाल का बोध भी पक्की नींव पर नहीं है। हिंदी में (तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी) इस काल का बोध निष्ठा पर अवलम्बित है जो केवल किसी काम के पूरे होने का बोध कराती थी—काल का नहीं। *यदि वर्धा गया तो महात्मा जी के अवश्य दर्शन करूंगा* आदि प्रयोगों में भूतकाल का बोधक *गया* भविष्य की बात कहता है।

मनुष्य के जीवन मे वर्तमान ही निश्चित है, "कल की राम जाने"। भूत की भी वही बात निश्चित है जो अपने अनुभव में आई हो। इसी प्रकार भाषा में भी अधिक स्थिर रूप वर्तमान काल के ही होना स्वाभाविक है अन्यों के अपेक्षाकृत अस्थिर।

प्रेरणार्थक आदि

संस्कृत मे क्रिया मे काल के ऊपर अधिक जोर न था, किन्तु क्रिया के प्रकार पर स्पष्ट जोर दिया जाता था। कर्ता स्वय क्रिया करता है या उसे कोई करने को प्रेरित करता है—इन दोनों के लिए अलग अलग (*गच्छति, गमयति*) रूप थे। किसी काम को करने की इच्छा करने के लिए जुदा रूप (*जिगमिषति*), बार बार या खूब करता है तो भिन्न ही रूप (*देदीयते*—बार बार देता है या खूब देता है) इत्यादि। आज हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में विचार की ये धाराएँ समाप्त सी हो गई हैं। यदि इन विचारों को प्रकट करने की जरूरत होती है तो अलग अलग शब्दों मे इनका बोध होता है न कि उसी धातु के विभिन्न रूपो से। इनमे से केवल प्रेरणार्थक के रूप मिलते हैं,*करना—करवाना, पढना—पढाना* आदि। अंगरेजी मे प्रेरणार्थक का भी भाव क्रिया के भिन्न रूपों से न जतला कर प्रेरणा का अर्थ बतलाने वाली किसी धातु (कॉज cause, *मेयक्* make) के प्रयोग द्वारा सिद्ध करते हैं। संस्कृत के बहुत से, इस प्रकार के भिन्न रूपों द्वारा जतलाए हुए प्रयोग आज हिन्दी मे दो या अधिक शब्दों के जोड़ से जतलाए जाते हैं, *मैं जाना चाहता हूँ, मैं ख़ूब खाता हूँ, मै चलता रहा, मै चल पडा, मैंने खाया, मैं खा गया, मैने खा डाला, मै खा चुका* आदि प्रयोगो मे विचार की जो बारीकी सुस्पष्ट है वह शब्दो द्वारा प्रकट नही की जा सकती। संस्कृत इन्हीं में से बहुतों को क्रिया के ही भिन्न-भिन्न रूपों से प्रकट करती थी।

संस्कृत की धातुएँ वैयाकरणों द्वारा दस गणो मे बाँटी गई है, एक गण की धातुओं के रूप दूसरी से आंशिक रूप से भिन्न हैं—किन्हीं धातुओं के बाद ही तुरन्त तिङ् प्रत्यय लग जाते हैं (*अद्+मि*), कुछ के उपरान्त तिङ् के पूर्व कुछ जुड़ता है(*वप्+अ+ति, विद्+य+ते, कृ+णो+ति,पूज्+अय+त* आदि), कुछ धातुओं मे धातु की ध्वनियों मे ही कुछ परिवर्तन हो जाता है (*रुध्+ति=रु+ण ध्+ति=रुणद्धि*)। किसी धातु का रूप अभ्यास प्राप्त करता है (*हु+ति=जुहु +ति=जुहोति*)। रूप की इस विभिन्नता की तह में विचारधारा की कोई विभिन्नता रही होगी, ऐसा अनुमान करना

युक्ति-संगत है। संभव है कि जिन धातुओं को अभ्यास प्राप्त होता है उनसे पहले बार बार किए जाने वाली क्रिया का ही बोध होता रहा हो; *जुहोति* (आहुति देता है) में बलि (आहुति) बार बार ही देवता को समर्पित की जाती थी। यद्यपि आज इस विभिन्नता के इतिहास की खोज करना असंभव सा है तथापि भाषाविज्ञानी का विचार इस बात पर स्थिर है कि रूप-विभिन्नता के साथ विचारधारा की विभिन्नता अवश्य रही होगी।

वाच्य

संस्कृत में तीन प्रयोग या वाच्य होते हैं—कर्तृ, कर्म और भाव। यदि किसी वाक्य में कर्तृत्व पर जोर होता है तो कर्तृवाच्य, कर्म पर तो कर्मवाच्य और क्रिया के भाव पर हो तो भाववाच्य। कर्तृवाच्य में कर्ता स्वयं काम करता दिखाई देता है। *कृष्ण भक्तों का उद्धार करते हैं* इस वाक्य में *कृष्ण* का कर्तृत्व स्पष्ट है, किन्तु *भक्तों का उद्धार किया जाता है* इस वाक्य में *उद्धार* पर जोर है चाहे *कृष्ण* करें या *राधा*, या *राधेश्याम*। इसी प्रकार *खाया नहीं जाता*, *चला नहीं जाता*, आदि प्रयोगों में क्रिया द्वारा बतलाए हुए भाव पर जोर है, *किससे नहीं खाया जाता* या *क्या नहीं खाया जाता* अथवा *किससे नहीं चला जाता* इस पर नहीं। इन तीनों प्रयोगों के लिए संस्कृत में धातुओं के अलग अलग रूप पाए जाते थे। पर आगे चल कर कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग भिन्न रूपों से न बतलाकर संयुक्त क्रिया द्वारा सिद्ध किया गया। *उद्धार किया नहीं जाता*, *खाया नहीं जाता*, *चला नहीं जाता* आदि वाक्यों में प्रधान क्रिया को जा का सहयोग प्राप्त है और इसी संयोग से कर्मवाच्य और भाववाच्य का बोध कराया गया है। कर्तृवाच्य सकर्मक अकर्मक दोनों तरह की धातुओं के रूपों में संभव है कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में और भाववाच्य अकर्मक में ही। *गुरु शिष्य को पढ़ाता है* इस प्रयोग में ऐसा नहीं कि केवल गुरु ही काम कर रहा हो *शिष्य* नहीं, क्योंकि यदि शिष्य सावधान न हो तो गुरु क्या खाक पढ़ा पाएगा। पर इस प्रयोग में कर्तृत्व का प्रयोग इसलिए है कि कर्ता का भाग प्रधान है शिष्य का गौण। *चौकीदार चोर को पीटता है* इस वाक्य में सम्पूर्ण कर्तृत्व कर्ता का ही है, कर्म की न सहायता है न सहयोग, विरोध भले ही हो। इस प्रकार सकर्मक धातुओं का प्रभाव कर्म पर अवश्य पड़ता है, अकर्मक धातुओं में वह कर्ता तक ही सीमित रहता है। कुछ भाषा-विज्ञानियों ने कुछ सकर्मक धातुओं के कर्तृत्व के विषय में सन्देह किया है जैसे *देखना*। उनका कहना है कि देखने की क्रिया में कर्ता कुछ

नहीं करता, उसके दीदे पर सामने की चीज की छाया पड़ती है और उसे बेबस देखना पड़ता है, इसी प्रकार *सुनना* है। पर यदि गहराई से विवेचन किया जाय तो बात ऐसी नहीं है। यदि हमारा अन्तःकरण क्रियाहीन हो तो सामने की ही वस्तु न दिखाई पड़े और निकटतम शब्द भी न सुनाई पड़े। इसलिए इन धातुओं के बारे में कर्तृत्व उतना ही निश्चित है जितना अन्यों में।

पद

संस्कृत में धातुएँ दो भागों में बँटी थीं—परस्मैपद और आत्मनेपद। इस विभाग की तह में क्रिया के फल का विभाग था; यदि क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिले तो आत्मनेपद और यदि दूसरे को तो परस्मैपद। उदाहरण के लिए *यजमानः यजते* और *ऋत्विक् यजति*। पहले में आत्मनेपदी क्रिया है दूसरे में परस्मैपदी। क्रियाओं का ठीक ठीक इस अर्थ में प्रयोग उत्तरोत्तर घटता गया और पालि आदि प्राकृत भाषाओं में पदों के अनुसार क्रिया की रूप-विभिन्नता लुप्त ही हो गई।

वृत्ति

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में आशीर्लिङ्, विधिलिङ्, आज्ञा आदि विभिन्न वृत्तियों के लिए भिन्न भिन्न रूप थे किन्तु हिन्दी आदि वर्तमान भाषाओं में यह विभिन्नता नहीं पाई जाती। अँगरेज़ी में व्याकरणों में यद्यपि कई वृत्तियों का उल्लेख मिलता है तब भी भाषा में अब बहुधा वर्तमान काल के रूपों से ही सभी का बोध कराया जाने लगा है।

विभक्ति

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के विभिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में सात विभक्तियाँ प्रथमा से सप्तमी तक हैं और सम्बोधन के लिए प्रथमा का ही अधिकांश में प्रयोग होता था, केवल एकवचन में अन्तर था। यदि उसको भी अलग विभक्ति मानें तो आठ होंगी। इन विभक्तियों का अलग अलग उपयोग होता था जिसका बड़ा यथार्थ और सुन्दर विवेचन पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। इन सात विभक्तियों के स्थान पर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को पार करके हिन्दी में आज दो ही मिलती हैं—एक **विकारी** और एक **अविकारी**, अर्थात् एक ऐसी जिसका मूल रूप ज्यों का त्यों रहता है और दूसरी जिसमें कुछ विकार होता है, उदाहरणार्थ—

अविकारी	विकारी
पूत, गाय	पूतों, गाएँ गायों
घोड़ा	घोडे, घोडों
कोई, कौन	किस
मैं	मुझ, मेरा
तुम	तुम्हें, तुम्हारा

खड़ी बोली में व्यजनान्त संज्ञा (लिखाई में अकारांत संज्ञा) का एकवचन में कोई विकारी रूप नहीं होता पर ब्रज अवधी आदि में इनमें से कुछ संज्ञाओं का एकवचन में भी होता है (जैसे घर-घरहि, घरइ, दुआर-दुआरे)। सर्वनामों के प्रायः सभी बोलियों में दो विकारी रूप मिलते हैं, एक पुराना षष्ठी विभक्ति का स्थानापन्न और दूसरा अन्य विभक्तियों के लिए। अँगरेजी की ऐसी ही स्थिति है। जर्मन के सर्वनामों में पुरानी सम्प्रदान विभक्ति का भी अवशेष मिलता है। पालि भाषा में संस्कृत की सभी विभक्तियाँ पाई जाती हैं, केवल षष्ठी और चतुर्थी के प्रयोग में अस्थिरता दिखाई पड़ती है, कभी षष्ठी की जगह चतुर्थी और चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी। महाराष्ट्री आदि के समय तक चतुर्थी विलुप्त हो गई और अन्य विभक्तियों के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग कुछ बढ़ गया। अपभ्रंशों के समय तक ध्वनि-विकास के सहयोग से रूप-विभिन्नता और कम हो गई और थोड़ा-थोड़ा परसर्गों का प्रयोग दिखाई देने लगा। और आज हिंदी की अधिकांश संज्ञाओं में केवल दो ही रूप दिखाई देते हैं—एक अविकारी, दूसरा विकारी। विभक्तियों के अर्थ का बोध परसर्गों द्वारा होता है। विकारी रूप बहुधा बहुवचन का होता है और लक्षण ऐसे दिखाई पड़ते हैं कि बहुवचन का विकारी रूप वहाँ भी प्रयोग में आने लगेगा जहाँ अब अविकारी आता है। खड़ी बोली में हम कहते हैं—पूत आया, पूत को प्यार करो, पूत आए, पूतों को प्यार करो। पर अवधी की कुछ बोलियों में पूतन आए, पूतन क पिआर करा खूब प्रचलित है।

जब विभक्तियों के लिए अलग अलग रूप मिलते हों तब निश्चय समझना चाहिए कि विचारधारा में इन के द्वारा व्यक्त किए गए भावों की विभिन्नता है। इन विभक्तियों के ह्रास के अनुपात से इस विचारधारा का भी ह्रास समझना चाहिए। आज इन विभक्तियों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग प्रचलित है और इनमें भी अपादानत्व और करणत्व (से) तथा कर्मत्व और सम्प्रदा-

नत्व और कर्मत्व (को, का, की) में भी विशेष भेद नहीं। इस सब से यही नतीजा निकलता है कि संज्ञाओं के विषय की वह बारीकी जिसे संस्कृत बोलने वाला बर्तता था हम नहीं बर्तते।

कारक

क्रिया के साथ विभक्तियों के संबंध को कारक कहते हैं, यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का संबंध न हो तो उस विभक्ति को कारक न कहेंगे—जैसे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एक संज्ञा या सर्वनाम का दूसरी संज्ञा या सर्वनाम के साथ संबंध जोड़ने के लिए ही होता था, इसी से संबंध कारक नहीं माना जाता।

संबंध-तत्त्वों द्वारा व्यक्त की गई और व्याकरण द्वारा लक्षित इन धाराओं का जितनी ही सूक्ष्मता से हम विचार करते हैं उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि ये धाराएँ न तो नैसर्गिक अर्थात् स्वभाव-सिद्ध ही हैं और न किन्हीं तार्किक सिद्धांतों पर निर्भर। मनुष्य-समाज कहाँ, कब किन परिस्थितियों में इन धाराओं को बनाता बिगाड़ता रहता है यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की दृष्टि से किसी सुसंस्कृत जन-समुदाय में ऐसी धाराएँ वर्तमान रह सकती हैं जो साधारण रीति से अनावश्यक प्रतीत हों। उदाहरण के लिए आर्य भाषाओं में अचेतन पदार्थों का लिंगभेद है। संसार की भाषाओं के विकास का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानी इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मनुष्य की विचारधारा क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। संभव है कि यह बात इस समय ठीक हो। हम देख ही चुके हैं कि विशेष को देख कर सामान्य और गुणी को देख कर गुण का अनुभव होता है। काली, लाल, सफेद, छोटी, बड़ी तरह-तरह की गायों को देख कर ही हमारे दिमाग में *गाय* का सामान्य रूप बनता है। तरह-तरह की चीजों में सफेद रंग को देख कर ही हमें *सफेद* का निश्चित रूप मालूम होता है। पहले हम घी, आटा, भाजी आदि का *तौलना* देख कर ही *बात तौलना* सीखते हैं, *घर जलना* देख कर ही *जी जलता* है, मिर्च आदि की कडुआहट का अनुभव पाकर ही *कड़ई बात* को त्याग देते हैं। शकर आदि की मिठास का मजा चखकर ही *मीठी बात* करते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे हैं। पर इतना निश्चय समझना चाहिए कि जब सूक्ष्मता की सीमा पहुँच जायगी तब फिर स्थूलता की ओर बढ़ेंगे। यही सृष्टि का क्रम है और यही विकास का मूलमंत्र।

सूक्ष्म की ओर जाने से यह न समझना चाहिए कि यदि किन्हीं भाषाओं में किन्हीं अंशों में धाराओं की स्थूलता पाई जाती है तो वे भाषाएँ असभ्य जन-समुदायों की हैं। वचन का विवेचन करते हुए हम ऊपर कह चुके हैं कि द्विवचन या त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि लिथुएनी या अफ्रीका बोलने वाले दो या तीन ही तक गिन सकते हैं। यदि संस्कृत में काल की निश्चित अभिव्यक्ति पर जोर न था तो यह न सोचना चाहिए कि प्राचीन आर्य दार्शनिक को काल का ज्ञान ही न था। कुछ असभ्य जातियों में भिन्न भिन्न वृक्षों के लिए शब्द तो हैं पर सामान्य वृक्ष के लिए कोई शब्द नहीं, अथवा भिन्न भिन्न कीड़े के लिए शब्द हैं पर सामान्य कीड़े के लिए नहीं। संभव है कि ये वृक्ष और कीड़े की सूक्ष्मता तक न पहुँच पाए हों पर और चीजों में सभ्य कहलाई जाने वाली जातियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता को पहुँच चुके हों।

ध्वनियों के विकास का विचार करते समय ऊपर हम देख चुके हैं कि भाषा में कुछ ध्वनियाँ लुप्त होकर अपना स्थान दूसरी ध्वनियों को देती रहती हैं। यही बात इन धाराओं पर लागू है। पुरानी धाराएँ बिगड़ती हैं और नई आती रहती हैं। जैसे सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भंडार में से कोई भाषा ध्वनियों की परिमित संख्या को ही व्यवहार में लाती है, उसी प्रकार धाराओं में से भी भाषा परिमित ही संख्या ग्रहण करती है।

भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न धाराएँ होती हैं। चीनी भाषा में षष्ठी विभक्ति के वजन की कोई चीज नहीं। उसमें सम्बन्धतत्व का बोध वाक्य में पदों के क्रमिक स्थान से होता है और यह क्रम भी संस्कृत का ठीक उलटा। जितनी ही एक भाषा से दूसरी की दूरी है उतनी ही इन धाराओं की दूरी। और इस दूरी के अनुपात में ही एक भाषा के भावों विचारों को दूसरी में प्रकट करने की मुश्किल घटती बढ़ती रहती है। किसी को संस्कृत और बंगाली का ज्ञान हो तो उनके ग्रंथों का हिन्दी में आसानी से अनुवाद कर सकता है। अंगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करना अपेक्षा-दृष्टि से ज्यादा कठिन है, भिन्न परिवार वाली अरबी या चीनी आदि से और भी कठिन। *इस मिर्च में बिल्कुल मिर्च नहीं है, चीनी मैंने खा डाली, मैं गिर और मैं गिर गया, मैं आ गया और मैं आ पहुँचा* आदि हिन्दी के वाक्यों का अंगरेजी में क्या कोई सन्तोषजनक अनुवाद कर सकेगा? *मुझ से दवात गिर पड़ी* का स्वाभाविक अँगरेजी में अनुवाद होना है—आइ ड्राप्ड द इंकपॉट (I dropped

the inkpot) पर क्या अँगरेज़ी के इस वाक्य से दवात के गिरने में मेरी असमर्थता और इस घटना के अकस्मात् हो पड़ने का आभास मिला ? *मेरा सिर चकरा रहा है* को अँगरेजी में कैसे व्यक्त किया जाय ?

हर भाषा में अलग अलग कुछ ऐसी अपनी धाराएँ होती हैं जिनको उस भाषा का बोलने वाला ही समझता है। दण्डी ने काव्यादर्श में अलंकारों का विवेचन करते हुए एक स्थान पर उदाहरण रूप कहा है—

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते॥

अर्थात् गन्ना, दूध, गुड़ आदि की मिठास में परस्पर बड़ा फ़र्क़ है पर उसको सरस्वती भी शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त कर सकती। ठीक ऐसी ही बात इन विभिन्न विचार-धाराओं की है, कौन चित्रकार उसे तूलिकापर उतारे, कौन कवि उसे शब्दों में लावे और कौन तानसेन उसे सरगम पर चढ़ावे ?

भाषा की ये धाराएँ संगठित समाज से ही उठती हैं और जब किसी विशेष धारा से समाज कुछ कठिनाई का अनुभव करता है तब उसमें अनायास और अनजान मे परिवर्तन हो जाता है। प्रयास की बचत के लिये जहाँ एक ओर रूप-विभिन्नता के विरुद्ध और एक-रूपता की ओर मनुष्य निरन्तर बहता रहता है वहा साथ ही साथ विभ्रम को दूर रखने और स्पष्टता को क़ायम रखने के लिए रूपों की अनेकता भी चली चलती है। सृष्टि की प्रत्यक्ष एकता और अनेकता के समान इन धाराओं की भी एकता और अनेकता साथ साथ रहती है। इस सम्बन्ध में जो बात ध्वनि-विकास में देखी गई वही पद-विकास में भी झलकती है।

चौदहवाँ अध्याय

पदव्याख्या

वैयाकरणों ने पदों के कई भेद बताए हैं। ग्रीक व्याकरणों में इस प्रकार के दस पद बताए गए हैं, किंतु अधिकांश में यह विभाग केवल व्याकरणों की ही चीज है। इसी प्रकार अन्य प्राचीन भाषाओं के वैयाकरणों ने पदों का विभाग किया है। इन सब में संस्कृत वैयाकरणों द्वारा की गई पदव्याख्या सबसे अधिक युक्तिसंगत मालूम पड़ती है।

पदों में कुछ अव्यय होते हैं और बाकी अन्य। अव्यय भी कई प्रकार के होते हैं—विस्मयादिबोधक, समुच्चयादिबोधक, उपसर्ग, परसर्ग आदि।

विस्मयादिबोधक अव्यय अन्य पदों से भिन्न होते हैं, उनका वाक्य से कोई संबंध नहीं होता, और ये अलग ही मनोराग का बोध कराते हैं। धिक्, हा, आः, छिः, धत्—आदि विशेष विशेष मनोरागों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। कभी कभी इन अव्ययों में ऐसी ध्वनियाँ होती हैं जो उस भाषा के अन्य शब्दों में नहीं मिलतीं, जैसे किसी करुण दृश्य को देखकर सहसा हम लोगों के मुँह से .च्.च्.च्..की ध्वनि निकलती है। किसी को डाटते समय भी हम विशेष ध्वनि करते हैं। इन सब का वाक्य की अन्य ध्वनियों से कोई संबंध नहीं होता, यह स्पष्ट है।

समुच्चयादिबोधक (और, पर, बल्कि आदि), परसर्ग (को, से, का, में, पर आदि), उपसर्ग (प्र, परा आदि) विशेषकर अर्थतत्त्वों का संबंध ही बनाते हैं, किसी अलग अर्थ का बोध नहीं कराते। केवल उपसर्ग ही धातु के अर्थ में कुछ विकृति उत्पन्न कर देता है और उस दशा में वह धातु के अनुसार ही विकार प्राप्त करता है। अँगरेजी का पद आर्टिकल् भी अब अव्यय है यद्यपि वह विशेषण से निकला। क्रियाविशेषण अव्यय हैं पर वे विशेषण से ही निकले हैं, विशेषण की शर्तें इन पर लागू होती हैं। सर्वनाम शब्द यद्यपि विकारी हैं तथापि वे केवल संबंधतत्त्व का बोध कराते हैं, किसी अर्थतत्त्व का

नहीं—*यह, वह, मैं, तू, कौन, कोई, जो* आदि ऐसे ही शब्द हैं। अंत में विचारार्थ बचते हैं—संज्ञा, विशेषण और क्रिया।

विशेषण और संज्ञा में विभेद की जड़ बहुत नाजुक है। प्राचीन आर्य-भाषा में दोनों का विकास साथ साथ पाया जाता है और अधिकाश में उनका समान रूप मिलता है। वैदिकभाषा में सुर-विभिन्नता से ही मालूम होता है कि अमुक शब्द संज्ञा है या विशेषण। आधुनिक भाषाओं में भी संज्ञा के स्थान पर केवल विशेषण ही आ जाता है, जैसे *आम मीठे भी होते हैं और खट्टे भी, पर मीठे मीठे ही है और खट्टे खट्टे* अथवा *अच्छे लड़के आए और बुरे भी, अच्छों को मिठाई मिली और बुरों को डाट फटकार*। इस प्रकार विवेचना करने पर अंत में संज्ञा और क्रिया दो ही मुख्य भेद स्थिर से दिखाई देते हैं। क्या इनमें कोई मौलिक भेद है?

कुछ भाषाओं मे **संज्ञा** और **क्रिया** मे मौलिक भेद रहा है, आर्य-भाषाएँ इनमें प्रमुख हैं। आर्य-भाषाओं की पदरचना में संज्ञा के लिए प्रत्यय एक प्रकार के (संस्कृत के सुप्) और क्रिया के लिए दूसरे (संस्कृत के तिङ्) होते हैं। पर सामी भाषाओं में प्रत्ययों के विषय में इस प्रकार का कोई निश्चया-त्मक भेद होने का कोई प्रमाण नहीं है। उदाहरणार्थ अरबी में ऊन प्रत्यय, पुल्लिंग बहुवचन बनाता है और क्रिया के पुल्लिंग मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष का अपूर्णकाल भी। फीनी-उग्री भाषाओं की संज्ञा और क्रिया की रचना में इतनी समानता है कि हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों को अलग अलग परख लेना असंभव है। उदाहरण के लिए वोगुली में *मिनी* (वह जाता है), *अलि* (वह मारता है) शब्द क्रिया हैं और *पुरि* (लेना) *उरि* (पकड़ना) संज्ञाएँ—इन सब में एक ही प्रत्यय इ जुड़ा है। सुदूर-पूर्व की भाषाओं में संज्ञा और क्रिया की भेदहीनता ही मौलिक अंश है। चीनी भाषाओं में एक ही शब्द वाक्य में अपने स्थान के अनुसार संज्ञा या क्रिया समझा जाता है। उदाहरण के लिए *लओ लओ, येओ येओ* (बुड्ढों की ओर वृद्धोचित व्यवहार करना और बच्चों की ओर बालोचित) इस वाक्य में दोनों पदों में एक संज्ञा है और एक क्रिया। चीनी वैयाकरण अपने अर्थतत्त्व वाले शब्दों में भी क्रिया-पदों को जीवित और संज्ञा तथा विशेषण को मृत मानते हैं और एक ही जीवित पद केवल सुरभेद से मृत हो जाता है। अँगरेजी में भी बलाघात के भेद से शब्द संज्ञा या क्रिया समझा जाता है। पर उसमें संज्ञा और क्रिया का भेद विशिष्ट रहता है। इस प्रकार चीनी में सर्वत्र और अँगरेजी में कुछ शब्दों

के वाक्य में व्यवहार से ही यह पता चल सकता है कि अमुक शब्द संज्ञा है या क्रिया।

भाषाओं में क्रिया और संज्ञा का स्पष्ट भेद न भी हो तो भी क्रियात्मक (व्यापारात्मक) वाक्य और संज्ञात्मक वाक्य का भेद स्पष्ट रहता है। व्यापारात्मक वाक्य में व्यापार पर ही जोर रहता है। ऐसा वाक्य काल, अवधि, कर्तृ-संबद्ध अथवा कर्मसंबद्ध व्यापार का ही निर्देश करता है, उदाहरणार्थ *खाइए, गाना सुनो, चले गए, बस हो गया* आदि। संज्ञात्मक वाक्य में संज्ञा को ही मुख्य मान कर क्रिया उसके साथ विशेषण के रूप में रहती है, जैसे *यह मकान नया है, दौड़ता हुआ घोड़ा, पुस्तक-नाटक हो जाइए* आदि।

संस्कृत में महाभारत के प्रणयन के समय से ही तिङंत पदों के प्रयोग के स्थान पर शतृ, शानच्, क्त, क्तवत् आदि प्रत्ययों से अंत होने वाले पदों को अधिक काम में लाने की प्रथा चल पड़ी थी। इसी से समझना चाहिए कि व्यापारात्मक वाक्य का स्थान संज्ञात्मक वाक्य लेने लगा था। क्रिया पदों के ऋग्वेद में के प्रयोग की यदि भगवद्गीता आदि उत्तरकालीन ग्रंथों से तुलना की जाय तो पता चलता है कि उत्तरोत्तर ह्रास होता गया है और आज आधुनिक आर्य भाषाओं की क्रियाएँ तो अधिकांश में पुराने शतृ और क्त प्रत्ययों से अंत होने वाले पदों के विकसित रूप हैं। *तुम कहाँ रहे* (*क यूयमुषिताः*), *तू कहाँ रहा* (*क त्वमुषितः*), *तू कहाँ रही* (*क त्वमुषिता*) आदि उदाहरणों में क्रिया संज्ञा (या सर्वनाम) के अनुसार विशेषण सी बन कर अपना रूप बदलती है पर तिङंत रूपों में ऐसा नहीं होता था। इन उदाहरणों से व्यापारात्मक वाक्य का स्थान संज्ञात्मक वाक्य ग्रहण कर रहा था—इतना स्पष्ट है।

इसी प्रकार से केल्टिक भाषा में तुमंत रूपों ने तिङंत रूपों को दूर भगा दिया। वैदिक संस्कृत में तुमन्त शब्द में उसी प्रकार विभक्तियाँ लगती थीं, जिस प्रकार संज्ञाओं में।

तुमन्त और क्त्वादि प्रत्ययों से अंत होने वाले पदों को अंशतः संज्ञा और अंशतः क्रिया समझना चाहिए। इनमें प्रत्यय तो संज्ञा की तरह लगते हैं और भाव क्रिया का व्यक्त होता है, जैसे—

खाना 'खाने में' संकोच न करना चाहिए।
खाना 'खाते समय' कोई कोई मौन रहते हैं।

खाना 'खाए हुआ' आदमी संतोष का अनुभव करता है।
इन वाक्यों मे *खाने*, *खाते*, *खाए* पदों के संज्ञा के समान रूप हैं पर इनके द्वारा जतलाया हुआ भाव क्रिया का है।

यदि अर्थ की दृष्टि से संज्ञाओं का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि मूल रूप से उनमें क्रिया छिपी हुई है। *भोजन*, *रोदन*, *हास*, *भजन*, *भक्ति*, *पूजा*, *बंध*, *मोक्ष* आदि शब्दों में नहीं, बल्कि अन्यों में भी, जैसे—

साधन—ऐसी वस्तु जिससे कुछ सिद्ध किया जाय (करण)।

नंदन—खुश करने वाला (पुत्र)।

घाव—(घात) चोट लगा हुआ स्थान।

सर्प—रेंगने वाला कीडा।

दंत, *रदन*—फाड़नेवाली चीज (दाँत)।

गुणवाचक (उजलापन, रँग आदि) संज्ञाएँ क्रियापदों से बनी हुई नहीं मालूम होतीं, परन्तु यदि इनकी भी चीरफाड़ की जाय तो पता चलेगा कि ये भी अपने भाई बिरादरों (अन्य संज्ञाओं) से भिन्न नहीं। *उजलापन* बना है *उजला* (उज्वल) विशेषण से जिसके संस्कृत के रूप में *उज्ज्वल्* क्रिया है जिसका अर्थ है 'खूब चमकना' और इसी प्रकार रंग में रज् धातु है। संस्कृत के वैयाकरणों ने इस प्रकार का विश्लेषण करके धातुकोष तय्यार किया है और उसी पर संस्कृत के शब्द-समूह की इमारत खड़ी की है। और इसी के आधार पर मैक्समूलर ने भाषा के उद्गम का विचार करते हुए यह संकेत किया था कि आदिम मनुष्य धातुएँ बोलता था। धातुओं तक सब संज्ञाओं को पहुँचाने का प्रयत्न तब उपहासास्पद हो जाता है जब व्यक्तियों के यदृच्छा नामों को अथवा विदेशी संज्ञाओं को भी अपनी धातुओं पर अवलंबित करने की कोशिश की जाती है—उणादिसूत्रों मे कई जगह ऐसी ही भूल दिखाई पड़ती है। पर संभवतः यह बात सिद्धान्तरूप से ठीक है कि हमारे अधिकांश शब्द किन्हीं धातुओं पर आश्रित हैं और ये धातुएँ ही हमारे अर्थतत्वों की मूलरूप हैं। हमारी शब्दावली दिमाग मे बिखरी बिखरी ऊट पटाग नहीं पड़ी रहती—वह सजाई हुई, विभागों में क़ायदे से रक्खी हुई है, जब जरूरत पडी तब उस स्थान से निकल कर प्रयोग में आ गई और काम निबट जाने पर फिर अपने स्थान पर जाकर जम गई।

इस प्रकार हमने देखा कि हम आर्यभाषा-भाषियों को जो संज्ञा और क्रिया

मे मौलिक भेद मौजूद मालूम होता है, वह वस्तुतः मौलिक नहीं। क्रिया संज्ञा से मिली हुई है और संज्ञा विशेषण से। यदि कोई मौलिक भेद तो नहीं पर अपेक्षाकृत अधिक स्थिर भेद किसी भाषा में हो सकता है तो वह है संबंधतत्त्व और अर्थतत्त्व का भेद। नहीं तो शब्द एक है।

पन्द्रहवां अध्याय

पदविकास का कारण

पदविकास पर विचार करते हुए, ऊपर हम देख चुके हैं कि पदों के व्यवहार में निरंतर दो प्रवृत्तिया साथ साथ काम करती रहती हैं—एक तो पदों की एक-रूपता लाने की ओर दूसरी अनेकरूपता कायम रखने की।

पुरानी से पुरानी भाषाओं के रूपों का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि ऐसी कोई भाषा नहीं जिसमें व्याकरणों के नियमों के अपवाद न मिलें। इस से यही नतीजा निकलता है कि पदों की एकरूपता और अनेकरूपता की ये प्रवृत्तिया भाषा के पुरातन अग हैं। जैसे ध्वनिविकास के कारण भाषा में अन्तर्हित हैं वैसे ही पदविकास के भी। अन्तर केवल इतना है कि ध्वनिविकास सर्वसाधारण और संपूर्ण जनसमुदाय पर होता है, पदविकास में अपवाद रह जाते हैं। पदविकास को पदों की पूरी अपेक्षा रहती है, ध्वनिविकास को उतनी नहीं। ध्वनिविकास शब्दों की परतन्त्रता में बहुधा नहीं रहता।

प्रयास की बचत के लिए पदों के रूपों में एकता लाने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रहती है। संस्कृत में अकारांत संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, इस कारण स्वाभाविक ही था कि संस्कृत बोलने वाले के मस्तिष्क में अकारांत संज्ञा के रूप अधिक स्थिरता जमा लें और दूसरे (इकारांत, उकारांत, व्यंजनांत) अपेक्षाकृत कम स्थिर रहें। इसी कारण प्राकृतों में जहाँ *पुत्तस्स* (< *पुत्रस्य*), *सव्वस्स* (<*सर्वस्य*) आदि रूप पाए जाते हैं वहाँ उन्हीं के वजन पर *अग्गिस्स* (संस्कृत *अग्नेः* के स्थान पर), *वाउस्स* (*वायोः* के स्थान पर) और *हिमवतस्स* (*हिमवतः* के स्थान पर) भी मिलते हैं। प्रत्यक्ष ही इन रूपों के विकास में एक-रूपता लाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। संस्कृत में कुछ धातुओं का ही एक स्थान पर एक रूप (जैसे *गच्छ*) और दूसरी जगह दूसरा रूप (*गच्छ्* के स्थान पर *गम*) मिलता है, पर प्राकृतों में बहुधा इन दोनों की जगह एक ही (संस्कृत *गमिष्यति* के स्थान पर पालि *गच्छिस्सति*) पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत में भ्वादिगण की धातुओं का बाहुल्य है और प्राकृत काल में अन्य गणों की धातुओं के रूप

उन्हीं के अनुरूप ढले मिलते हैं, जैसे *गृह्णाति-गृह्णन्ति* के लिए *गण्हति गण्हन्ति*। हिंदी में भी बोलियों में इस एकरूपता की प्रवृत्ति के बहुत से उदाहरण दिखाई देते हैं, जैसे *पढ़ना* से प्रेरणार्थक *पढ़वाना*, *डालना* का अकर्मक *डलना*, *करना* का भूतकाल में *करा* (*किया* के स्थान पर) इत्यादि, अथवा *राजा* का विकारी रूप *राजे*।

एकरूपता लाने की यह प्रवृत्ति सादृश्य-मूलक है : दिमाग में बहुत से सदृश रूप जमे हुए हैं, दो चार असदृश रूप कायम रखने से दिमाग पर बोझ पड़ता है; स्वाभाविक ही है कि यह बोझ हल्का किया जाय। इस प्रकार पद-विकास की भी तह में प्रयत्नलाघव ही कारण है। नपुंसकलिंग की संज्ञाओं का रूप अपभ्रंश काल में पुल्लिंग के अनुरूप मिलता है—*पुत्तु*, *नरु*, *देवु* आदि के वजन पर *फलु* भी। हिंदी में संबोधन बहुवचन के लिए ओं अंत होने वाला रूप (*पूतो*, *लड़कियो*, *बहुओ*, *राजाओ* आदि) और विकारी विभक्ति के लिए -ओं वाला (*पूतों*, *लड़कियों*, *बहुओं*, *राजाओं* आदि) स्टैंडर्ड है। पर इधर संबोधन-रूप के स्थान पर विकारी विभक्ति का रूप बहुधा (पं० जवाहरलाल नेहरू की स्पीचों में विशेष रूप से) सुनाई पड़ता है और संभावना यही जान पड़ती है कि संबोधनवाला रूप गायब हो जायगा। अपेक्षा की दृष्टि से भाषा में उसका प्रयोग कम था ही।

यह सादृश्य जैसे गणित में काम करता है प्रायः उसी प्रकार पदविकास में। गणित में हम देखते हैं कि

४ का जो	भाग १ है	वही
८ का	भाग २ है।	

उसी प्रकार जैसे पुत्त	पुत्तेण	
अन्त	अन्तेण	
		वैसे ही
गच्छन्त	गच्छन्तेण	
हिमवन्त	हिमवन्तेण	

यहाँ *गच्छन्तेण* की (*गच्छता* के स्थान पर) और *हिमवन्तेण* की (*हिमवता* के स्थान पर) सिद्धि हुई है। विभिन्नता का लोप और एकरूपता का आगम इसी आदर्श पर भाषा में होता रहता है, गणित और भाषा विज्ञान में अन्तर इतना ही है कि गणित का नियम सर्वत्र व्यापक है, पद-विकास का नहीं। पद-विकास में भाषा का स्वभाव कायम रखने के लिए सर्वत्र एकरूपता

नहीं लाई जा सकती। किस रूप में अपेक्षाकृत दिमाग में अधिक स्थिरता है और किस में कम यह बात हम परिणाम देखकर ही जान पाते हैं, गणित में वह वस्तु पूर्वसिद्ध है। भाषा में जहाँ एकरूपता की प्रवृत्ति काम करती है वहाँ साथ ही साथ विभ्रम दूर रखने के लिए भिन्नरूपता भी चलती रहती है। इस लिए कैसे निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि अमुक रूप रहेगा या बदल जायगा ? जहाँ दिमाग़ का बोझा हल्का करने के लिए एकरूपता लाना जरूरी समझा जाता है वहा साथ ही साथ बहुत से विभिन्न अर्थों (पद-संबंधों) के लिए यदि एक ही रूप हुआ तो भ्रान्ति उत्पन्न होगी और दिमाग़ को थकान लगेगी। यही कारण है कि समान एकरूपता नहीं आने पाती।

सादृश्य द्वारा एकरूपता पहले पहल बच्चों की भाषा में सुनाई पड़ती है। सुबोध बालक *कर नहीं पाता, खा नहीं पाता, चल नहीं पाता* आदि के वजन पर आरंभ मे *पा नहीं पाता* बोलता है, और उसका बाप चचा मुस्कुराकर इस प्रयोग को *पा नहीं सकता* कहकर सुधार देता है। इसी प्रकार *करा* का *किया पड़वाना* का *डालना, डलना* का *पड़ना* आदि रूप भी बच्चों से आरभ होकर शुद्ध किया गया होगा पर इन पिछले प्रयोगों में स्थिरता की मात्रा इतनी कम थी कि वे न बच सके, और उधर *पा सकना* प्रयोग मे स्थिरता इतनी अधिक थी कि शुद्धीकरण काम कर गया और *पा नहीं पाता* न टिक सका।

सादृश्य जिन रूपों को नहीं मिटा पाता उन्हीं को वैयाकरण अपवाद, अनियमित या सबल का नाम देते हैं और जो इस सादृश्य का शिकार बन जाते हैं उन्हे वे निर्बल या नियमित कहते हैं। कारण यही है कि सबलता ही अस्तित्व कायम रखने मे सहायक होती है। यह सबलता प्रायः प्रयोग की बहुलता से आती है, यदि कोई बार २ प्रयोग में आता है तो संभावना है कि वह टिक जाय, चाहे अपने साथ के रूपों से वह भिन्न ही क्यों न हो। आर्य भाषाओं की सहायक क्रिया √*अस*, √*आ-दि* (होना) के रूप इसके उदाहरण हैं। अन्य क्रियाओं की अपेक्षा यह इतना ज़्यादा काम में आती हैं कि जहाँ और क्रियाएं रूप बदल कर नियम के अन्दर आ गई यह अपना रूप (ध्वनिविकास का पालन करती हुई भी) पदविकास के प्रतिकूल वातावरण में भी कायम रह सकी (*है—था*)। इसी प्रकार जाने का अर्थ बताने वाली √*जा* का भूतकाल का रूप *गया* स्थिर है, यद्यपि अन्य क्रियाओं में वर्तमान और भूत के रूपों में समानता है (*खाना खाया, पीना-पिया* आदि)।

सादृश्य के खिलवाड़ में कौन रूप रहा और कौन गायब हुआ इस बात का विचार हर एक रूप के बारे में अलग अलग करना होगा और कुछ ही रूपों का विचार करके इतना स्पष्ट हो जायगा कि इस खिलवाड़ की माया विचित्र है। सादृश्य के प्रत्येक उदाहरण को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए बड़ा परिश्रम आवश्यक है और जरा सी असावधानी से भाषाविज्ञानी को भ्रमजाल में पड़ जाने की सभावना है। कभी अपवादस्वरूप सबल रूप नियम में आ गए हुए निर्बल रूपों पर ऐसा प्रभाव डाल देते हैं कि निर्बल रूप ही सबलों का अनुकरण कर अपवाद से हो जाते हैं।

सादृश्य से एकरूपता आ जाने पर स्पष्टता के लिए नए रूपों की सृष्टि होती है, अथवा पद-भडार में मौजूद अन्य रूपों का प्रयोग विस्तार पा जाता है। संस्कृत में अकारांत संज्ञाओं के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन के रूप *-आः* (*पुत्राः*) और *-आन्* (*पुत्रान्*) थे। प्राकृतों में ध्वनि-विकास के कारण पदों के अंतिम व्यंजन का लोप हुआ तो प्रथमा और द्वितीया के रूपों (प्र० *पुत्ता*, द्वि० *पुत्ता*) में एकरूपता आई होगी जिसको मिटाने के लिए ही द्वितीया के *पुत्ता* रूप को हटाकर *पुत्ते* लाया गया होगा। अवधी में कर्ता कारक में एकवचन और बहुवचन में एकरूपता आ गई थी (*चोर-चोर*, *लरिका-लरिका*, *गइया-गइया*) जो शायद दुखदाई मालूम हुई। इसी को मिटाने के लिए अन्य कारकों में प्रयोग में आनेवाला *-न* रूप (*लरिकन*, *गइयन*) कर्ता में भी काम में आने लगा (*लरिकन पढ़न जैहैं*, *गइयन चरै गईं*)। इस *-न* रूप ने जहाँ एक ओर भिन्न-रूपता स्थापित की वहाँ साथ ही साथ कर्ता और अन्य कारकों के प्रयोग में समानता उपस्थित कर दी। इसी तरह अन्य उदाहरणों से जान पड़ता है कि समानता और विभिन्नता भाषा के साथ आँख मिचौनी का खेल खेला करती हैं।

विभक्ति आदि के रूपों में एकरूपता आ जाने से जिन नए रूपों की सृष्टि होती है उनमें संबंधतत्त्वों का बोध कराने वाले परसर्ग आदि विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं। *मे* (*मध्य*), *का* (*कृत*), *से* आदि अथवा अंगरेजी के *ए*, *ऐन -लि* (a, an, ly<liko) आदि पहले स्वतंत्र शब्द थे जो सहायक शब्दों के रूप में पहले पहल व्यवहार में आए और बाद में सहायकत्व का गौण अस्तित्व स्वीकार करने के कारण अपनी स्वतंत्रता खो बैठे और निरर्थक भी हो गए। राजनीतिक परतंत्रता की तरह भाषा के शब्दों की परतंत्रता भी स्वतंत्रता खो बैठने वालों के लिए घातक है।

सोलहवां अध्याय

अर्थविचार

बोलना सीखने पर बच्चा सर्वप्रथम कुछ निरर्थक *गूं गूं*, *बा बा* आदि ध्वनिया करता है, इसके बाद धीरे-धीरे वह ध्वनियां और उनके अर्थ का संबध जोड़ने की शक्ति प्राप्त करता है। सार्थक शब्दों के उच्चारण करने के पूर्व वह उन परिचित शब्दों का अर्थ समझने लगता है। बच्चे से पूछो कि *माँ* कौन है, *गाय* कौन, *बाबू जी* कौन, तो इनके उपस्थित रहने पर वह इनकी ओर उँगली उठा देता है। इसके थोड़े ही दिनों बाद वह शब्दो का उच्चारण भी करने लगता है। इस प्रकार बच्चे के दिमाग मे अर्थ का प्रवेश शीघ्र ही हो जाता है। कहते हैं कि बच्चा मा को कुछ ही हफ्तों में पहचानने लगता है। यह ससर्ग से ही होता है।

बच्चे के दिमाग मे ध्वनियां के ससर्ग से अर्थ आता है और काफी जल्दी। उसके अन्तःकरण मे ध्वनिया शीघ्र जम जाती है, और उसके थोड़े ही दिन बाद पदरचना के लिए संबधतत्त्व भी। पर अर्थ शीघ्र आने पर भी जमता नहीं है क्योंकि अनुभव के अनुसार शब्द-विशेष के अर्थ मे परिवर्तन होना रहता है। *गाय* का अर्थ बच्चे के दिमाग मे पहले पहल घर या पड़ोस की गायों को देखकर आता है और जैसे जैसे वह विभिन्न रंगों और कदों की गाएँ देखता है उसके गाय के सामान्य अर्थ मे इस प्रकार परिवर्तन होता जाता है कि वह अपने अनुभव की सभी गायों को उसमे समाविष्ट कर सके। इसी तरह देहात का बच्चा पहले सेंठे की क़लम को ही क़लम समझता है बाद को लोहे की निब वाले होल्डर और फ़ाउंटेन-पेन को भी क़लम के अंतर्गत कर लेता है। इसी तरह प्रत्येक शब्द का अर्थ हमारे अनुभव के अनुरूप विस्तृत होता रहता है। इसीलिए कहा गया है कि अर्थ हमारे दिमाग़ में पूरे तौर से कभी सीमित नहीं हो पाता—ध्वनिया और पदों के सबंधतत्त्व बचपन में ही जम जाते हैं। किसी विशिष्ट भाषा के बोलने वाले की ध्वनियां और संबधतत्त्वों को अपने स्थान से हटाने में बड़ी कठिनाई होती है। संयुक्तप्रान्त के पूरब जिलों में रहने वाले छात्रों को सस्कृत पढाते समय *व* और *ब* का अथवा *ज य* और *श स* का भेद सिखाने मे कठिनाई का मूल कारण

यह है कि उनकी बोली में व, य, श हैं ही नहीं इसलिए उनको इनके उच्चारण में विशेष कठिनाई होती है। हम हिन्दुस्तानी लोग थ और द जानते हैं, अंगरेजी की थ् और द् (θ और δ) नहीं और इसीलिए इनके उच्चारण के अभ्यास के अभाव में अथवा अंगरेजों के संपर्क में आए बिना हम इन ध्वनियों को नहीं सीख पाते। संबंधतत्त्व भी जड़ पकड़ जाते हैं और इनको भी विचलित करना कठिन होता है। स्टैंडर्ड हिंदी के ने का प्रयोग अवधी और भोजपुरी वालों के लिए टेढ़ी खीर है। परंतु अर्थ के बारे में ऐसी कोई कठिनाई नहीं होती, वह अनायास ही अपना स्थान करता रहता है।

इस प्रकार अर्थ के अनुभव-जन्य होने के कारण यह संभव है कि एक ही भाषा बोलने वाले किन्हीं दो व्यक्तियों के दिमाग में एक ही शब्द का अर्थ (वैज्ञानिक दृष्टि से) बिल्कुल एक न हो कुछ अंतर हो। किसी शब्द के अर्थ की कोई सीमा निर्धारित कर पाना इसी कारण असंभव होता है।

एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं और उनका निर्धारण प्रकरण करता है। जब कोई व्यक्ति किसी वाक्य में विशेष शब्द का व्यवहार करता है तब वह उसे, अनेक अर्थों के होते हुए भी, केवल एक अर्थ में लाता है और प्रायः श्रोता भी उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है। रसोई में बैठा हुआ रसोइया जब कहार से *सैन्धवमानय* कहता था तो कहार *नमक* ही लाकर देता था घोड़ा नहीं। और यदि राजदरबार में जाने के लिये तय्यार सरदार साईस से *सैन्धवमानय* कहता तो साईस *घोड़ा* ही लाता *नमक* नहीं। प्रकरण ही इस प्रकार शब्द के अर्थ का निर्णायक है। एक समय में एक ही अर्थ उपस्थित रहता है, उस समय अन्य अर्थ गायब से रहते हैं यद्यपि वे अन्तःकरण में सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। हां साहित्यिक जहां अपनी कला के प्रदर्शन के लिये वक्रोक्ति आदि में श्लेष का प्रयोग करते हैं वह दूसरी बात है; पर यह सब कृत्रिम है, भाषा का स्वाभाविक अंग नहीं।

ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही शब्द को ठीक ठीक उसी अर्थ में नहीं लेता जिसमें दूसरा और जितनी ही एक जनसमुदाय की घनिष्ठता दूसरे से कम होती है उतनी ही अर्थ को अंतर के बढ़ने की संभावना रहती है। संस्कृत में *विहार* शब्द का अर्थ विचरण करना, टहलना, आदि था, पालि में वही शब्द निवास-स्थान के बाहुल्य के अर्थ में बराबर प्रयोग में आया है, और आज किसी प्रांत में बौद्ध विहारों के कारण ही शायद उसका नाम ही बिहार हो गया। हिन्दी में *बाड़ी*, *बारी* शब्द प्रायः संस्कृत के *वाटिका* शब्द

के अर्थ में आज भी काम मे आता है, पर बंगाली में उसका अर्थ *घर* हो गया और *घर* का अर्थ *कमरा*। एक जनसमुदाय का दूसरे जनसमुदाय के प्रति जो सामान्य मनोभाव होता है उसके कारण भी अर्थ में भेद पड़ जाता है। संस्कृत में *देव* शब्द का जो उत्कर्ष है उसका ठीक उल्टा (अपकर्ष) ईरानी के *दैव* (देव) शब्द मे मिलता है। ऋग्वेद के कुछ पुराने भागों में *असुर* शब्द देवता-वाचक है और इसी अर्थ में ईरानी में भी (*अहुर*) है, किन्तु बाद की संस्कृत में यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का द्योतक हो गया और *अ* को निषेधात्मक समझ कर *सुर* शब्द देवता-वाचक समझा गया। फ़ारसी में (*सिधु* का रूप) *हिंदू* पहले सिन्ध नदी के आस पास और उसके पूर्व के प्रदेश में रहने वालों के लिये व्यवहार में आया और बाद को हम हिन्दुस्तानियों के प्रति उन लोगों की कुत्सित भावनाओं के कारण *चोर*, *डाकू*, *गुलाम* आदि के अर्थ में फारसी के कोषों में मिलता है। वर्तमान भारत में *मुसलमान* शब्द का अर्थ हिन्दू दिमाग में "शात धर्म का अनुयायी" नहीं है—है "झगड़ालू, हिंसक और अपवित्र मनुष्य" का और इसी प्रकार मुसलमान के दिमाग मे *हिन्दू* शब्द का मानी "नापाक, बुतपरस्त, छुआछूत आदि का शिकार मनुष्य" है। अफ्रीका में अन्य जनसमुदायों की भांति *काफ़िर* जाति है पर मुसलमानों की भाषा में इसी शब्द का अर्थ 'विधर्मी' हो गया और आज वे लोग हम हिन्दुओं को भी *काफ़िर* कहते हैं यद्यपि हमारा उन अफ्रीका वालों से स्वप्न में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा में ले लिए जाते हैं तब उनके अर्थ में भी सामाजिक वातावरण के अनुसार परिवर्तन दिखाई पड़ता है। हिन्दी के *गिलास* शब्द का प्रयोग शीशे के अर्थ में नही होता बल्कि शीशा, पीतल, फूल आदि से बने हुए पात्र-विशेष के अर्थ में। डा० तारापुरवाला ने गुजराती के व्यवहार में फारसी शब्द *दरिया* का अर्थ समुद्र और अंगरेजी के *वेस्टकोट* का जनाना कपड़ा (अँगिया) दिया है।

एक ही जनसमुदाय में दैनिक व्यवहार में एक शब्द का अर्थ एक आदमी के व्यवहार में एक और दूसरे के प्रयोग में दूसरा हो सकता है। माली *क़लम* शब्द को एक अर्थ में और अर्ज़ीनवीस दूसरे अर्थ में काम में लाता है, यह दूसरी बात है कि जब वे दोनों संपर्क में आवें तब जरूरत के हिसाब से उस शब्द का दूसरा अर्थ भी व्यवहार में लावें। इसी प्रकार माली का *फूल* कंसेरा (बर्तन वाले) के *फूल* (धातु) से भिन्न है,

डाकखाने का *टिकट* रेल के *टिकट* से, और कचहरी के *स्टाम्प* से डाकखाने का *स्टाम्प*, अथवा रजिस्टरी के दफ्तर की *रजिस्टरी* डाकखाने की *रजिस्टरी* से। पाठशाला के अध्यापक का *बेंत* और कुरसी बुनने वाले का *बेंत* अथवा शाम को टहलने जाने वाले सज्जन का *बेंत*, एक दूसरे से कितना भिन्न है।

अर्थविज्ञान के प्रमुख मनीषी ब्रील के मत के अनुसार अर्थ का विकास तीन दिशाओं में होता है—अर्थविस्तार, अर्थसकोच और अर्थादेश। अर्थ-विकार या अर्थपरिवर्तन सब का सब इन तीन के अंतर्गत ही मिलता है।

तेल शब्द का अर्थ 'तिल का सार' था किंतु अब यह शब्द (*तेल*) सरसों, गोला, अलसी, मूंगफली आदि ही के सार के अर्थ का बोध नहीं कराता, मिट्टी का भी *तेल* होता है और यदि किसी आदमी से बड़ी मेहनत कराई जाय तब भी हम कहते हैं कि 'उसका *तेल* निकाल लिया'। *कुशल* उसको कहते थे जो बिना अपने हाथों को चोट पहुँचाए *कुश* तोड़ लावे, इसमें चतुराई की जरूरत होती थी और अब *कुशल* का शब्द चतुर-मात्र के लिए हो गया है। यज्ञ कराने वाला पुरोहित जब *काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्* का आदेश देता था तब उसका मतलब था कि केवल कौओं से ही नहीं, अन्य चिड़ियों, अथवा कुत्तों आदि से भी उसकी रक्षा करो। *गंगा* शब्द बोल-चाल की हिन्दी में नदी-विशेष का द्योतक न रह कर सब नदियों के अर्थ में प्रयोग में आता है। *गोसाई* शब्द अब केवल गौओं के मालिक के अर्थ में न आ कर सभी प्रभुओं का द्योतक है। **पत्र** शब्द पेड़ के पत्ते का ही सूचक नहीं, उसका अर्थ चिट्ठी और समाचारपत्र भी है। संस्कृत में **परश्वः** शब्द आने वाले कल के बाद वाले दिन के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता था किन्तु उसका हिन्दी रूप बीते हुए दिन के पूर्व वाले दिन के अर्थ में भी बराबर आता है और पहाड़ी बोली में तथा दक्खिन हैदराबाद में निकट भूत-काल या भविष्य के किसी भी दिन के अर्थ में आता है। इसी प्रकार कल शब्द आने वाले दिन के अर्थ (*कल्लं<काल्यं=प्रातः*) में आता था पर हिन्दी में बीते हुए दिन के अर्थ में भी आता है। **गोष्ठम्** शब्द का अर्थ गाय के रहने की जगह था, पर बाद को किसी भी जानवर के रहने की जगह के लिये यह शब्द काम में आने लगा और *गोगोष्ठम्* (गाय का निवासस्थान) *अविगोष्ठम्* (भेड़ का निवासस्थान) शब्द बने। इसी तरह **गोयुगम्** का अर्थ गाय या बैल की जोड़ी के अर्थ में था, फिर जोड़ी मात्र के अर्थ में चल पड़ा और *उष्ट्रगोयुगम्* (ऊँट की जोड़ी), *खरगोयुगम्* (गदहे

की जोड़ी) आदि शब्द बन गए। इन उदाहरणों से अर्थविस्तार किस प्रकार चलता है यह स्पष्ट हो जाता है।

अर्थसंकोच के भी बहुत से उदाहरण हैं। *नेत्र* शब्द का अर्थ था चमकने वाला, प्रकाश करने वाला, आगे चलने वाला, ले जाने वाला; बाद को 'आँख' के अर्थ में वह सीमित हो गया। *रदन* का अर्थ फाड़ने वाला था किन्तु बाद को केवल 'दाँत', *सर्प* का रेंगने वाला प्राणी लेकिन बाद को रेंगने वाला विशेष प्राणी, *वर* का चुना हुआ या मांगा हुआ कोई भी, बाद को दूल्हा और देवता का दान। *घृत* भी अर्थ संकोच का उदाहरण है। अवधी चटनी (चाटने के योग्य कोई खट्टी चीज) खड़ी बोली की *चटनी* की अपेक्षा अर्थसंकोच का उदाहरण है। *मिठाई* अवधी में गुड़ और हलवाई द्वारा बनाई हुई मिठाई दोनों अर्थ में, पर खड़ी बोली में केवल हलवाई की मिठाई के लिए आती है।

अर्थादेश से मतलब अर्थ में इतना अधिक अंतर होने से है कि मौलिक अर्थ खत्म ही हो जाय और दूसरा अर्थ उसकी जगह आ जाय। *देव* और *असुर* का उदाहरण दिया जा चुका है। *दुहितृ* शब्द का अर्थ 'दुहने वाली' बिल्कुल मिट गया और कन्या हो गया। *गुल्म* शब्द का अर्थ संस्कृत में झाड़ी था किन्तु उसी के हिन्दी रूप *गुलुम* को चोट के गोलाकार निशान को कहते हैं। *मौन* अब चुप्पी साधने को बताता है न कि मुनियों के विशुद्ध आचरण को। *माहुर*<*माधुर* अवधी में विष का अर्थ रखता है, शायद इसलिए कि संखिया आदि विष मिठाई में मिला कर दिए जाते रहे हैं।

अर्थविकास की ये तीन दिशाएँ विभिन्न रूपों में काम करती हैं। अलंकारों का प्रयोग इस प्रकरण में मुख्य है। *मीठी बात*, *कड़ुई बात* के प्रयोग में *मीठे* और *कड़ुए* का अर्थ अपने स्वाद का नहीं बल्कि उस स्वाद से उत्पन्न हुई प्रसन्नता अप्रसन्नता का हो सकता है। *टेढ़ा आदमी*, *सीधा आदमी* में शरीर की गठन का कोई उल्लेख नहीं। *ठोस कार्य* में चिरस्थायित्व का संकेत है न कि खोखलापन के उलटे ठोसपने का। यदि हम अपने शब्दों को विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो हमें मालूम होगा कि भाषा में स्वाभाविक रूप से अलंकार बड़ी मात्रा में मौजूद है।

हम अपने अनुभूत पदार्थों के नाम बहुधा ऐसे पदार्थों को दे देते हैं जिनमें उन पूर्वपरिचित पदार्थों का केवल कोई प्रमुख गुण हो। *बिच्छू* विशेष जन्तु है जो डस लेता है तो बड़ा दर्द होता है, पर पहाड़ों पर एक पौधा होता है जिसके स्पर्शमात्र से थोड़ी देर के लिये दर्द पैदा हो जाता है, वहाँ उसको भी *बिच्छू*

कहते हैं। बच्चे खेलते समय दोनों टाँगों के बीच कोई लकड़ी लेकर घसीटते चलते हैं और उसे घोड़ा कहते हैं। दीवाली के दिनों में *साँप* बिकते हैं जो केवल बारूद की छोटी सी बत्तियाँ ही होने पर भी दियासलाई के लगते ही साँप का आकार धारण कर लेते हैं।

तारापुरवाला के मत के अनुसार वेद की प्राचीन ऋचाओं में उष्ट्र का अर्थ 'भैंसा' और बाद वाली ऋचाओं में 'ऊँट' है। हिन्दी में *भाई* और *भय्या* शब्द अब केवल संस्कृत के *भ्रातृ* शब्द के अर्थ में सीमित नहीं है, बहुत जगह *भय्या* लड़के को भी कहते हैं और कभी-कभी बोलचाल की हिन्दी में पत्नी पति से कह बैठती है, *भाई जरा बच्चे को सँभाल लो*। इस प्रकरण में *भाई* का अर्थ केवल सम्बोधन करना है और *हे, अरे* आदि का समानार्थक है। *चतुर्वेदी, द्विवेदी, अग्निहोत्री, वाजपेयी, श्रीवास्तव, सक्सेना, माथुर, अगरवाल* आदि नामों की सार्थकता अब केवल इतनी है कि इन नामों से अपने को अलंकृत करने वाले भारतीय उन महानुभावों की संतान हैं जो चतुर्वेदी आदि थे। *महाराज* का अर्थ होस्टलों में केवल रसोइया है, न कि *महाराज*। *सूरदास, रूपदास* आदि से केवल शरीर की अंगहीनता या जाति की नीचता को सुन्दर ढंग से जतलाया जाता है। *शरीफे की आँख, मूँग की नाक, नारियल की जटाएँ और आँखें* आदि प्रयोग भी रोचक हैं। सारांश यह कि शब्दों का व्यवहार मनुष्य की विचारधारा के अनुसार विस्तृत, संकुचित या परिवर्तित होता रहता है।

अर्थपरिवर्तन की तीनों दिशाओं का मूल कारण विचार-विभिन्नता है जो व्यक्ति या समुदाय के संसर्ग की मात्रा से उत्पन्न होती है। इसी कारण अर्थ-परिवर्तन तर्कशास्त्र का विषय न होकर मनोविज्ञान के अन्तर्गत है और मनो-विज्ञान समाज-विज्ञान की एक शाखा।

हिन्दी में चिट्ठी और किताब के पन्ने को पत्र कहते हैं। इसका कारण शायद यही है कि पूर्वकाल में कागज के अभाव में चिट्ठियाँ और पुस्तकें पत्रों (पत्ते, भूर्जपत्र आदि) पर ही लिखी जाती थीं। उस समय से उन पर लिखी हुई चीज ही पत्र कहलाने लगी यद्यपि अब जिस सामग्री पर वह लिखी जाती है उसका पत्ते से कोई सम्बन्ध नहीं। पालि में *पण्णाकार* शब्द उपहार के अर्थ में आता है। कारण शायद यही है कि उपहार हरे हरे पत्तों में रख कर भेजा जाता होगा जिस प्रकार कभी चार दिन पर [illegible], [illegible] लोगों को कभी पानी लगाया करते थे।

अशुभ-सूचक बातें बचा बचा कर गोलमोल शब्दों में प्रकट की जाती हैं। वैधव्य को *चूड़ी फूटना* कहते हैं, मर जाने को *स्वर्गवास होना* या *पंचत्व को प्राप्त होना* कहा जाता है। गमी में जो बाल मुड़ाने होते हैं उन्हें *बाल बनवाना* कहते हैं और साधारण को *हजामत*। उर्दू बोलने वाले सभ्य समाज में *वह बीमार हैं* यह न कह कर *उनके दुश्मनों की तबीयत नासाज हैं* कहा जाता है क्योंकि यह कहा भी नहीं जा सकता कि बीमारी ऐसी अशुभ चीज उनके पास फटकी। *लाश* को *मिट्टी*, दैनिक क्रिया-विशेष को *पाखाना*, *दिशा*, *जंगल* अथवा *इंगलैंड* आदि, *सांप* को *कीड़ा*, *रस्सी* इत्यादि उक्तियों में भी अशुभ, लज्जा-जनक या घृणास्पद बातों को गोल गोल शब्दों द्वारा प्रकट करने की मनोवृत्ति है। इस विषय में भाषा पर स्त्रियों का विशेष प्रभाव पड़ता है, उनके मुँह से अशुभ और असभ्य बात बहुधा नहीं निकलती। लज्जाशील भारतीय ललना ही नहीं, विदेशी ललना भी अपने पति का नाम नहीं लेती, *लल्ला के लाला*, *बच्ची के बाबू*, *पंडित जी* आदि शब्दों से अथवा *यह* आदि सर्वनामों से ही उनका उल्लेख करती है। *गर्भिणी* को प्रत्यक्ष ऐसा न कह कर *इसका पांव भारी है* ऐसा कहा जाता है।

शिष्टाचार में भी सीधे शब्द नहीं बोले जाते। अन्धे को अन्धा न कह कर *सूरदास* कहो तभी ठीक होगा और चमार को *रयदास*, तथा दर्जी को *खलीफ़ा*। *मेहतर* शब्द ही शिष्टाचार का है पर *जमादार* कहना ज्यादा ठीक समझा जाता है। *मुंसिफ* को जब *जज साहब* कहा जाता है तब वह गद्गद हो जाता है।

बहुधा देखा गया है कि प्राचीन भाषाओं के तत्सम शब्दों में अधिक आदर और गौरव समझा जाता है और अपेक्षा की दृष्टि से तद्भव शब्दों में कम। *गर्भिणी* (मानुषी) *गाभिन* (गाय आदि), *ब्राह्मण* (शिक्षित) *बाम्हन* (बे पढ़ा लिखा), *स्तन* (स्त्री के) *थन* (गाय के), *राजा राव*, *राजपुत्र राउत*, *कुक्षि कोख* आदि द्वन्द्वों में भेद स्पष्ट है।

रुपये का लेन देन करने वाले अर्थात् अमीर लोग अच्छे और सज्जन समझे जाते हैं। हिन्दी के *महाजन*, *सेठ* (श्रेष्ठ, श्रेष्ठी), *साह* (साधु) आदि शब्द इसी परिणाम पर पहुँचाते हैं।

देशवाचक और कालवाचक शब्द बहुधा समानार्थक होते हैं। संस्कृत का *अध्वन्* शब्द 'समय' और 'फासला' दोनों का बोध कराता है। अरबी का

अरसा शब्द फासले का द्योतक था पर अब उर्दू में समय के फासले को बताता है, देश के फ़ासले को नहीं। हिन्दी बोलियों के *वार*, *वेर*(<*वेला*), *दाँई* (<*दामन्*) शब्द भी देश और काल की अभिन्नता बताते हैं।

शक्ति और दूसरों को हैरान परेशान करना इन दोनों बातों का साहचर्य मा है। *ओजस्वी* और *प्रतापी* शब्द उदाहरण हैं। दूसरी ओर स्वाभाव की सिधाई, मूर्खता और कमजोरी साथ साथ चलती दिखाई देती है। *ऋजुकः अस्याः पतिः* इस वाक्य में उस स्त्री के पति की सिधाई का ही अभिप्राय नहीं है, वह इतना मूर्ख है कि अपनी पत्नी की धूर्तता नहीं समझ पाता, इस बात का भी संकेत है। हिन्दी के *सूधा*, *सीधा* शब्दों में भी यही संकेत है। अंग्रेजी का *सिम्प्ल्* (Simple) शब्द भी इसी प्रकार सिधाई और मूर्खता का द्योतक है। कोमलता और सज्जनता भी साथ-साथ चलती हैं और स्वभाव की दुष्टता और टेढ़ापन। *बड़ा टेढ़ा आदमी है* और *तिर्यग्योनि* उदाहरण स्पष्ट हैं।

मनुष्य को कभी-कभी सीधी बात कहने से यहाँ तक असंतोष होता है कि वह ठीक उल्टी बात कह कर अपना अभिप्राय प्रकट करता है। *आप बड़े अक़लमन्द हैं*, *आप बड़े विद्वान हैं* आदि प्रयोगों में अक्ल और विद्वत्ता के अभाव की ही सूचना मिलती है। बच्चे को प्यार में जब हम *शैतान*, *बदमाश*, दुष्ट आदि शब्दों से सबोधन करते हैं तब उसके नटखटपने से खुश होकर ही। मित्रों में आपस में एक दूसरे को *गदहा*, *सुअर*, *बदमाश* आदि शब्दों से संबोधन करने की प्रथा दिखाई पड़ती है जिसके मूल में है स्नेहातिशय न कि गाली गलौज।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है किसी शब्द का अर्थ पूरी तौर से निश्चित नहीं है, उसका वास्तविक अर्थ प्रकरण से और वक्ता की मुखाकृति आदि के देखने से ही जान पड़ता है। संस्कृत में *विषं भुङ्क्ष्व* का उदाहरण बहुधा दिया जाता है। यदि प्रकरण से इसको अलग कर दें तो अर्थ का अनर्थ हो जाय। यदि कोई शब्द किसी एक ही प्रकरण में सीमित हो जाय तो अर्थसंकोच हो जाता है। *सर्प*, *रदन* आदि शब्दों का इसी प्रकार अर्थसंकोच हुआ होगा। फ़ारसी का *बू* शब्द और संस्कृत का *गन्ध* दोनों अब दुर्गन्ध के अर्थ में आते हैं यद्यपि इनका वास्तविक अर्थ गंध-मात्र था और उन भाषाओं में समान रूप से दुर्गन्ध और सुगंध के लिए आता है। इसी प्रकार यदि एक ही शब्द किसी एक प्रकरण में सीमित न रह कर अन्य प्रकरणों में आने लगा तो अर्थविस्तार

हो जाता है। *गंगा* शब्द का व्यवहार केवल भागीरथी के लिए न करके अन्य नदियों के लिए करने से ही उसका अर्थ विस्तृत हुआ है। *देवदत्त बड़ा रुपये वाला है* इस वाक्य में *रुपये* का अर्थ केवल चांदी के टुकड़ों का नहीं बल्कि कागज के नोटों, घर, जायदाद, गल्ला, पशु आदि का भी है। इसी तरह यदि कोई शब्द एक प्रकरण में बिल्कुल खत्म होकर दूसरे प्रकरण में आने लगे तो अर्थादेश होता है। अवधी का डांड<दंड शब्द जुर्माना, सजा, हर्जाना आदि के अर्थ में आता है, डंडे के अर्थ में नहीं, यद्यपि है वह उसी का ही रूपान्तर। सारांश यह है कि अर्थसंकोच, अर्थविस्तार और अर्थादेश की दिशाओं में ही चल कर अर्थ का विकास होता है। दो शब्दों में से एक का एक अर्थ में और दूसरे का दूसरे अर्थ में [डांड-डंडा-डाडा, कर्म और करम आदि और कार्य साधारण, *पन्ना* और *पान* (सं० पर्ण), *पत्ती पाती* (सं० पत्री-), पत्ता (पत्र)] होना, अथवा किसी शब्द का अर्थ का अनर्थ हो जाना आदि इन्हीं दिशाओं में से एक न एक के उदाहरण हैं।

ऊपर कह चुके हैं कि शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही होता है, यदि उसके और कोई अर्थ होते हैं तो वे उस समय गायब रहते हैं, अन्यथा मनुष्य का दिमाग शब्दों का व्यवहार कर ही न सके। तब भी सबंध तन्तुओं की भांति अर्थ भी अपने संबंधियों के साथ मनुष्य के अन्तःकरण में जुटा रहता है (जैसे *दान, दाता, देय, दाय, देना* आदि) और जब किसी शब्द का भिन्न अर्थ होने लगता है तब उसके संबंधी बाधा पहुँचाते हैं। पर यदि परिवर्तन होने की मात्रा उत्कट हुई तो अर्थ बदल ही जाता है और यदि वह शब्द अपने वर्ग का प्रबल सदस्य हुआ तो वह अपने संबंधियों को भी साथ समेट ले जाता है अन्यथा अकेला ही चला जाता है। *असुर* शब्द के अर्थ के साथ *आसुरी, आसुर* आदि शब्दों का भी अर्थ बदला। *नमक* के साथ *नमकीन* का भी अर्थ विस्तृत हुआ। *सर्प* के साथ *सर्पिणी* का भी अर्थ संकुचित हुआ तथा *दूल्हा* (<*दुर्लभ*) के साथ *दुलहिन* का भी। दशा ठीक वैसी ही है जैसी धर्म बदलते समय होती है। यदि किसी पौराणिक परिवार का प्रमुख व्यक्ति आर्यसमाजी होता है तो सारा परिवार आर्यसमाजी या ब्रह्मसमाजी हो जाता है, और यदि जन जमीन जर के लालच से कोई उच्छृंखल नवयुवक ईसाई होता है तो अकेला।

अर्थविकास के अध्ययन से कभी कभी समाज की दशाओं के इतिहास का भी ज्ञान आसानी से मिल जाता है। देव, असुर आदि शब्दों के उदाहरण

ऊपर दिए जा चुके हैं। अंगरेजी का *पिक्यूनियरी* (Pecuniary) शब्द जिसका संबंध *पशु* शब्द से स्पष्ट है, इस बात का द्योतक है कि जब सिक्कों का चलन नहीं हुआ था तब *पशु* सिक्कों की तरह बदले जाते थे। जर्मन शब्द *फ़ेडर* (feder) और फ्रेंच का *प्लुम* (Plume) इस बात के सूचक हैं कि पहले लेखनी चिड़ियों के परों की बनाई जाती थी। हिन्दी का *गिलास* शब्द इस बात की सूचना देता है कि इस प्रकार के पात्र पहले शीशे के बने हुये इस देश मे आये। जहा इतिहास जानने के अन्य साधन (ग्रंथ, सिक्के, शिलालेख आदि) न मिलते हों वहा अर्थ के तुलनात्मक अध्ययन से खोज में बड़ी सहायता मिलती है। वैदिक-पूर्व आर्यों के रहन सहन के बारे में हमें विशेष ज्ञान भाषाविज्ञान की इसी शाखा मे प्राप्त होता है।

शब्दकोष

अर्थ की दृष्टि से किसी भाषा के सब शब्दों को एकत्र कर उन्हें शब्द-समूह कहते हैं। भाषा के शब्द-समूह के प्रत्येक शब्द को ले लेकर उनकी परीक्षा करना, उनको प्रकृति प्रत्यय के हिसाब से वर्गों में बिठाना, वे कहाँ से आये, कब बने और अर्थ की दृष्टि से उनमें कब क्या क्या परिवर्तन हुए इसकी विवेचना करना, यह सब काम **निरुक्ति** का है। वह शब्दों का इतिहास बताती है। निरुक्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ कभी कभी वर्तमान अर्थ से भिन्न होता है। प्रकृति प्रत्यय से बनाया हुआ *हिमालय* का अर्थ बर्फिस्तान है पर साधारण व्यवहार में उस पहाड़ के अंतर्गत नीचे के ऐसे भाग भी हैं जहां बर्फ कभी नहीं गिरता। *रत्नाकर* के सभी भागों से सर्वदा रत्न नहीं निकला करते। इस लिए सदा नैरुक्तिक अर्थ पर ही ध्यान रख कर प्रयोग करनेसे भाषा के व्यवहार में कठिनाई पड़ सकती है। टकसाली साहित्यिक हमेशा इस बात की कोशिश किया करते हैं कि वे शब्दों का वर्तमान सर्वसाधारण अर्थ में प्रयोग करें। लोक-गीत और लोक-कथाओं में बहुधा तत्कालीन वर्तमान अर्थ मिलता है, साहित्य के अन्य भागों में शब्दों के प्रयोग में नैरुक्तिक अर्थ का काफ़ी प्रभाव रहता है।

किसी भी भाषा के शब्दसमूह में उसकी प्राचीन भाषाओं के तथा संपर्क मे आई हुई अन्य भाषाओं के संबंध से चार भाग होते हैं—तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी। संस्कृत के संबंध से हिन्दी में कुछ तत्सम (ठीक संस्कृत रूप में, जैसे, देव, स्वर्ग, पाताल, नाग, मनुष्य, बालक आदि), कुछ तद्भव (संस्कृत शब्दों के बिगड़े हुए रूप जैसे, गाय, गोरू, राजपूत, मक्खी, पानी आदि), कुछ

देशी (देश की अन्य भाषाओं से लिए हुए जैसे, *टिकाऊ*, *चालू*, *गल्प*, *छैला*, *पिल्ला*, *गंडा*, आदि) तथा कुछ विदेशी (जैसे फारसी अरबी तुर्की अँगरेज़ी आदि से, *कुरता*, *तबीज*, *सवाल*, *जवाब*, *शाम*, *औरत*, *किताब*, *नक्शा*, *रेल*, *टिकट*, *ट्रेन*, *मास्टर*, *नोट* आदि) हैं।

प्राचीन आर्यभाषाओं में विदेशी शब्दों की संख्या बहुत कम है और देशी अन्य भाषाओं के शब्दों की उनसे कुछ ज्यादा पर तब भी कम। और इन दोनों भागों के शब्द भी इस प्रकार ढाल लिए गये हैं कि आर्यभाषा के व्याकरण और ध्वनियों से उनका सामंजस्य बैठ गया। उनका प्रधान शब्द-समूह तत्सम और तद्भव शब्दों का है। आधुनिक काल में भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकतर यही स्थिति है। पर उर्दू, पंजाबी, लहँदी और सिंधी की दशा भिन्न है। इनमें अरबी, फारसी आदि पश्चिमी भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य है। उर्दू ने तो यहाँ तक अत्याचार किया है कि विदेशी शब्दों की ध्वनियों को तथा व्याकरण के दो एक नियमों को भी ज्यों का त्यों कायम रखने का उद्योग करती है। इसी कारण वह भारतीय होती हुई भी अभारतीय सी दीखती है।

आधुनिक फारसी में एक तिहाई के करीब शब्द अरबी के हैं, द्राविड़ भाषा तेलुगू में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या आधी से अधिक है। रोमानी जिप्सी (हब्ड़ी) भाषा भारतीय आर्य भाषा है पर सदियों तक विदेश में रहने के कारण उसमें अधिकांश शब्द विदेशी हैं।

किसी ग्रंथकार या ग्रंथ के शब्दों की गणना करके इस बात का पता लगाया जा सकता है कि अमुक ग्रंथकार ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है या अमुक ग्रंथ में कितने शब्द आए हैं। ऐसी गिनती करते समय यदि एक ही शब्द बार-बार आया हो तो उसे एक ही बार गिना जाता है। इसी तरह व्यक्तियों के शब्दों की गणना करते समय यदि कोई व्यक्ति बहुभाषाविद् हो तो एक ही विचार को जतलाने वाले कई शब्दों (*बुक*, *पुस्तक*, *किताब*) में से एक ही गिनना चाहिए, बाकी के छोड़ देने चाहिए। हाँ यदि कोई विदेशी शब्द कुछ नया विचार उपस्थित करता हो तो दूसरी बात है।

विलायत का बेपढा लिखा आदमी केवल ३०० शब्दों का प्रयोग करता है, यही उसकी सारी पूँजी है। शेक्सपियर के सभी ग्रंथों में कुल १५००० शब्द हैं, मिल्टन के सात आठ हजार, होमर के काव्यों में करीब ६,०००, इंजील के पुराने भाग (टेस्टामेंट) में ५६४२ और नए में ४८००।

इसी प्रकार हिंदी या संस्कृत के ग्रंथों और ग्रंथकारों की यदि ठीक ठीक शब्द-सूची तैयार की जा सके तो कौतूहल की शांति के साथ साथ हमें आगे के लिए पथप्रदर्शन मिलेगा। कालिदास ने कितने शब्दों का प्रयोग करके अपनी अमर रचनाएँ उपस्थित कीं? माघ पंडित को शब्दों के खजाने का अधिष्ठाता कहा जाता है और कहते हैं कि शिशुपालवध के नव सर्ग पढ़ लेने पर फिर कोई नया शब्द नहीं रहता (नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते)। बाणभट्ट का शब्दसमूह अथाह बतलाया जाता है और कहते हैं कि संस्कृत साहित्य में सब कुछ बाण का जुठारा हुआ है (बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्)। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा, जायसी ने कितने शब्दों का प्रयोग किया इसका अनुसंधान करना रोचक होगा। और जड़िया नंददास ने जड़ाव करते हुए कितने शब्दों को निखार कर आभूषण तय्यार किए यह जानकारी भी मजे की होगी।

कुशल ग्रंथकार अपनी इच्छा के अनुसार अपने शब्दों की संख्या को सीमित या विस्तृत कर सकते हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय संस्कृत-बहुल 'प्रिय-प्रवास' लिखकर उसी सफलता से 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' भी और 'चोखे चौपदे' भी लिख सकते हैं। इंशाअल्ला खाँ ने फारसी के विद्वान होते हुए भी 'रानी केतकी की कहानी' लिख दी जिसमें सारा पुट हिंदुई का ही है। टकसाली कलाकार शब्दों का धनी होते हुए भी सरल, सीधे सादे शब्दों का प्रयोग करता है। वह उस उदारचित्त राजा के समान है जो अतुल संपत्ति का स्वामी होते हुए भी सादी रहन सहन पसंद करता है जिससे उसकी प्रजा उसके साथ निजत्व का अनुभव करती है। दूसरी ओर दुरूह वागाडंबर में पड़ने वाला साहित्यिक अपनी शब्दसंपत्ति का प्रदर्शन कर अपने ओछेपन का परिचय देता है।

हमारे शब्दसमूह में कुछ चिड़ियों और जानवरों के ऐसे नाम होते हैं, जिनका, केवल नाम को छोड़कर, हमें कोई परिचय नहीं। ऐसे शब्द व्यक्तिवाचक शब्दों से भिन्न नहीं। किसी के शब्दों की गणना करते समय इनको छोड़ ही देना ठीक होगा।

जनसमुदाय अन्य जनसमुदायों के संपर्क में आने पर विचारों का आदान प्रदान करता है और इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि (विशेष रूप से नए विचारों का बोध कराने वाले) एक के शब्द दूसरे जनसमुदाय के व्यवहार में आ जायँ। जीवित जनसमुदाय इन्हें लेकर अपनी निजी ध्वनि और व्याकरण के

साँचे में ढाल लेता है। *कागज, गरीब, शबाब, खबर, मजदूर, जिद, जुल्म, फ़िक्र कवायद* का आधुनिक हिन्दी में *कागद गरीब, सबाब, खबरि, मजूर, जिद्दी, जुलुस, फिकिर, कवायद* होकर इस्तेमाल में आना स्वाभाविक है। अथवा अँगरेजी के *ग्लास, सिग्नल, स्टेब्ल, बाटल्* का *गिलास, सिंगल, अस्तबल, बोतल* हो जाना ठीक है। पर उन शब्दों का ज्यों को त्यों हिंदी में बोलने की कोशिश करना अपनी दासता का परिचय देना है। जीवित भाषा दूसरी भाषाओं से यथेष्ट शब्द लेती है, न उसकी ध्वनियाँ लेती है और न उनका व्याकरण। *किताब* का बहुवचन भारतीय भाषाओं में *किताबें* (न कि *कुतुब*) अथवा *इस्टेशन* का *इस्टेशनें* (न कि *इस्टेशनस्*) होगा। इसी में स्वाभाविकता है।

शब्द-समूह पर विचार करते समय भाषा की शुद्धि अशुद्धि पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। जब से मनुष्य ने भाषा के विषय में मनन और चिन्तन आरम्भ किया तभी से इस दिशा में विचार होता आया है। पाणिनि ने व्याकरण की रचना इसी लिये की कि भाषा का शुद्ध रूप स्थिर रह सके। पतंजलि ने भी म्लेच्छ उच्चारण का उल्लेख किया है। शुद्धता के भी तीन अंग हैं, उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह। सम्प्रति हमें अन्तिम अंग पर विचार करना है। शब्द-समूह में बहुत से शब्द भाषा के अपने रहते हैं जो उस में पूर्ववर्ती भाषा के क्रम से आते हैं। यह भाषा की अपनी निजी सम्पत्ति कहलाती है। हिन्दी में इस श्रेणी के शब्द संस्कृत से प्राकृत में और प्राकृत से अपभ्रंश में होते हुए आए हैं।

इसके अलावा प्रत्येक भाषा अपनी समकालीन देशी विदेशी भाषाओं से शब्द लेती है। हिन्दी ने बंगाली से *उपन्यास, गल्प* आदि और मराठी से *चलतू, टिकाऊ, बाज़ारू* आदि शब्द लिए हैं। पर किसी भी सम्पन्न भाषा में इनके अतिरिक्त भी शब्द रहते हैं, जो तत्सम्बन्धी प्राचीन भाषाओं से लिए जाते हैं। अँगरेजी, जर्मन आदि भाषाएँ इस प्रकार ग्रीक, लैटिन से शब्द लेती आई हैं और बंगाली, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि संस्कृत से। इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। यथा-संभव जीवित भाषा प्राचीन भाषाओं से शब्द लेकर उन्हें अपने ध्वनि-नियमों के साँचे में ढाल लेती है। विदेशी शब्दों को भी इसी साँचे में ढालकर अपना लेने में भाषा की प्राणशक्ति का प्रमाण है। कम जीवट वाली भाषाएँ ही विदेशी शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करती हैं।

विदेशियों के सम्पर्क से जब हम कोई नई विद्या, कला, खेल, फ़ैशन आदि सीखते हैं तब उस सम्बन्ध के विदेशी शब्द अनायास हमारी भाषा में आ जाते हैं। बहुधा इनके लिए हम अपने शब्द नहीं गढ़ते (लालटेन, स्टेशन, हाकी), पर कभी कभी गढ़ भी लेते हैं (माचिस के लिए दियासलाई) ऐसे शब्दों का अपनाने के समय केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि हम अपनी भाषा में अनावश्यक भरमार तो नहीं कर रहे हैं। यदि हमारे पास उन चीजों और भावों के लिए पहले से शब्द मौजूद हैं और वे अच्छे और सुगम तथा स्पष्ट हैं तो हमें सावधान रहना चाहिए। यह विषय केवल भाषा की शुद्धि अशुद्धि का नहीं, उस भाषा के स्वामी, राष्ट्र के गौरव का भी है। जिस भाषा का जितना ही उज्ज्वल भूतकाल और तत्सम्बन्धी साहित्यिक युग रहा है, उतना ही उस भाषा के निर्माताओं का कर्त्तव्य अधिक हो जाता है कि अपनी भाषा का गौरव और मान बनाए रक्खें।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या का हल करते समय हमें इसी सिद्धान्त का ध्यान रखना चाहिये। ऊपर देखा जा चुका है कि कोई भाषा विदेशी ध्वनियाँ नहीं उधार लेती। विदेशी ध्वनियों की निस्बत अपनी प्राचीन भाषाओं की ध्वनियों का उच्चारण सुगम पड़ता है और अपने गौरव के अनुकूल। इसी से भारतीय भाषा-विज्ञानी प्रायः सर्व-सम्मत हैं कि भारतीय भाषाओं की पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत, पालि, प्राकृत को उपादान मानकर बनानी चाहिए।

सत्रहवाँ अध्याय

भाषा की गठन

भाषा के लक्षण से हम जान चुके हैं कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रति मनुष्य की बोली दूसरे मनुष्य की बोली से भिन्न है क्योंकि यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह ध्वनियों का उच्चारण ठीक ठीक उसी स्थान और प्रयत्न से करता है जिससे दूसरा, और उसके दिमाग में शब्दार्थ बिलकुल वही है जो दूसरे के। दूसरी ओर संसार की सभी भाषाएँ एक ही प्रयोजन सिद्ध करती हैं—मनुष्य के मनोभावों और विचारों को व्यक्त करना। उस दृष्टि से सभी एक हैं। इस वैज्ञानिक एकत्व और अनेकत्व के बीच, व्यवहार की दृष्टि से, संसार की सभी भाषाओं की सत्ता है। संसार के निवासयोग्य सभी स्थानों, मैदानों, वनों, पर्वतों में मनुष्य बसते हैं। यदि हम एक स्थान से दूर तक बराबर चले जायँ तो हमें धीरे धीरे उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह की भिन्नता झलकती जायगी और जब एक स्थान की वाणी की दूसरी, दूर की जगह की बोली से तुलना करेंगे तो काफी अन्तर दिखाई पड़ेगा। जनसमुदाय जितना ही संगठित होगा उसकी भाषा भी उतनी ही गठी हुई सुश्लिष्ट होगी, और समाज की जंजीर जितनी ही ढीली होगी, भाषा के अंगों में उतनी ही विभिन्नता होगी। तुलनात्मक दृष्टि से, एक परिवार की बोली दूसरे परिवार की बोली से कुछ न कुछ अंशों में भिन्न होगी ही, यद्यपि वह भिन्नता हमें प्रत्यक्ष न दिखाई दे। कई परिवारों द्वारा बने हुए गाँव की बोली, आपेक्षिक दृष्टि से, दूसरे गाँव की बोली से, कुछ बातों में जुदा होगी। पर एक ही गाँव में भिन्न भिन्न परिवारों की बोलियों में भिन्नता के कण मौजूद हैं। पुरोहित जी शीघ्रबोध, सत्यनारायण की कथा, विष्णुसहस्रनाम आदि से परिचित हैं तो कुछ न कुछ देवपूजा करते ही होंगे और कुछ न कुछ संस्कृत के वायुमंडल से शब्दों को उद्धृत कर अपने घर में बोलते ही होंगे। पटवारी साहब उर्दू में कागजात रखते रखते कुछ उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते ही होंगे और यदि "सभ्य" समाज में बैठने का अभ्यास होगा तो उनका शीन क़ाफ भी दुरुस्त होगा। यदि पास पड़ोस के शहर से मुल्ला जी गाँव में कभी कभी आते होंगे तो वहाँ

के मुसल्मान निवासी दीन और अल्लाह का थोड़ा बहुत ज्ञान रखते ही होंगे। गाँव का एकाध नौजवान यदि शहर में चपरासी आदि के पद को सुशोभित करता होगा तो वह भी निश्चय ही अपने दफ्तर से दस पाँच अँगरेजी शब्द लाकर गाँव वालों पर रोब गाँठेगा ही। इसी प्रकार भिन्न भिन्न संपर्कों से विभिन्न शब्दों और उच्चारणों के आने की संभावना बनी ही रहती है। इस सब के होते हुए भी हम कह सकते हैं कि गाँव की बोली एक है। पर इस एकत्व के पीछे भिन्नत्व के बीज अगोचर रूप से उपस्थित हैं।

निकटस्थ ग्राम-समुदाय की वाणी को बोली का नाम दिया जाता है; उसके भीतर के सूक्ष्म भेदों की अवहेलना करने पर ही वह नाम देना संभव है। पड़ोस के दूसरे ग्राम-समुदाय की बोली कुछ इससे भिन्न होगी, उसके बाद वाले की कुछ और भिन्न। यदि इन तीन ग्राम-समुदायों के नाम क, ख और ग हों और क की विशेषताएँ य र ल व श हों तो ख की विशेषताएँ उससे कुछ भिन्न
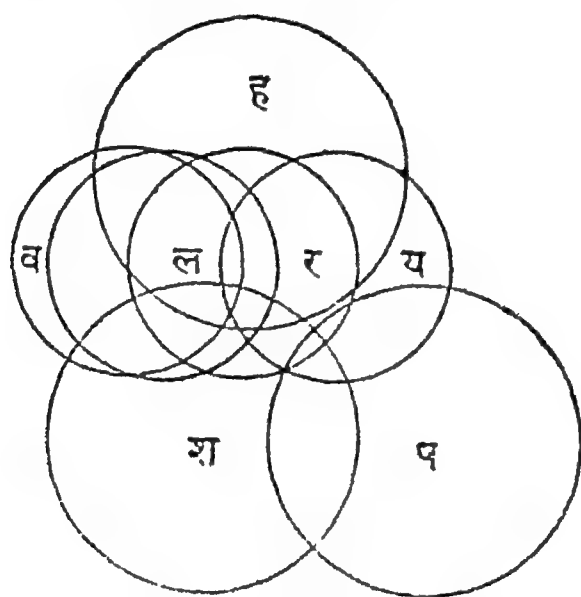
हो कर शायद र ल व श प होंगी और ग की य ल व श ह। बहुधा ऐसा होता है कि एक बोली की कुछ विशेषता दूसरी या तीसरी निकटस्थ बोली में न मिल कर चौथी या पाँचवीं में मिल जाती है। इन विशेषताओं के चक्र ऐसे हैं जिनकी परिधियाँ एक दूसरे को काटती रहती हैं।

अवधी की बोलियों में मध्यपुरुष एकवचन सर्वनाम लखीमपुरी में तुइ है और सीतापुरी में भी तुइ है पर इसी का संबंधवाचक विशेषण लखीमपुरी में तोर है तो सीतापुरी में कुछ अंशों में त्वार है। उन्नाव की बोली में भी त्वार है। साथ ही अनिश्चय-वाचक सर्वनाम, लखीमपुरी और सीतापुरी दोनों में कोई है

पर उन्नाव की बोली में कोऊ। अशोक के शिलालेखों में से *पितृ* का रूप शहबाजगढ़ी, मनसेहरा मे *पितु, पिति* मिलता है, यही कालसी धौली और जौगढ़ में; पर *भ्रातृ* का श० म० मे *भ्रतु भत* और का० धौ० जौ० में *भाति* मिलता है। पर *वृद्ध* का श० मे *वुढ*, म० में *वुध्र*, वध्र, कालसी में *वुध* और धौ० जौ० में *वुढ*।

शब्दो की विभिन्नता रहते हुए भी जब तक पदरचना की और उच्चारण की विभिन्नता न आवे तब तक यही समझना चाहिए कि बोली एक है। किसी गाँव मे दूर के गाँव से आई हुई बहू सभव है, कुछ दिन अपने मायके के दो चार विशेष प्रयोग करे, *निकरब* की जगह *निकसब, अलग* की जगह वइवइ, अथवा पदरचना के भी, *जाइ* की जगह *जान, गवा* की जगह *गओ*, आदि प्रयोग भी लावे, पर जब तक इस तरह के भिन्न प्रयोग कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहेंगे और बाक़ी गाँव के लोग एक तरह के प्रयोग करेंगे तब तक गाँव की बोली एक ही समझी जायगी। किंतु यदि यही विभिन्नता कुछ परिवारों मे सिक्का जमा लेती और गाँव का एक भाग इस प्रकार बोलता और दूसरा दूसरी तरह, तो हम कह सकते कि दोनों भागों की बोलियों में विभिन्नता है। किसी प्रदेश की वाणी को बोलियों में बाँटने का सिद्धान्त यही है कि जहाँ बहुतेरी विशेषताएँ एक साथ मिलती हैं वह एक बोली, और भिन्नता के अनुपात से विभिन्न बोलियाँ।

बहुधा बोलियाँ किसी भाषा के अंतर्गत होती हैं। भाषा उनमें से कोई प्रमुख बोली ही होती है जो अपनी अतर्गत बोलियों से कुछ अंशों में (विशेषताओं में) भिन्न या अधिकाश मे समान होती है। अवधी के अंतर्गत, लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली आदि बहुत से जिलों की बोलियाँ हैं। इन जिलों की बोलियों के अतर्गत स्वय और अधिक-सीमित क्षेत्र में काम करने वाली बोलिया हैं। पडोस में ब्रज है जो शाहजहाँपुर, पीलीभीत मे और हरदोई के कुछ भाग में बोली जाती है। उसकी भी इन जिलों की बोलियों के अंतर्गत, आपेक्षिक दृष्टि से, सीमित क्षेत्र में काम-करने वाली बोलियाँ हैं। अवधी के जिलों की बोलियों की परस्पर विभिन्नता, आपेक्षिक दृष्टि से, एक जिले के भीतर की आपस की विभिन्नता से कुछ कम होगी। और अवधी और ब्रज की परस्पर विभिन्नता प्रत्येक की जिलों की बोलियों की विभिन्नता से अधिक होगी। इन दोनों की हिन्दुस्तानी से भी विभिन्नता है। उसका वही स्थान है जो ब्रज या अवधी का। और ये तीनों ही हिंदी के अंतर्गत हैं। हिंदी को हम भाषा कहते हैं और हिंदुस्तानी, ब्रज और अवधी को उसकी

बोलियाँ। और हिन्दी सचमुच वास्तविक निजी रूप में है क्या? केवल हिन्दुस्तानी बोली-समूह की एक बोली जो किन्हीं कारणों से प्रमुख हो गई है और जिसकी प्रमुखता ब्रज और अवधी ने स्वीकार कर रक्खी है।

किसी बोली की प्रमुखता के विभिन्न कारण होते हैं जिनमें राजनीतिक प्रमुखता विशेष है। जिस विशेष प्रदेश का राजा होगा और जो बोली वह बोलता होगा, वही बोली प्रधान समझी जायगी। हर आदमी यही कोशिश करेगा कि राजा और उसके कर्मचारियों से वही बोली बोले। हिन्दी खड़ी बोली के फैलने का यही मुख्य कारण हुआ। कई सदियों तक दिल्ली के आसपास राज्यशासन रहा। वहाँ की बोली को जो पृष्ठपोषण मिला, वह ब्रज और अवधी को नहीं मिल सका। आखिर में इन दोनों को खड़ी बोली की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ी।

राजनीतिक प्रभुता के अलावा साहित्यिक श्रेष्ठता भी किसी बोली को प्रधान बनाने में सहायक होती है। जिस समय ऋग्वेद की ऋचाएँ बनीं, उस समय आर्य लोगों के जत्थे परस्पर कुछ न कुछ विभिन्न बोलियाँ बोलते रहे होंगे। उस समय सामाजिक संगठन इतना सुश्लिष्ट होना जितना आज है संभव नहीं था; आर्य टोलियों में बँटे थे। ऐसी परिस्थिति में जिन ऋषियों ने इन ऋचाओं का निर्माण किया वे तत्कालीन समाज में प्रमुख समझे जाने लगे और उनकी बोली प्रधान। वैष्णव मत के कृष्ण संप्रदाय के केंद्र मथुरा वृन्दावन बने और वहाँ पराजित हिन्दू जनता को कुछ शांति मिली। वहाँ की धार्मिक प्रधानता से ब्रजभाषा को प्रोत्साहन मिला और वह साहित्यिक माध्यम होकर कई सदियों तक उत्तर भारत में ही नहीं, महाराष्ट्र और बंगाल में भी अपना प्रभाव जमा सकी। जायसी और तुलसीदास ने अवधी को प्राधान्य दिया। लंदन की अंगरेजी बोली ही इंगलैंड में माननीय समझी जाती है।

साहित्य के अलावा, किसी जनगण का प्रभाव भी भाषा को प्रधान बना सकता है। कहीं पर के मारवाड़ी यदि प्रभुत्व प्राप्त कर लें और उनके कहने सुनने पर जनता चलने लगे तो उनकी भाषा का विशेष प्रभाव जनता पर पड़ेगा। अथवा पुरोहित वर्ग भी विशेष प्रभाव डाल सकता है। सारांश यह कि भाषा की प्रधानता सभ्यता की शक्ति पर होती है, वह सभ्यता या संस्कृति चाहे जिस रूप की हो।

भाषा और बोली में क्या अन्तर है? दोनों शब्द वाणी के ही द्योतक हैं, आपेक्षिक दृष्टि से एक का क्षेत्र सीमित है, दूसरे का विस्तृत। बोली भाषा के

अंतर्गत है, भाषा बोली के अंतर्गत नहीं। ध्वनिग्राम और ध्वनियों में जो अन्तर है, वही अन्तर भाषा और बोली में है। एक ही भाषा की दो बोलियों के बोलनेवालों को परस्पर समझने में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है, दो भाषाओं को समझने में ज्यादा। जब दो बोलियों में परस्पर अन्तर की विशेषताएँ इतनी अधिक हो कि एक के बोलने वाले दूसरी का न तो ठीक उच्चारण कर सकें और न ठीक ठीक उसके शब्द और अर्थ समझ सकें तो उन दो बोलियों को दो भिन्न भाषाओं के अंतर्गत समझना चाहिये।

राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणों से जो बोली एक समय प्रमुख हो कर भाषा का रूप धारण कर लेती है वही कालांतर में दूसरी बोली की बोली बन सकती है। अवधी और ब्रज अब केवल बोली-रूप में हैं, पर पिछली कई सदियों तक वे स्वतंत्र भाषा का रूप रक्खे रहीं। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी आदि प्राकृत साहित्यिक भाषाएँ जिन विशिष्ट प्रदेशों की वाणियाँ होकर भाषाएँ दिखलाई पड़ीं, खास उन्हीं प्रदेशों के अपभ्रंश भी बाद को साहित्यिक महत्त्व प्राप्त कर सके हों, ऐसी बात नहीं है।

जैसे व्यक्तियों के आपस के व्यवहार के कारण, व्यक्तिगत विशेषताओं की अवहेलना कर बोली अपना रूप धारण करती है उसी तरह विभिन्न बोली बोलनेवालों के आपस के व्यवहार के कारण ही भाषा बनती है। बोली वाणी-संबंधी नियमों के अनुकूल स्वभाव से ही बनती और विकसित होती रहती है। उसके बनने बिगड़ने पर किसी विशेष व्यक्ति का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणों से बनी हुई भाषा पर व्यक्तियों का विशेष असर होता है। साहित्यिक भाषा पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है। एक सफल साहित्यिक अपनी रचनाओं के द्वारा अलक्षित संख्या वाले लोगों की भाषा पर प्रभाव डाल देता है। एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य भाषा गढ देता है। स्वाभाविक रीति से बोलियों का विकास मूलरूप से सामाजिक संगठन पर निर्भर है, और उसी संगठन की मात्रा उन बोलियों की सीमाएँ निर्धारित करती है। पर राजनीतिक आदि कारणों से व्यवहार में आई हुई भाषाओं की सीमा राज्य-विभागों आदि के अनुकूल पड़ती है। महाभारत काल से जो जनपद उत्तर भारत में स्थापित थे, बहुत समय तक उन्हीं के अनुकूल बोलियों की स्थिति रही। इधर अंगरेजी राज्य द्वारा स्थापित सूबों के कारण इन की सीमाओं में अन्तर पड़ गया है। मुगल आदि राज्यों के समय किन्हीं सूबा-

सरकारों की सीमाएँ सौ सवा सौ साल भी निश्चित नहीं रहीं इस लिए उन सीमाओं का महत्त्व नहीं सा दिखाई पड़ता है।

कोई बोली इस तरह भाषा बनकर जब छिन्न भिन्न होती है तो उसका कारण यही होता है कि जिस सामाजिक संगठन ने एक सूत्र में बाँध रक्खा था वही बिखर गया। शौरसेनी प्राकृत के प्रधान बनने का कारण उस प्रदेश की प्रधानता रही होगी, राजनीतिक अथवा साहित्यिक, और शौरसेन अपभ्रंश तथा ब्रजभाषा द्वारा वह प्रधानता कायम रही। पर इधर, विशेषकर राजनीतिक कारणों से, खड़ी बोली ने प्रभुता कायम कर ली और ब्रज की प्रधानता खत्म हो गई। वर्तमान बंगला साधुभाषा के रूप के बनने में कलकत्ता केन्द्र का विशेष प्रभाव रहा है। मराठी पर पूना केन्द्र की काफी गहरी छाप है। आजकल की साहित्यिक गुजराती पर महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों का काफी असर है। इस तरह हर भाषा के बनने बिगड़ने में विशेष परिस्थितियाँ रहती हैं, और वह राजनीतिक केन्द्र से, साहित्यिक केन्द्र से अथवा किसी और प्रकार के केन्द्र से अथवा महापुरुष से फैलना आरंभ करती है।

जब किसी प्रदेश की बोली स्टैंडर्ड होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है तब आस पास की बोलियाँ अपनी छोटी छोटी विशेषताएँ खो बैठती हैं और उसी में शामिल हो जाती हैं। ऐसा भी होता है कि स्टैंडर्ड बोली भी अपनी छोटी छोटी विशेषताएँ छोड़ देती है। इटली में रोम की लैटिन भाषा जब स्टैंडर्ड हुई तो रोम के आस पास की बोलियों को हजम कर गई। कलकत्ता की साधुभाषा ने आस पास की बंगला बोलियों में विशेष 'साधुता' का पुट भर दिया है। केन्द्र की बोली से दूर की बोलियाँ जो उसके अंतर्गत होती हैं उनकी एक आध विशेषताएँ केन्द्र की उस स्टैंडर्ड बोली में आना चाहती हैं। खड़ी बोली को पंजाबी के मुख से जब सुनते हैं तब *हमने करना है* आदि प्रयोग कानों में आते हैं और जब भोजपुरी के मुख से तब *हम आम खाए आदि*। जब तक खड़ी बोली सतर्क रहेगी तब तक ये प्रयोग भाषा में शामिल न हो सकेंगे। पर यदि उच्चकोटि के लेखकों के मान्य ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग आ गये तो 'पंजाबीपन', 'पुरबियापन' आदि कह कर उनकी उपेक्षा की जायगी।

बोलियाँ स्वाभाविक रीति से विकसित होती रहती हैं पर स्टैंडर्ड भाषा, बोलचाल से दूर रहने के कारण, प्राचीन रूप धारण किए रहती है और जितना ही उसका क्षेत्र बड़ा होता है उतनी ही प्राचीनता के अंश के अधिक होने की संभावना होती है। साथ ही जितना विस्तृत क्षेत्र होता है उतनी ही छिन्न

भिन्न होने की संभावना रहती हैं। खड़ी बोली का जो साहित्यिक रूप आज प्रचलित है, उसमें और दिल्ली, मेरठ, बिजनौर, मुजफ़्फ़रनगर आदि जिलों की वर्तमान-कालिक बोली में काफ़ी अन्तर पड़ गया है। यदि उसी प्रदेश के कलाकार जीती जागती बोलचाल की भाषा का प्रभाव उस पर न ला सके तो खड़ी बोली की प्राचीनता बढ़ती ही रहेगी। यह भी देखा गया है कि खड़ी बोली के काशी प्रयाग आदि दूर की जगहों के लेखकों के ग्रन्थों मे, बोलचाल की खड़ी बोली के प्रभाव के बाहर होने के कारण, प्राचीन प्रयोगों की अधिकता रहती है और सस्कृत और फारसी के शब्दों का, तद्भव रूपों की अपेक्षा, अधिक व्यवहार।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता लेख-बद्धता के कारण भी विशेष क़ायम रहती है। सस्कृत को उसके ग्रथों ने ही स्थिर कर रक्खा है। खड़ी बोली के रूप की गठन पूर्व बने हुए ग्रंथों पर ही ढलती चलती है। आज जब साहित्यिक ब्रज का चलन नहीं है तब भी सूरदास और केशवदास की भाषा ही दो-चार ब्रजभाषा-भक्त कवियो की रचनाओं को रास्ता दिखाने का काम करती है।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता रहने पर भी, और विस्तृत क्षेत्र रहने पर भी, कुछ न कुछ वर्तमान-कालिक प्रभाव उस पर पड़ता ही है। बाण, माघ, भारवि की भाषा की तुलना एक ओर कालिदास के ग्रथों से और दूसरी ओर राजशेखर, श्रीहर्ष और जयदेव के ग्रथों से, विश्लेषण की दृष्टि से, की जाय तो उन ग्रंथकारों के तत्कालीन प्रभाव की झलक दिखाई पड़ेगी। अभी तीस साल पहले के खड़ी बोली के ग्रंथों को देखें तो आजकल के प्रयोगों से भिन्नता दिखाई पड़ेगी। अब *करैं* की जगह *करें*, *पड़ैगी* की जगह *पड़ेगी*, *जाए*, *जावे* की जगह *जाय* व्यवहार में मिलते हैं।

यदि लेखबद्धता न भी सुलभ हो तब भी परम्परा से भाषा मे प्राचीनता क़ायम रह सकती है। गिनती और पहाड़े, पउवा, अद्धा, सवइया, अढ़इया आदि में, अथवा छंदोबद्ध कथांशों में प्राचीनता स्मृति के साधन द्वारा सुरक्षित परम्परा से ही स्थिर रह सकी है। वेद की भाषा को प्राचीनकाल में क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम साधनों द्वारा सुरक्षित रक्खा गया। सूत्रशैली जिस प्रकार विचारों की रक्षा कर सकी उसी तरह छद भाषा को क़ायम रखने में बड़ी मदद करता है।

स्टैंडर्ड भाषा और साहित्यक लेखबद्ध भाषा में भी आपस में अतर होना संभव है और बहुधा रहता है। आजकल खड़ी बोली प्रायः उत्तर भारत के

सभी नगरों में आपस के व्यवहार का साधन बन गई है पर इसका साहित्यिक भाषा (उर्दू या हिन्दी) से काफी अन्तर पड़ गया है। हिंदी और उर्दू साहित्य के वर्तमान आचार्य महानुभावों से बात करिए और फिर उनकी रचनाओं को पढ़िए, अन्तर प्रत्यक्ष रूप से मालूम पड़ेगा।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा विशिष्ट भाषा होती है। सदियों तक साधारण व्यवहार की भाषाएँ प्राकृतें और अपभ्रंश रहे पर संस्कृत विशेषरूप से साहित्यिक भाषा रही। आज भी मलयदेश के निवासी कोई आर्य भाषा नहीं बोलते पर उनकी साहित्यिक भाषा कवि में संस्कृत शब्द और शब्दांश बहुतायत से मिलते हैं। साहित्यिक भाषा की अपेक्षा सामान्य व्यवहार की स्टैंडर्ड भाषा का तल नीचा सा रहता है। इसका कारण यही है कि स्टैंडर्ड भाषा का व्यवहार सभी करते हैं पर साहित्यिक भाषा ग्रंथकारों और पाठकों तक सीमित रहती है। पठन-पाठन के सर्वसाधारण होने पर भी साहित्यिक भाषा उस तल तक न आ सकेगी क्योंकि ग्रंथकार हमेशा ही ऊपर के तल के रहेंगे। यह ग्रंथकार ही साहित्यिक भाषा बनाया करते हैं।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा, भाषा के विकास की एक मंजिल मात्र है। उससे उस भाषास्रोत की मंजिल ही मालूम होती है, अन्य कुछ नहीं। जिस तरह किसी नदी के प्रवाह के ऊपर किसी जगह बर्फ जम जाय, तो ऊपर तो बर्फ की तह रहेगी पर नीचे ही नीचे पानी बहता रहेगा और आगे बढ़ता जायगा, उसी तरह जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अबाध गति से विकसित होती रहती है पर साहित्यिक भाषा रुक जाती है। और जब इस साहित्यिक भाषा से अबाध गति से विकसित भाषा का बहुत अन्तर पड़ जाता है तब वह मनुष्य-समाज अन्य साहित्यिक भाषा बना लेता है। भारतीय आर्य भाषाओं में इस बात के बहुत उदाहरण मिलते हैं। वैदिक साहित्यिक भाषा जब लोक-भाषा से अधिक भिन्न हो गई तब ईसा के पूर्व सातवीं आठवीं सदी में वैदिकोत्तर संस्कृत भाषा साहित्य में लाई गई जिसको पाणिनि के समय में कठोर नियमों से जकड़ा गया। पर लोक-भाषा बढ़ती ही रही और हमें प्रचुर प्रमाणों द्वारा मालूम होता है कि गौतम बुद्ध के समय संस्कृत में और आर्यों की लोक भाषा में इतना अन्तर पड़ गया था कि बुद्ध भगवान ने न केवल इतना ही किया कि स्वयं संस्कृत से भिन्न भाषा में अपने धर्म का प्रचार किया बल्कि अपने अनुयायियों को अपनी अपनी बोली (निरुक्ति) में धर्म सीखने की अनुमति दे दी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत का

जो एकछत्र राज्य था वह खत्म हो गया और उससे भिन्न भाषाएँ क्षेत्र में आ गईं। इसी के फलरूप हमें जैन धर्मग्रंथ अर्धमागधी (आर्ष). प्राकृत में और बौद्ध ग्रंथ मागधी (पालि) में मिलते हैं। अशोक ने धर्म का प्रचार संस्कृत में न करके प्राकृत में ही किया। इन प्राकृतों का, देश में बाद को साहित्यिक रूप पाने वाली महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी से काफी अन्तर है। और तो और, अश्वघोष के खंडित नाटकों में जो शौरसेनी प्राकृत मिलती है वह भी ऊपर वाली शौरसेनी से कुछ भिन्न और पहले की है। राजशेखर (ई० १० वीं शताब्दी पूर्वार्ध) के समय तक प्राकृतें साहित्य में व्यवहार में आती थीं, यद्यपि दंडी (सातवीं शता० उत्तरार्ध) के समय से ही अपभ्रंशों का साहित्य में प्रयोग होने लगा था। इसका मतलब यही है कि दंडी के समय तक साहित्यिक रूप धारण किए हुई शौरसेनी आदि प्राकृतों और उस समय बोली जाने वाली भाषाओं के बीच में काफी अन्तर पड़ गया था। अपभ्रंशों का हेमचन्द्र-सूरि (१२ वीं श० ई०) के समय तक ही नहीं, विद्यापति (१४ वीं श० ई०) के काल तक बोल बाला रहा। पर सिद्धों के बौद्ध गान और दोहा (प्रायः १० वीं श० ई०) की भाषा की समीक्षा करने से पता चलता है कि अपभ्रंश अपना स्थान खो रहे थे और आधुनिक आर्यभाषाएँ प्रयोग में आने लगी थीं। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि साहित्यिक भाषा सदा एक ही नहीं रह सकती और जितना ही उसका बोलचाल की भाषा से फ़र्क़ होगा उतना ही उसका क्षेत्र सीमित होता जायगा।

विशिष्ट भाषा

जनसाधारण की भाषा और साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त, विशिष्ट जन-समुदाय की विशिष्ट भाषा भी हो सकती है, जैसे कानूनी भाषा, पुरोहित-भाषा वणिक्श्रेणि-भाषा, सासियों की भाषा, विद्यार्थी-भाषा आदि। इस तरह की विशिष्ट भाषा का व्यवहार विशेष जनसमुदाय अपने आपस के काम काज में विशेष रूप से करता है। इस प्रकार की विशिष्ट भाषा किसी न किसी जीवित लोकभाषा के आश्रय पर ही टिकी रहती है और उससे अन्तर अधिकांश में केवल शब्दावली का ही होता है। हिन्दी की क़ानूनी भाषा में आज कल फारसी अरबी तथा अँगरेजी के बहुतेरे शब्द हैं, पुरोहिती भाषा में संस्कृत के, विद्यार्थी-भाषा में अँगरेजी के। सासिये और हबूड़े बोलते यद्यपि हिन्दी ही हैं तब भी उनकी भाषा में कुछ शब्द और मुहाविरे ऐसे होते हैं जो उनके खास हैं और जिन्हें जनसाधारण नहीं समझ सकते।

विकृत बोली

विशिष्ट जनसमुदायों में ही शब्दों को तोड़, मरोड़ कर बोलने की प्रथा भी चल पड़ती है। ऐसे शब्द जनसाधारण के शब्दों के ही विकृत रूप होते हैं। हँसी मजाक, खेलकूद, गाने बजाने आदि में पहले पहल इनका प्रयोग होता है और फिर इनका क्षेत्र बढ़ जाता है। शब्द ही नहीं, विशेष मुहाविरे भी चल पड़ते हैं; बोलने वाले जानते हैं कि हम बिगाड़ कर बोल रहे हैं, तब भी शब्दों के इस बिगाड़ने में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। बाँह की जगह *बँहिया*, *पाँव* की जगह *पइँया* का व्यवहार इसी तरह ब्रजभाषा में आया होगा। वर्तमान काल में *गाल* को *गल्लू*, *हाथ* को *हत्थी*, *हत्थू* कहने का रवाज शहरों में सुन पड़ता है। प्रयाग में मेले तमाशे में *राजा* शब्द से नवयुवक परस्पर सम्बोधन करते दिखाई देते हैं।

विकृत बोली की जड़ खास खास पेशे वालों या बिरादरियों में पड़ती है, और यदि उस पेशे वाले या बिरादरी वाले लोगों का जनसाधारण में प्रभाव हुआ तो वे विकृत शब्द जनसाधारण की भाषा में भी आकर घर कर लेते हैं।

रहस्यात्मक प्रभाव

विशिष्ट भाषा और विकृत बोली में ही ज्यादा तर, वाणी पर कुछ रहस्यात्मक प्रभाव पड़ने आरम्भ होते हैं। सम्मान और श्रद्धा के पात्र के लिए अन्य-पुरुष की क्रिया का प्रयोग अथवा *भवत्*, *आप*, *रउवाँ* आदि सर्वनामों का प्रयोग इसी रहस्य का उदाहरण है। अंगरेजी में भी इसी तरह राजा रानी ने अपने कर्मचारियों को अन्य-पुरुष में संबोधित करने की प्रथा चलाई जो संभवतः इस विचार से उठी कि कर्मचारी परमेश्वर के अंश राजा-रानी की बराबरी कैसे कर सके; और आज अँगरेजी में जो *मेमो* अफसरों की ओर से कर्मचारियों को ही नहीं प्रजाजन को भी भेजे जाते हैं उनमें बहुधा अन्यपुरुष का प्रयोग देखा जाता है। भारतीय सभ्यता के अनुकूल स्त्रियां जो अपने पति का या बड़े लड़के का नाम नहीं लेतीं अथवा शिष्य गुरु का नाम नहीं लेता, उसमें भी विशेष आदर ही जड़ में है और साथ ही साथ शायद यह भावना कि कहीं नाम लेने से अनिष्ट न हो जाय। इस प्रकार के रहस्य की मात्रा एक बार उठ कर अधिक व्यापक हो सकती है। करीब नाम की जंगली जाति में पुरुषवर्ग करीब बोली बोलता है और स्त्रियां अरोवक बोलती हैं। दोनों में काफी भेद है।

कैलीफ़ोर्निया के उत्तरी प्रदेश में यन नाम के मूल इंडियन निवासी हैं। इनकी भाषा में भी यही भेद है, उदाहरण के लिए—

	पुरुष	स्त्री
आग	अउन	अउह्
मेरी आग	अउनिज	अउनिच्
हिरन	वन	व
रीछ	तेन	तेत

की नाम की इंडियन जाति में पुरुष अपनी बहिनों के तथा कुछ अन्य रिश्तेदार स्त्रियों के नाम नहीं लेता।

वर्गों की सामाजिक श्रेष्ठता या हीनता के कारण भी रहस्यात्मक भेद पैदा हो जाता है। जावा (यवद्वीप) के मूल निवासियों में रवाज है कि उच्च वर्ग के लोग नीच वर्ग वालों से न्गोको बोली बोलते हैं और नीच वर्ग वाले उनसे क्रोमो में बोलते हैं। पूर्वी अफ्रीका में मसाई जाति में पुरुषवर्ग आयु के अनुसार दो विभागों में बँटा रहता है, और खाने की कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका दूसरा वर्ग व्यवहार नहीं करने पाता और इसलिए उन चीजों के नाम भी नहीं ले सकता। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता की भाषा में एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कुछ जोड़ी के शब्द हैं—एक अहुर (असुर) और दूसरे दैव (देव)। इनमें से एक भले और ईश्वररचित सृष्टि के पदार्थों के लिए और दूसरे बुरे और शैतान के बनाए हुए पदार्थों के लिए प्रयोग में आते हैं। पारसी धर्म में अच्छे और बुरे के बीच जो घोर विरोध प्रतिपादित किया गया है उसी का, इस प्रकार का दो तरह का प्रयोग परिणाम है। इन जोड़ी के शब्दों में आँख आदि शरीर के सभी अंगों के लिए तथा और भी पदार्थों का बोध कराने वाले शब्द हैं। यहाँ अपने देश में ही भोजपुरी बोली में यदि ब्राह्मण आदि ऊँची जाति के मनुष्य के बारे में कुछ कहा जाय तो क्रिया का एक रूप होगा और यदि चमार आदि के लिए तो दूसरा।

व्याकरण द्वारा भाषा का जो रूप प्रतिपादित किया जाता है, क्या भाषा का वही असली रूप है? व्याकरण भाषा का विश्लेषण कर उसको तरह तरह के पदों में बाट देती है। उसके संज्ञा, विशेषण, कारक आदि पद नियत स्थान पर आने चाहिए। पर क्या सचमुच स्वाभाविक रीति से बोली हुई बोलचाल की भाषा में ऐसा होता है? इस सवाल पर विचार करते हुए हमें अपने ध्यान

में यह बात अवश्य रखनी चाहिए कि बोलने वाला और सुनने वाला दोनों सांख्य के कर्त्ता की तरह उदासीन नहीं हैं; जो भी बात कही और सुनी जाती है उसमे उनका कुछ न कुछ निजत्व है। जब शाम को गप शप करते समय दूर देश चीन, जापान, रूस, जर्मनी की लड़ाई के बारे में हम बातचीत करते हैं, उस समय भी हम उदासीन होकर नहीं, ससार के भविष्य और अपने स्वर्णयुग की आकाक्षा का पुट लेकर ही बोलते सुनते हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध जो हम खार खाए बैठे हैं वह उनकी बड़ी से बड़ी जीत को लघु और उनकी छोटी से छोटी हार को बड़ा आकार प्रदान कर देता है। रूस और चीन के साथ स्वाभाविक सहानुभूति रख कर भी, अँगरेजों के साथ इन देशों की मित्रता के कारण हम लोगों की सहानुभूति में कुछ उदासीनता आ जाती है। ठीक ऐसी ही बात दिन प्रति-दिन घटित होने वाली घटनाओं के बारे मे है। हमारी वाणी के हर एक वाक्य मे हमारा विचार ही नहीं हमारा मनोभाव भी प्रकट होता है। *सुग्रीव ने बलि को मार गिराया* इसी वाक्य को सुग्रीव के पक्ष वाले एक ढंग से और बालि के पक्ष वाले दूसरे ढंग से कहे सुनेंगे। तात्पर्य यह है कि हम जो बोलते हैं उसको निरीह उदासीन होकर नहीं, उसमें अपना भी कुछ रहता है। यह अपनापन बहुधा आकार और इंगित से प्रकट होता है पर साथ ही साथ व्याकरण-सिद्ध नियमों में हेर फेर कर और विस्मयादि-सूचक शब्दों से भी। अथवा बलाघात, सुर, मात्रा, द्रुत अथवा विलम्बित गति से भी मनुष्य अपनी अनुमति, नाराजगी, शाबाशी, करुणा, सतोष, अचरज आदि के मनोभाव प्रकट करता है। किसी वाक्य का पूर्ण अभि-प्राय, केवल उसके पदों और उनके सबध को जान कर ही नहीं मालूम किया जा सकता। वाणी द्वारा व्यक्त तात्पर्य का बाक़ी हिस्सा ऊपर लिखे अनुसार आकार इंगित आदि से समझ पड़ता है। पर इस बाकी हिस्से की विवेचना करना भाषा-विज्ञानी का काम नहीं, यह काम मनोविज्ञानी का है और उनका प्रदर्शन करना, चित्रकार, मूर्तिकार आदि का है। भाषाविज्ञानी के कार्यक्षेत्र की सीमा तो वाणी ही है। जहा तक वाणी में ही कुछ हेरफेर करने से मनोराग आदि की अभिव्यक्ति होती है, वहा तक भाषाविज्ञानी का ही काम है।

लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में विशेष अन्तर यह है कि बोल-चाल में छोटे छोटे जुमले दो, तीन, चार पदों के होते हैं पर लिखित भाषा में अपेक्षाकृत लम्बे वाक्य होते हैं। बोल-चाल में वाक्यों को जोड़ने के लिए

समुच्चयादि-बोधक अव्ययों का प्रयोग होता है, लिखित भाषा में वाक्य के अंश एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। लिखित भाषा मे पदों का क्रम व्याकरण के अनुसार रखना होता है, बोल-चाल मे वही क्रम उलट पुलट जाता है।

बच्चे की बोली एक एक दो दो पदों से शुरू होती है। वह जो चीज चाहता है उसी का नाम लेता है, जो देखता है उसी का नाम लेता है। धीरे धीरे ही वह बडे वाक्यों को बोलने का अभ्यास कर पाता है। आरम्भ में उसकी वाणी मे पद क्रम के नियम का उल्लघन ही मिलता है। उसकी भाषा में प्रायः सज्ञा का व्यवहार संबोधन में (*अम्मा*) और क्रिया का आज्ञा (दो, *लो* आदि) में मिलता है। वह अन्य पदों का व्यवहार करना धीरे धीरे बाद को सीखता जाता है।

भाषा के उद्गम पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि किसी विशेष जाति और विशेष भाषा में परस्पर समवाय संबंध नहीं होता। एक जाति वाला परिस्थिति के अनुसार दूसरी भाषा सीख कर उसका व्यवहार करने लगता है। किसी विशेष जाति की मनोवृत्ति भी उसकी भाषा से नहीं झलकती। कभी कभी कोई कोई भावुक विद्वान कह बैठते हैं कि अमुक भाषा में हमारी जातीय आत्मा है, अमुक में नहीं। पर भाषाविज्ञानी को जहाँ तक मालूम है किसी भाषा में किसी जाति की आत्मा नहीं मिलती। भाषा के विश्लेषण से केवल इतना मालूम होता है कि उसका प्रवाह कैसा है, वियोगावस्था को जा रही है या संयोगावस्था को, धाराएँ कौन कौन सी हैं और पूर्वकाल की तुलना करके उनमें क्या क्या अन्तर दिखाई पड़ता है। यदि यही किसी जाति या राष्ट्र की आत्मा है तो ठीक, नहीं तो भाषा की आत्मा आदि का हमें कुछ पता नहीं। संगठित जन-समुदाय के विचारों की एक सामान्य एकता होती है और वही भाषा में व्यक्त हुआ करती है, इतना अवश्य है। धर्म, कला आदि की अपेक्षा जन-समुदाय में भाषा का सूत्र ज्यादा दृढ होता है। यही उसका मूल्य है।

अठारहवाँ अध्याय

भाषा का वर्गीकरण

प्राकृतिमूलक और इतिहासिक

विभिन्न भाषाओं को साधारण दृष्टि से भी देखने से इस बात का अनुभव होता है कि उनमे परस्पर कुछ बातो मे समता है और कुछ मे विभिन्नता। समता दो तरह की हो सकती है—एक पदरचना की और दूसरी अर्थतत्त्वों की। उदाहरण के लिए—*करना, जाना, खाना, पीना* में समानता इस बात की है कि सब में -*ना* प्रत्यय लगा हुआ है जो एक ही संबधतत्त्व का बोध कराता है, दूसरी ओर *करना, करता, करेगा, करा, करें* आदि मे संबधतत्त्व की विभिन्नता है पर अर्थतत्त्व की समानता है। केवल पदरचना अर्थात् संबंध-तत्त्व की समता पर निर्भर भाषाओं का वर्गीकरण आकृति मूलक वर्गीकरण कहलाता है. दूसरा जिसमे आकृति-मूलक समानता के अलावा अर्थतत्त्व की भी समानता रहती है इतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से पहले भाषाएँ दो वर्गों में बांटी जाती हैं—**अयोगात्मक और योगात्मक**। अयोगात्मक भाषा उसे कहते हैं जिसमे हर शब्द अलग अलग अपनी सत्ता रखता है, उसमे दूसरे शब्दों के कारण कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। प्रत्येक शब्द की अलग अलग, संबध-तत्त्व या अर्थतत्त्व को व्यक्त करने की, शक्ति होती है। और उन शब्दों का परस्पर संबध केवल वाक्य मे उनके स्थान से मालूम होता है। यदि हिंदी से ऐसे वाक्य का उदाहरण दें तो इस तरह के वाक्य होंगे—*गोविन्द राम को खिलाता है, राम गोविन्द को खिलाता है*। इन दोनों वाक्यों में प्रत्येक शब्द की अलग अलग स्वतंत्र सत्ता है, और परस्पर संबध वाक्य मे पदक्रम से ही मालूम होता है। पहले वाक्य के *गोविन्द* और *राम* का स्थान उलट देने से परस्पर संबंध भी उलट गया, पर पदों में कोई विकार नहीं हुआ। अयोगात्मक भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषाओं में मिलता है। इनमें हरएक

शब्द की अलग अलग स्थिति रहती है, किसी के प्रभाव से दूसरे में परिवर्तन नही होता और उन शब्दों का परस्पर सबंध पदक्रम से जान पड़ता है। कोई शब्द सज्ञा है या क्रिया या विशेषण यह सब वाक्य में प्रयोग में आने से ही मालूम होता है, अन्यथा नहीं। कोई ऐसा शब्द जिसकी, अर्थतत्त्व और सबधतत्त्व दोनों को बताने की शक्ति है, किस तत्त्व को सिद्ध करता है यह भी पदक्रम से जाना जाता है। *न्गो त नि* का अर्थ है *मै तुझे मारता हूँ*, पर *नितन्गो* का अर्थ हुआ *तू मुझे मारता है।* *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार *बड़ा, बड़ा होना, बड़प्पन, अधिक* आदि होता है। *य* का अर्थतत्त्व होता है *प्रयोग* पर संबधतत्त्व से, *त्सि* का अर्थतत्त्व है *स्थान* पर सम्बधतत्त्व का। एक ही अक्षर *ब* का अर्थ सुर की विभिन्नता से कई प्रकार का हो सकता है और *बबबब* में प्रत्येक अक्षर में थोड़ा थोड़ा सुर-भेद होने से *तीन महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे* यह तात्पर्य हुआ। इस प्रकार अयोगात्मक भाषाओं मे सबंधतत्त्व का बोध स्वतंत्र शब्दो से तथा पदक्रम से होता है, वाक्य के पदों में कुछ जोड़ कर या विकार लाकर नही।

योगात्मक भाषाओ मे सबंधतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जोड़ दिया जाता है, इनमे अर्थतत्त्व और सबधतत्त्व का योग होता है। योगात्मक वर्ग के भी तीन विभाग होते हैं—अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ संबंधतत्त्व जुड़ता है पर दोनों की सत्ता स्पष्ट झलकती है। हिन्दी में इसके उदाहरण *शिशुत्व, सु-जन-ता, करे-गा, करे-गी* आदि होंगे। इस वर्ग की भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई परिवार की तुर्की आदि भाषाओ मे मिलता है। तुर्की में *सेव्* का अर्थ होता है 'प्यार करना' और इसी धातु से *सेव्+मेक* (तुमर्थ—प्यार करना), *सेव्-इस्-मेक्* (परस्पर प्यार करना), *सेव-दिर्-मेक* (प्यार करवाना) *सेव्-इल-मेक्* (प्यार किया जाना), *सेव्-दिर्-इल् मेक्* (प्यार करवाया जाना), आदि शब्द बनते हैं। इसी प्रकार *यज्* धातु का अर्थ है *लिखना* और उसके *यज्-मक्, यज़्-इस्-मक्, यज़्-दिर्-मक्, यज़्-इल्-मक्* आदि शब्दों की सिद्धि होती है।

अश्लिष्ट भाषाओं के भी अवान्तर विभाग किस स्थान पर संबंधतत्त्व जोड़ा जाय इस विचार से कई होते हैं—पूर्वयोगात्मक, मध्ययोगात्मक, अन्त-योगात्मक अथवा पूर्वान्तयोगात्मक। पूर्वयोगात्मक अश्लिष्ट भाषाएँ अफ्रीका की बाटू परिवार की हैं। इस परिवार की काफिर भाषा में *कु* का अर्थ संप्रदान का होता है (*कु ति*—हमको, *कु नि*—उनको), जुलू में *उमु* का अर्थ

एक वचन और अब का बहुवचन, उमुन्त (एक आदमी) अवन्तु (बहुत से आदमी), और ना का से (नावन्तु—आदमियों से) होता है। बाह्न भाषाओं का, यह पूर्वयोग ही प्रधान लक्षण है।

अन्तयोग का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई और द्राविड भाषाओं में मिलता है। उराल अल्ताई की तुर्की भाषा से *सेव्-मेक्*, *यज्-मक्* आदि का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। द्राविड भाषाओं के ये नमूने हैं—

संस्कृत	कन्नड	मलयालम
सेवकाः	*सेवक-रु*	*सेवकन्-मार्*
सेवकान्	*सेवक-रन्नु*	*सेवकन्-मारे*
सेवकैः	*सेवक-रिंद*	*सेवकन्-माराल्*
सेवकेभ्यः (सम्प्रदान)	*सेवक-रिगे*	*सेवकन् मारकु*
		सेवकन्-मार्काइ
सेवकानाम्	*सेवक-र*	*सेवकन्-मारुटे*
सेवकेषु	*सेवक-रल्लि*	*सेवकन्-मार-इल्*

कन्नड़ के इन रूपों में र्-बहुवचन का बोधक है,-न्-(*नु*, *नन्नु*) एकवचन का द्योतक होता है। मलयालम में संस्कृत सेवक का रूप सेवकन् होता है और बहुवचन का प्रत्यय *मार्* है। कर्ता में अविकृत रूप (सेवकन् एकवचन) लाया जाता है। और विभक्तियों के प्रत्यय—ए (कर्म),-आल् (करण),-नु, आइ (संप्रदान), टे (संबंध) और—इल (अधिकरण) होते हैं। बहुवचन के रूप ऊपर दिये हैं, एकवचन के क्रम से *सेवकने*, *सेवकन्नाल*, *सेवकन्नु सेवकन्नाइ*, *सेवकन्टे*, *सेवकनिल्* होते हैं।

पूर्वांतयोग तथा मध्ययोग के उदाहरण प्रशांत महासागर के द्वीपों की भाषाओं में मिलते हैं। इसमें प्रधान (अर्थतत्त्व-द्योतक) शब्द के पहले और बाद को और यदि शब्द दो अक्षरों का हुआ तो मध्य में संबंधतत्त्व जोड़े जाते हैं। न्यूगिनी की मफोर भाषा से ये उदाहरण दिये जाते हैं—ज—स्नफ (मैं सुनता हूँ), व—स्नफ़ (तू सुनता है), इ-स्नफ (वह सुनता है), *सि-स्नफ* (वे सुनते हैं), ज-स्नफ-उ (मैं तेरी बात सुनता हूँ), *सि-स्नफ* (वे उसकी बात सुनते हैं)। मुंडा भाषाओं में मध्ययोग के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जैसे संथाली भाषा में मंझि (मुखिया) मपंझि (मुखिया गण); दल् (मारना), दपल् (परस्पर मारना)।

श्लिष्ट उन योगात्मक भाषाओं को कहते हैं जिनमें संबंधतत्त्व को जोड़ने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग में भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। तथापि संबंध तत्त्व की झलक अलग मालूम पड़ती है, जैसे सं० वेद, *नीति*, *इतिहास*, से *वैदिक*, *नैतिक*, *ऐतिहासिक*। स्पष्ट ही यहाँ-इक जोड़ा गया है पर परिणामस्वरूप वेद आदि शब्दों में भी विकार आगया। अथवा अरबी *क्तृब्* धातु का अर्थ होता है 'लिखना', और उसमें स्वरों को जोड़ कर *किताब*, *कुतुब्*, *कातिब्*, *मक्तूब्* आदि शब्द बनते हैं। यहाँ भी विभिन्न स्वरों का योग स्पष्ट झलकता है। श्लिष्ट भाषाओं के भी दो विभाग किए जाते हैं—एक ऐसी जिनमें जोडे हुए भाग-(ध्वनियाँ) मूल (अर्थतत्त्व) के बीच में घुल-मिल कर रहते हैं और दूसरी ऐसी जिनमें जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग के बाद आते हैं। अरबी आदि सामी परिवार की भाषाएँ प्रथम विभाग की उदाहरणस्वरूप हैं और संस्कृत-आदि प्राचीन आर्यभाषाएँ दूसरे की।

प्रश्लिष्ट भाषा उसे कहेंगे जिसमें योग इस-प्रकार हुआ है कि संबंधतत्त्व को अर्थतत्त्व से अलग कर पाना असम्भव-सा है; जैसे संस्कृत के *शिशु* और *ऋजु* शब्दों से बने *शैशव* और *आर्जव* शब्द। प्राचीन आर्यभाषाओं की शब्दावली में कुछ अंश इसी वर्ग का है। प्रश्लिष्ट भाषाओं में न केवल एक अर्थतत्त्व का और एक या अनेक संबंधतत्त्वों का योग होता है बल्कि एक से अधिक अर्थतत्त्वों का समास की प्रक्रिया से योग हो सकता है, जैसे सं० *राजपुत्रः*, *राजपुत्रगणः*, *राजपुत्रगणविजयः*। प्रश्लिष्ट भाषाओं में कभी-कभी पूरा वाक्य ही जुड़ जुड़ा कर एक शब्द बन जाता है। जैसे ग्रीनलैंड की भाषा में; *अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक्* (वह मछली मारने के लिये जाने की जल्दी करता है) में *अउलिसर* (मछली मारना), *पेअर्तोर* (किसी काम में लगना) और *पेन्नु सुअर्पोक्* (वह जल्दी करता है) इन तीन का सम्मिश्रण है। अमरीका महाद्वीप के मूल निवासियों की भाषाएँ अधिकतर इसी तरह की हैं।

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण विभिन्न भाषाओं में किसी एक लक्षण की प्रधानता पर (न कि सम्पूर्णता पर) निर्भर है। अँगरेजी और हिंदी मुख्यरूप से अयोगात्मक भाषाएँ हैं, चीनी इनसे भी अधिक अयोगात्मक है। तुर्की, काफिर, कन्नड़ आदि अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर इनमें भी कहीं-कहीं श्लिष्ट के लक्षण दिखाई पड़ते हैं—*यज़मक* में दोनों भागों में-अ—किन्तु *सेव्-मेक्* में दोनों भागों में ए- *सेवकन्* में *आल्* जोड़ने से-न्-*कन्न्* आदि विकार श्लिष्ट के लक्षण हैं। इसी प्रकार पॉलीनेशी भाषाएँ मुख्य रूप से अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर कुछ

लक्षण अयोगात्मक दिखाई देते हैं। बास्क योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है पर कुछ अंश प्रश्लिष्ट दिखाई पड़ते हैं। यही हाल बांटू भाषाओं का है। संस्कृत में श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट दोनों अंश मिलते हैं।

जिन भाषाओं का इतिहास मालूम है, उनसे पता चलता है कि कल जो भाषा श्लिष्ट थी वही आज कालांतर में अयोगात्मक हो चली है। संस्कृत से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ उदाहरण स्वरूप हैं। चीनी भाषाओं में संबधतत्व-सूचक शब्द किसी समय पूरे अर्थतत्व थे यह अनुमान किया जाता है। परसर्ग के रूप में प्रयोग में आने वाले शब्द (में का आदि) पूर्व काल में अर्थ-पूर्ण (*मध्य, कृत* आदि) शब्द थे यह तो स्पष्ट ही है। संस्कृत के क्रियापदों में- *ति सि मि* आदि प्रत्यय वस्तुतः पूर्वकाल के सर्वनामों के अंश हैं यह निश्चय प्रायः भाषाविज्ञानियों ने स्वीकृत किया है। स्वतंत्र शब्द कालांतर में प्रत्यय का रूप धारण कर लेते हैं इस बात के प्रचुर उदाहरण अन्य भाषाओं में भी मिलते हैं। इनका उल्लेख ऊपर पन्द्रहवें अध्याय में पृ० ९७ पर किया जा चुका है। इस प्रकार अनुमान है कि प्रश्लिष्ट से श्लिष्ट, उससे अश्लिष्ट योगात्मक और अंत में अयोगात्मक अवस्था आती है। और फिर अयोगात्मक से अश्लिष्ट योगात्मक, उससे श्लिष्ट और फिर प्रश्लिष्ट अवस्था आती हैं। अनुमान है कि कालचक्र में भाषा का विकास इसी क्रम से होता आ रहा है। वर्तमान सृष्टि की प्रारंभिक भाषा प्रश्लिष्ट थी या अयोगात्मक, इसका निश्चय करना, साक्षी प्रमाणों के अभाव में, नितान्त असंभव है। मैक्समूलर का यह अनुमान कि आदिम आर्य केवल धातुओं का उच्चारण कर विचार विनिमय करता था उपहासास्पद ही साबित हुआ।

(ख) इतिहासिक वर्गीकरण

जिस प्रकार परिवारों के इतिहास में कोई आदि पुरुष होता है और उससे फिर शाखाएँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार ऐसा समझा जाता है कि आज जो भाषाएँ संसार में मौजूद हैं उनकी भी आदि-भाषाएँ थीं। यूरोप वालों को जब १७ वीं शताब्दी में संस्कृत का पता चला और बाद को विद्वानों ने उसकी लेटिन और ग्रीक से तुलना की, तो इनमें इतनी समानता की बातें मिलीं कि इनके आधार पर इनके आदि स्रोत की भाषा की कल्पना की गई। इस आदि भाषा की शाखाएँ प्रशाखाएँ ही वर्तमान काल की आर्यभाषाएँ हैं। आदिम आर्यभाषा की ध्वनियों और व्याकरण तथा शब्दावली का अनुमान इनके कैसे कैसे बाद की आर्यभाषाएँ उससे फूट निकलीं—यह सब अध्ययन उसी प्रकार का

है जैसा किसी आदिपुरुष के परिवार का। इसी दृष्टांत से भाषाओं के विषय में भी जननी, भगिनी, दुहिता आदि शब्दों का प्रयोग किया गया। पर मनुष्य वर्ग के परिवार और इतिहासिक संबंध रखने वाली भाषाओं के बीच की समता को केवल अलंकार रूप समझना चाहिए। जननी, बहिन, बेटी आदि शब्द भाषाओं के बारे में पूरी तौर से उपयुक्त नहीं। *जबला* की लड़की *जाबाली* हुई। दोनों का अलग अलग अस्तित्व रहा, दोनों का समकालत्व भी रहा। पर भाषा के विषय में ऐसा नहीं होता। जो बेटी कही जाती है वह दूसरे समय और दूसरे रूप में मा ही है, जो बहनें हैं वह मा के ही कलांतर के रूप हैं। भाषारूपी मां बहनें एक साथ नहीं ठहर सकतीं। इसीलिये जहा तक सभव हो मा बहिन आदि शब्दों का प्रयोग ही नहीं करना चाहिए और करे भी तो दृष्टांत की सीमा समझ कर। भाषा तो प्रवाहरूप है, उसके अलग-अलग नाम उसी प्रकार से हैं जैसे एक ही जलप्रवाह के स्थानभेद से भागीरथी, जाह्नवी, गंगा और हुगली।

इतिहासिक संबंध स्थापित करने के लिए, भाषाओं के बीच की परस्पर, स्थान की समीपता और साधारण समानता से विचार उत्पन्न होता है। यह विचार बहुधा ठीक ही उतरता है। हिंदी, बंगाली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एक दूसरी के निकट हैं, समानता भी है, इनका इतिहासिक संबंध हैं। पर मराठी के समीप ही तेलगू भी है और कन्नड़ भी। इस दोनों के शब्दसमूह में बहुतेरे ऐसे शब्द हैं जो मराठी में भी हैं। तब भी मराठी का इन से इतिहासिक संबंध नहीं है। इसलिए केवल शब्दसमूह की समानता से इस प्रकार का संबंध स्थापित नहीं होता।

किसी भाषा के शब्दसमूह को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) किसी जन-समुदाय के सभी व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द—यथा, सर्वनाम, माता, पिता आदि संबंधियों के नाम, एक दो आदि संख्या वाचक शब्द; खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना आदि सर्वसाधारण क्रियाओं के द्योतक शब्द; सर्वसाधारण व्यवहार में लाई जाने वाली चीजों के नाम, जैसे पानी, आग, घर, मुँह, आँख, नाक आदि।

(ख) ऐसे शब्द जो सभी व्यक्तियों द्वारा व्यवहार में नहीं आते किन्तु जिनको समझते सभी हैं, जैसे बिछाने-ओढ़ने के कपड़े, पहनने के साधारण कपडे, खाने पीने के साधारण बर्तन आदि के बोधक शब्द धोती, थाली, लोटा, आदि।

(ग) सभ्य व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले उनके साधारण व्यवहार के शब्द, जैसे लिखना, पढ़ना, कलम, किताब, रुपया, पैसा, सवारी, तख़त, चारपाई, मेज, कुर्सी, कमरा, ग़ुसलख़ाना आदि।

(घ) ऐसे शब्द जो केवल विशेष कलाओं और विद्याओं के व्यवहार में आते हैं और जिनका व्यवहार उस जनसमुदाय के बहुत परिमित वर्ग में होता है, जैसे चित्रकला, साहित्यशास्त्र, भाषाविज्ञान आदि के पारिभाषिक शब्द।

शब्दसमूह के ये चार वर्ग आपेक्षिक दृष्टि से ही, मोटे तौर पर किए गए हैं, इनमें परस्पर कोई नपी तुली विभाग-रेखा नहीं है यदि किसी जन-समुदाय की स्थिति जरा सुख-सुविधा की है तो (ख) वर्ग वाले बहुत से शब्द (क) वर्ग के ही होंगे और यदि पढ़ने लिखने आदि का सर्वव्यापक नियम है तो (ग) वर्ग के भी बहुत से शब्द (क), (ख) में आ जायँगे। फिर एक देश और दूसरे देश के रहन-सहन के अन्तर से भी भेद पड़ सकता है। इंगलैंड में मेज कुर्सी आदि का प्रायः सर्वसाधारण प्रयोग है, काँटे-छुरी आदि का भी। पर अपने देश में इन चीजों का बोध कराने वाले शब्द (ग) वर्ग में ही आ सकेंगे। जापान की धन समृद्धि अच्छी है और वहाँ के जन-साधारण की रहन-सहन का तल भी ऊँचा है पर उनकी सभ्यता यूरोप की सभ्यता से भिन्न है। इस कारण जापान के जनसाधारण के व्यवहार के बहुत से पदार्थ यूरोपीय जन साधारण के प्रयोग में नहीं आते और न यूरोप वालोंके जापान वालों के, तथा न इनके लिए शब्द ही एक दूसरे की भाषा में मिलेंगे। तब भी इतिहासिक सबंध की जाँच करने के लिए शब्दावली का यह वर्गीकरण उपयोगी है, और ऐसा सबंध (क) और (ख) वर्गों की समानता पर निर्भर होता है।

दो भाषाओं के बीच की समानता की जाँच करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इतिहासिक संबंध होने के लिये शब्दों की तद्रूपता (एकरूपता), नहीं बल्कि समानता चाहिये। संस्कृत और हिन्दी का संबंध *पत्ता, गया, हाथ, पांच, राय, पूत,* आदि शब्दों से सिद्ध हो सकता है न कि *पत्र, गत, हस्त, पञ्च, राजा, पुत्र,* आदि से जिनको हिन्दी ने ज्यों का त्यों संस्कृत से ले लिया है। हर एक भाषा अपने पास-पड़ोस की भाषाओं से अथवा अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं से शब्द अपनी जरूरत के हिसाब से लिया ही करती है। फारसी में बहुत से शब्द ज्यों के त्यों अरबी से ले लिए गए हैं, चीनी से जापानी में, फारसी अरबी से उर्दू में, और हिंदी

बंगाली आदि आधुनिक आर्यभाषाओं में ही नहीं, तेलगू, तामिल, कन्नड आदि द्राविड़ भाषाओं में भी संस्कृत से लिए हुए पाए जाते हैं। हिंदी, बगाली, मराठी, आदि भी परस्पर एक दूसरे से शब्दों का लेन देन किए हुए हैं।

शब्दों की समानता मिलने पर, ऐसे शब्द जो तत्सम या अर्धतत्सम हों उनका अलग कर देना चाहिए क्योंकि वे तो निश्चय ही माँगे हुए हैं। इतिहासिक संबंध के लिए तद्भव शब्द ही विशेष उपयोगी होते हैं।

शब्दावली की समानता से अधिक महत्त्व की चीज व्याकरणात्मक समानता है। जब इतिहासिक संबंध न रखने वाली दो विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग एक दूसरे के निकट व्यापार, जय-पराजय, यात्रा आदि कारणों से आते हैं तो प्रायः शब्दो का आदान प्रदान होता है। शब्दों में भी संज्ञाएँ विशेष ली जाती हैं। जब ऐसे दो वर्गों की निकटता चिरकाल तक रहती है, या घनिष्ठता अधिक हो जाती है, तभी यह संभव होता है कि व्याकरण की एकआध बात या बोलचाल के मुहाविरे भी एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उर्दू में इजाफ़त (*शाहे फ़ारस, ग़ुरूरे इल्म* आदि में समाससूचक ए), अथवा हिंदी में कि (*उसने कहा कि*) अथवा या का प्रयोग फ़ारसी से और कई वाक्यो के समूह को मिलाकर बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग अँगरेजी से लिए गए हैं। पर एक भाषा दूसरी भाषा से इतने छोटे अंशों को छोड़कर व्याकरण उधार नहीं लेती। सामान्यरूप से व्याकरण अछूती रहती है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी टकर के शब्दों मे "एक भाषा के व्याकरण पर दूसरी भाषा का अधिक से अधिक इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके ऐसे नियमों का जो बहुत आवश्यक विचार-धाराओं को नहीं प्रकट करते शीघ्र ही विध्वंस हो जाय"। इसलिए यदि शब्दसाम्य के अलावा व्याकरण की भी समानता मिले, तो इतिहासिक संबध होने के विचार को अधिक पुष्टि मिलती है।

व्याकरण से भी अधिक महत्व की चीज़ ध्वनिसमूह है। जब दो भाषाएँ एक दूसरे के निकट आती हैं और एक भाषा के शब्द दूसरी में जाते हैं, तब अपरिचित ध्वनियों और संयुक्ताक्षरों के लिए उसी प्रकार की देशी ध्वनियाँ और संयुक्ताक्षर स्थान कर लेते हैं। फारसी के *ग़रीब, काग़ज़, सबूत, ख़सम, मजदूर, मजह, मअलूम, फलाँ, वक़्त* के हिन्दी रूप *ग़रीब* कागद (*काग़ज*), *सबूत, खसम, मजूर, मजा, मालुम, फलाना, बखत* विदेशी ध्वनियों के स्थान पर स्वदेशी ध्वनियों को ही बिठाकर बने हैं। अँगरेजी के *सिग्नल, लैटर्न, बॉक्स*

के हिंदी रूप *सिगल; लालटेन; बकस* अंगरेजी संयुक्ताक्षरों की जगह हिंदी के प्रचलित संयुक्ताक्षरों को रखकर बनाए गए हैं। कोई भी भाषा दूसरी के ध्वनि-समूह को ज्यों का त्यों नहीं लेती। यदि विजित वर्ग की भाषा के स्थान पर अधिकांश में विजयी वर्ग की भाषा आ बैठे, तब ऐसा हो सकता है कि विजयी वर्ग की भाषा में कोई कोई ध्वनिविकास जो विजित वर्ग की भाषा के अनुकूल हो द्रुतगति से होने लगता है। द्राविड़ भाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों की प्रधानता थी और है, वैदिकपूर्व आर्यभाषाओं में ये ध्वनियाँ बिल्कुल नहीं थीं, यह नतीजा संस्कृत, ईरानी, लैटिन और ग्रीक की तुलना करने से निकलता है। पर वैदिककाल के उपरांत भारतीय आर्यभाषाओं में मूर्धन्य ध्वनियों (टवर्ग और ष) की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। ये नई ध्वनियाँ प्राचीन दंत्य ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं। दूसरी भाषा को स्वीकार कर लेने वाला वर्ग कुछ काल तक विदेशी ध्वनियों के स्थान पर अपनी निकटतम ध्वनियों का प्रयोग करता है और यदि इनकी जनसंख्या भारी हुई और प्रभाव डाल सकी तो यह विजयी वर्ग की ध्वनियों को अपनी विशेष ध्वनियों की ओर विकसित कर लेती है, अन्यथा थोड़े समय के बाद विजयी वर्ग की भाषा पूरे तौर से विजित वर्ग की भाषा को हटा लेती है। पर यदि विजित वर्ग विजयी वर्ग से दूर रह कर भी अपना दैनिक व्यवहार कर सकता है, तो वह अपनी भाषाओं को सुरक्षित रख सकता है। यही कारण है कि जंगलों और पहाड़ी प्रदेशों मे मुंडा भाषाएँ अब भी मौजूद हैं, और सुदूर दक्खिन में आर्य-सभ्यता को स्वीकार कर लेने पर भी वहाँ के निवासी अपनी भाषाओं को क़ायम रक्खे हुए हैं। इस प्रकार अलग बसे हुए जनसमुदाय की भाषा की रक्षा अधिक हो पाती है। कश्मीर के उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोलियों मे अब भी वैदिक भाषा के रूप की रक्षा पंजाब और संयुक्तप्रांत की भाषाओं से अधिक मात्रा में मिलती है। जिप्सी (हुबूड़ों की) भाषा में भी भारतीय आर्य भाषा का व्याकरण और ध्वनियाँ मौजूद हैं, यद्यपि शब्दावली अधिकांश में यूरोपीय है।

ध्वनियों का साम्य स्थापित करने के लिए उनकी तद्रूपता अथवा एकरूपता से काम नहीं चलता। इतिहासिक संबंध के लिए चाहिए ध्वनिनियमों के अनुसार ध्वनि-साम्य और ध्वनि-भिन्नता, दोनों मिलकर। ग्रीक बोउस, सं० गौः, जर्मन कू, अं० कॉउ शब्दों से आदि आर्यशब्द *गोउस का अनुमान किया गया है; ग्रीक्० देक्, लैटिन देकेम्, सं० दश, गाथिक तेहुन, अं० टेन के आधार पर आदि-आर्य के *देक्म की कल्पना हुई है। किंतु सं० हि० पंडित

और अ० *पंडित* के आधार पर कोई पूर्ववर्ती शब्द नहीं बन सकता क्योंकि इनमें ध्वनि की एकता है, और स्पष्ट ही अंग्रेजी में *पंडित* शब्द भारतीय आर्यभाषाओंसे उधार लिया हुआ है। सं० *घृत*, जिप्सी *खिल*, सं० *भ्रातृ*, जि० *फ्रलू* भी इन दोनों भाषाओं का संबंध स्थापित करते हैं, क्योंकि संस्कृत के सघोष महाप्राण स्पर्श वर्ण जिप्सी में सर्वत्र अघोष मिलते हैं। दो भाषाओं के बीच के ध्वनिसाम्य को नियमों में घटित करना चाहिए। उस समय जहाँ समता की चूल नियमानुसार नहीं बैठती, वहाँ उन शब्दों को थोड़ी देर के लिए अलग रखकर नियमों का निर्धारण करना चाहिए, और ऐसे निर्धारण के हो जाने पर उन अपवादों को भी उठा-उठाकर जाँचना परखना चाहिए।

इतिहासिक संबंध के लिए प्रायः स्थानिक समीपता से विचार उठता है, शब्दों की समता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार वादरूप हो जाता है, और यदि ध्वनि साम्य भी निश्चित हो जाय तो संबंध पूरी तरह निश्चयकोटि को पहुँच जाता है। यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो तो विचार विचारकोटि से ऊपर नहीं उठ पाता। यह असंभव नहीं कि कोई भाषा विकसित होते होते इतनी भिन्न हो जाय कि व्याकरण की समानता न प्राप्त हो, और दोनों भाषाओं की मध्यवर्ती अवस्थाओं के सूचक लेख भी न मिले। आज हिंदी और अँगरेजी के बीच परस्पर सर्वनामों, संख्यावाचकों, पिता माता आदि संबंधों के बोधक शब्दों आदि में समानता प्राप्त है, किंतु दोनों के व्याकरण में समानता का लोप हो गया है। सौभाग्य से इन दोनों भाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्थाओं के प्रदर्शक ग्रन्थ दोनों तरफ मौजूद हैं जिनसे इतिहासिक संबंध स्थापित हो जाता है। यदि सामग्री उपस्थित न रहती तो हिंदी और अँगरेजी का संबंध विचार-कोटि तक सीमित रहता।

भाषा के विकास के संबंध में यह देखा गया है कि पहले एक भाषा से कई भाषाएँ निकल पड़ती हैं, यह अलग क्षेत्रों में काम किया करती हैं। उनमें की फिर कोई भाषा प्रधान हो जाती है और दूसरी बोलियों और भाषाओं को दबा देती है। कालांतर में फिर इससे शाखाएँ फूट पड़ती हैं, और फिर उनके स्थान पर कोई भाषा प्रधान बनकर सामान्य हो जाती है। यही क्रम जारी रहता है।

सृष्टि के आरंभ में एक भाषा रही होगी या अनेक,—इस कौतूहलपूर्ण सवाल का जवाब तब तक मिलना संभव नहीं जब तक यह निश्चयपूर्वक न मालूम हो जाय कि मनुष्य की सृष्टि एक स्थान पर हुई या पृथ्वी के विभिन्न स्थानों

पर। संसार की भाषाओं की वर्तमान अवस्था के अध्ययन में इस सवाल पर कोई रोशनी नहीं पड़ती।

संसार की बहुत-सी जंगली जातियों, विशेषकर अमरीका और अफ्रीका वालियों की भाषाओं का अध्ययन अभी पूरे तौर से नहीं हो पाया है। जब तक यह न हो पाए तब तक निश्चयपूर्वक यह कहना कि संसार में कितने भाषापरिवार हैं असंभव है। फ्रीडरिक मूलर का अनुमान है कि इस समय प्रायः एक सौ परिवार हैं। कई भाषापरिवार जिनको इस समय तक भाषा-विज्ञानी विभिन्न समझते आए हैं, उनके बारे में इधर कुछ विशेषज्ञों ने ऐतिहासिक संबंध के पक्ष में मत प्रकट किया है। उराल-अल्ताई और द्राविड परिवारों में जो अभी तक प्रायः सर्वसमति से भिन्न माने जाते थे, अब परस्पर संबंध जोड़ने की कोशिश हो रही है। इधर कुछ विद्वान भूमध्यसागर के क्रीटद्वीप और उस सागर के पूर्वतटवर्ती प्राचीन भाषाओं से भी इनका संबंध स्थापित करना चाहते हैं और मोहनजदाडो की संस्कृत को द्राविड़ सिद्ध करते हैं। आर्य और सामी परिवारों के बीच भी संबंध स्थापित करने का भी हिर्त आदि विशेषज्ञों ने उद्योग किया है। इस प्रकार के प्रयास यदि सफल हो जायँ और परिवारों की संख्या कम हो जाय, तो भी वर्गीकरण के जो सिद्धान्त ऊपर निश्चित किए गए हैं उनमें कोई अंतर नहीं पड़ता।

संसार की भाषाओं का विवेचन और वर्णन इस पुस्तक के दूसरे खंड में किया जायगा।

उन्नीसवां अध्याय

वाक्य-विचार

हम बहुधा कहते हैं कि भाषा वाक्यों का समूह है और वाक्य पदों का। पद के बारे मे विचार करते समय हम देख चुके हैं कि वाक्य का पदों में विभाजन करना व्याकरणकार का काम है, बहुधा अशिक्षित आदमी अपने वाक्य के विभिन्न पदों को अलग अलग नहीं रख पाता। तब भी इतना निश्चय है कि मनुष्य के अंतःकरण में पदों की अलग अलग स्थिति है, अन्यथा एक ही मनुष्य एक शब्द में विभिन्न सम्बन्ध-तत्व लगाकर पदों की सिद्धि न कर पाता। माना कि भाषा के स्पष्ट बाहरी रूप में पदों की अलग-अलग स्थिति नहीं है, मनुष्य पदों के समूह (वाक्य) को तो समष्टिरूप मे बोलता है। लेकिन क्या अशिक्षित मनुष्य व्याकरण कार की तरह अपने वाक्यों को अलग-अलग रख सकता है? क्या वह इस बात को समझता है कि बोलते समय 'वाक्य' उसके वक्तव्य का अवयव है?

वाक्य सचमुच है क्या? बातचीत करते समय दो आदमी अलग-अलग अपने-अपने मुँह से कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। ये ध्वनियां समष्टिरूप से उनके विचार की प्रतिनिधि हैं। जब एक बोलता होता है, तब दूसरा अधिकतर सुनता रहता है और जब वह बोलता है तब पहला सुनता है। पर यदि बात विवादास्पद होती है, और विचार ठंडे दिल से नहीं हो पाता तब, जब एक बोल रहा होता है, तभी दूसरा बीच में बोल उठता है, या कोई बात पूछ बैठता है। ऐसी दशा मे पहला अपने वक्तव्य की धारा को बीच में रोककर, इस नई आई हुई बाधा या प्रश्न का मुकाबिला करता है, या अनुनय-विनय से अथवा जबर्दस्ती बाधक को चुप करके अपनी बात पूरी करता है। इस तरह यह वक्तव्य या बात ही एक सम्पूर्ण अवयव है। यह वक्तव्य व्याकरणकार का एक वाक्य हो सकता है अथवा उसके कई वाक्य। जब आदमी बातचीत नहीं करता, केवल कोई वर्णन करता है या कोई कहानी कहता है तब भी उसकी बात या वक्तव्य में व्याकरण-

कार के बहुतेरे वाक्य रहते हैं। लेखक यही बात लेख द्वारा प्रकट करता है। अपेक्षा-दृष्टि से बातचीत की 'बात' का परिणाम छोटा और वर्णन तथा कहानी वाला 'बात' का बड़ा होता है। इस तरह भाषाविज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो यह 'बात' या 'वक्तव्य' ही बहुधा भाषा का अवयव है, व्याकरणकार का वाक्य नहीं। जब हम किसी 'बात' में मौखिक या मानसिक रूप से व्यस्त होते हैं, तब बीच में अन्य विषय भी आकर बाधा पहुँचा सकते हैं। वाद-विवाद में पड़ी हुई स्त्रियों को रोते हुए बच्चे को बहलाना पड़ता है, लेक्चर देते हुए अध्यापक को क्लास रूम में आ गए चपरासी को विदा करना होता है और व्याख्यान में मस्त वक्ता को बीच में प्यास लगने पर पानी माँगना ही पड़ता है। बीच में आए हुए इन वाक्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य होता है।

सवाल उठता है कि क्या यह बात स्वयं सम्पूर्ण होती है? उत्तर में हमें मानना पड़ेगा कि यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वह सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती। उसका, वाच्य पुरुष की पूर्वापर बातों से तथा वक्ता की भी पूर्वापर बातों से संबंध रहता है। इन सब का समष्टिरूप से विचार करने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है। इसी तरह लेख के एक पैरा का अन्य पूर्ववर्ती और परवर्ती पैराओं से और अध्याय का अन्य अध्यायों से संबंध रहता है। प्रायः किसी पुस्तक को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में उसका भाव समष्टिरूप से दो एक वाक्यों में रहता है। 'भाषाविज्ञान' की पुस्तक पढ़ जाने पर हमारे दिमाग में केवल यह भावना रह जाती है कि विषय का प्रतिपादन स्पष्ट हुआ है या नहीं। उसमें यदि कोई महत्वपूर्ण और आलोचक विवेचन होगा तो उसकी रेखा स्पष्ट रह जायगी, अन्य सब भूला हुआ अनुद्बोधित अवस्था में पड़ा रहेगा। काम पड़ने पर बहुत सम्भव है कि कुछ बातों का उद्बोध हो सके, अन्यथा सम्पूर्ण पुस्तक ही का विषय अति संक्षिप्त अवस्था में उपस्थित रहेगा। इस प्रकार हमारी विचारधारा की बात, एक छोटा अवयव मात्र है; उस वृहत्तर विचारधारा का जो हमारी दिन प्रति दिन की क्रिया है।

मनोविज्ञानी विद्वान कहते हैं कि जब प्रातःकाल हम जगते हैं उस समय से लेकर नींद प्रारम्भ होने तक हमारे मन की क्रिया एक अविच्छिन्न धारा में बहती चलती है। विविध विचार उस धारा में तरंगों के समान हैं, इसी से उठते हैं उसी में विलीन हो जाते हैं। यदि कोई बात अकस्मात् ऐसी आई जिसने उथल-पुथल मचा दी तो वह उस तरंग की तरह है जो [illegible] के किसी भाग से

इधर-उधर से गिर पड़ने के कारण ऊँची उठ जाती है। अपनी नित्यप्रति की क्रियाओं को करते समय हमें तत्कालीन तरंग का ही ध्यान रहता है, अन्य तरंगें भूली रहती हैं। और यदि कोई पूर्वकाल की सुखदायक तरंग है तो उसको हम बार-बार उद्बोधित करके (मानसिक) सुख लूटते रहने का व्यसन डाल लेते हैं और यदि कोई प्रबल तरंग दुखदायक है और बार-बार विचार-धारा में आ जाती है तो उसको बलात् हटा देने की कोशिश करते हैं और निर्बल मनवाले उसको हटाने की मदद के लिये मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। मनोविज्ञानियों का दावा तो यहाँ तक है कि हम जग-कर विचारधारा को उसी जगह से पकड़ लेते हैं जहाँ उसे पिछली रात को निद्रा के पूर्व छोड़ा था। इसीलिए आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करनेवाले साधु महात्मा यह उपदेश देते हैं कि सोने के पूर्व और जगने के तुरन्त बाद परमेश्वर का ध्यान और उसके नाम का जप करना चाहिए और स्वाध्याय में चित्त लगाना चाहिए।

इस तरह यह निश्चय होता है कि हमारी अटूट विचारधारा में हमारी बात या वक्तव्य एक तरंग मात्र है, केवल एक अवयव। लिखित भाषा में इस अवयव का विश्लेषण बड़ी आसानी से किया जा सकता है। बातचीत-वाली बात में भी आसानी से, पर लेख की अपेक्षा कम। परन्तु मौन विचार की बात का विश्लेषण जरा कठिन काम है। तब भी अभ्यास करने से यह काम थोड़ी बहुत सफलता से हो सकता है। सफल व्याख्याता इस अभ्यास का आदी हो जाता है।

व्याकरणकार 'वाक्य' को सम्पूर्ण अवयव मानते हैं, पर ऊपर के विवेचन से हमको स्पष्ट यह मालूम पड़ गया कि वाक्य तो मनुष्य की बात या वक्तव्य का अंशमात्र है। और जब तात्विक दृष्टि से बात ही सम्पूर्ण नहीं, वह विचार-धारा की तरंग मात्र है, तब वाक्य क्या सम्पूर्ण होगा? और व्याकरणकार वाक्य का विचार अलग-अलग स्थिति रखने वाले पदों की समष्टि या संग्रह के रूप में करता है। वह वाक्य को सेना के स्क्वाड के रूप में सोचता है जिसमें प्रत्येक सिपाही को लाकर अपनी-अपनी जगह खड़ा कर दिया जाता है। पर वास्तविक बात है इसकी उलटी। हम स्क्वाड की स्थिति तात्विक पाते हैं और इन सिपाहियों की अपेक्षाकृत काल्पनिक। और कम्पनी की स्थिति स्क्वाड की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। इस रूपक को ऊपर बाँधते-बाँधते हम उस सम्पूर्ण सेना तक पहुँचते हैं जो हमारी विचारधारा का प्रतिरूप है।

हमारी यह विचारधारा कोई स्वतन्त्र सत्ता की चीज़ नहीं। इस पर हमारे सम्पर्क में आए हुए अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्यों की विचारधाराओं का असर पड़ता है, और हमारी विचारधारा का अन्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष मनुष्यों की विचारधाराओं पर। इस प्रकार हमारी विचारधारा स्वयं एक बृहत्तर विचारधारा का अवयव-मात्र है। विचार की शक्ति तौलने वाले विद्वान और ऋषि तो विचार धारा के प्रभाव को बहुत दूर तक पहुँचाते हैं। योगदर्शन के अनुसार अहिंसा की प्रतिष्ठा में वैरनिरोध अवश्य होता है। बुद्ध भगवान की मेत्ता (मैत्री) का प्रभाव अंगुलिमाल आदि डाकुओं पर ही सीमित नहीं था नालागिरि ऐसे प्रचंड हाथी पर भी हुआ था। ब्रह्मर्षियों के आश्रमों में सिंहों के अहिंस्र हो जाने के बहुत से उदाहरण आर्य साहित्य में मिलते हैं, जिनको काल्पनिक कथानक कह कर सर्वथा नहीं टाला जा सकता। सच्चे धार्मिक मनुष्य को विचारधारा के अप्रत्यक्ष प्रभाव में भी विश्वास होता है, अन्यथा दूसरों के लिये की गई प्रार्थना, पूजा और जप का कोई मूल्य नहीं। और जब थोड़े-से ही अभ्यास से मेस्मरिज्म जाननेवाला आदमी दूसरे के विचारों तक पहुँच सकता है, तब विचार की अपरपार शक्ति की सहसा अवहेलना नहीं की जा सकती। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विचार की केवल एक धारा है जिसके अवयवरूप ही व्यक्तियों की विचारधाराएँ हैं। जिस प्रकार भूत-विज्ञान की आधुनिक दृष्टि सम्बन्धित्ववाद के पक्ष में है और प्रत्येक भूत का अन्यों पर वास्तविक प्रभाव बतलाती है उसी प्रकार विचार के बारे में भी ज्ञान रखना चाहिये।

इस तरह व्यापक दृष्टि से देखने से पता चलता है कि जब हम वाक्य को सम्पूर्ण कहते हैं तब मनोविज्ञान की दृष्टि से, सम्पूर्णता की विडम्बना ही करते हैं। हमारा यह कहना उसी प्रकार का है जिस प्रकार रसिक सहृदय प्रियतमा की आँख की रमणीयता में मस्त होकर उस प्रेम की सत्ता के बाकी के अंग भूल बैठता है; या मेडिकल कालेज के चीरफाड़ के हाल में पड़ी हुई लाश में से एक अंग को लेकर विद्यार्थी उसी के विश्लेषण की धुन में मस्त हो जाता है। हमारी भाषा हमारी विचारधारा का प्रतिरूप है और वाक्य उसका बहुत छोटा अंश है, बहुत ज़रा सा, जैसे धारा में एक बूँद।

व्याकरणकार या भाषाविज्ञानी जब इस वाक्य को लेकर अध्ययन के लिए उसका विश्लेषण करने बैठता है तब वह सम्पूर्ण ध्वनि के एक अवयव का सा अध्ययन करने लगता है। और उस अध्ययन के द्वारा, यदि उसकी दृष्टि

में व्यापकता और अनुपात का प्रमेय परिज्ञान है तो, उसे अवश्य भाषा के तत्त्वों का ज्ञान हो जायगा; उसी प्रकार जैसे बूँद की वास्तविकता जान लेने से जल का, पीपल की गदिया में से निकाले हुये एक बीज के ज्ञान से वृक्ष का अथवा नमकीन पानी के एक बूँद के चखने से नमक का।

वाक्य हमारी बात या वक्तव्य का अवयव है। एक वाक्य को हमेशा अन्य वाक्यों की परिस्थिति में देखना चाहिये। बोल-चाल में बहुधा सभी भाषाओं में छोटे-छोटे वाक्य होते हैं। लिखित भाषा में अपेक्षाकृत बड़े-बड़े वाक्य होते हैं। बोल चाल में कभी-कभी वाक्य एक ही शब्द का होता है, जैसे बातचीत में लगे हुए छात्रों से मास्टर कह पडता है 'पढ़ो'। पर व्याकरणकार की दृष्टि से यह वाक्य एक शब्द का नहीं है। प्रकरण के अनुकूल इसमें बहुत सी बातें ऐसी अन्तर्हित हैं जो शब्दों में प्रकट नहीं हुई तब भी बोलनेवाला और वाच्यपुरुष सभी समझ गए। इसी प्रकार रसोई में खाते हुए बालक ने यदि केवल 'नमक' कहा तो माँ ने यही नहीं किया कि उसको नमक दे दिया बल्कि उसे यह भी ज्ञान हो गया कि किसी चीज में या तो उसने नमक डाला नहीं या कम डाल गई। यह सारा प्रकरण शब्दों से ही प्रकट हो यह जरूरी नहीं। इंगित और आकार द्वारा अधिकांश ज़ाहिर हो जाता है। अशिक्षित मनुष्य की वर्णनशैली और शिक्षित की वर्णनशैली मे विशेष अन्तर हो जाता है। शिक्षित आदमी लिखित भाषा से प्रभावित होकर बड़े-बड़े वाक्य बोलता है, अशिक्षित छोटे-छोटे और स्वाभाविक। उदाहरणार्थ अवधी की गुलगुलावाली कथा का यह अंश लें —

एक राजा रहइँ अउ महतारी रहइ अउ दुलहिन रहइ। महतारी रोजु छप्पन पकाल क भोजन बनावइ अउ अपना खाइ अउ अपने लड़िक क खवावइ। दुलहिन खातिर एक बझरि कि राटी सेंकइ। आधी रोटी अउ लोनु सबेरे देइ अउ आधी संझ क।

इसी का लिखित भाषा में रूपान्तर कुछ-कुछ इस ढंग का होगा—

एक राजा अपनी माँ और स्त्री के साथ कहीं रहता था। उसकी माँ रोज छप्पन प्रकार का भोजन बनाती, स्वयं खाती और अपने लड़के को खिलाती मगर दुलहिन की ख़ातिर बेझरे की एक रोटी सेकती। उसमें से आधी रोटी नमक के साथ सबेरे देती, बाकी आधी सन्ध्या को।

इन दो अंशों का परस्पर अन्तर स्पष्ट है। लिखित भाषा का पहला वाक्य ग्यारह शब्दों का है, बोलचाल की भाषा मे इसकी जगह तीन छोटे छोटे वाक्य

हैं, दो-दो तीन तीन पदों के, व्याकरणकार के शब्दों में केवल कर्ता और क्रिया के। ये वाक्य आपस में समुच्चय-बोधक 'अउ' से जुड़े हुए हैं। लिखित भाषा में समुच्चय बोधक पदों का इतना व्यवहार नहीं है। लिखित भाषा में एक वाक्य का दूसरे से सम्बन्ध भी बार-बार सर्वनामपद (उसकी, उसमें) ला-लाकर जतलाया जाता है, बोलचाल में इसकी ज़रूरत नहीं पड़ती। बड़े-बड़े वाक्य भाषा के लिए स्वाभाविक नहीं हैं।

वाक्य में सामान्य रूप से दो अंश माने जाते हैं, उद्देश्य और विधेय। हर वाक्य में पूर्ववर्ती वाक्य का कुछ न कुछ अंश दुहराया जाता है और कुछ नया होता है। यही नया अंश अगले वाक्य का दुहराया हुआ अंश हो जाता है और अन्य नया अंश उसके साथ आ जाता है। इस प्रकार वाक्य-परम्परा चलती रहती है। इस कथन का उदाहरण व्याकरण से नितांत अनभिज्ञ लोगों से बात करने से मिल जायगा। उदाहरणार्थ यह अवतरण देखें।

भाई, एक थे राजा। वह राजा रोज़ सबेरे उठें। उठें तो रोज देखें एक सोने का महल। महल देखकर खुशी से फूल उठें। खुश होकर बुलावावें गरीब अनाथों, विधवाओं और ब्राह्मणों को। बुलवाकर महल के टुकड़े कर-करके बाँट दें उनको।

आज जब हम लिखित भाषा से इतने परिचित हो गए हैं कि स्वाभाविक भाषा को भूल-सा बैठे हैं तब ऊपर दिया हुआ उदाहरण या इसी प्रकार के अन्य अवतरण अटपटे और कृत्रिम से लगेंगे। पर यदि कभी शाम को आपस में क़िस्से कहानी कहते हुए अपने ही नौकर-चाकरों की बातें सुनें तो मालूम होगा कि उनकी शैली से हम कितनी दूर जा पड़े हैं। पढ़-लिखे आदमी का दिमाग इतना शिक्षित हो गया है कि उसे बार-बार दुहराए हुए अंशों की ज़रूरत नहीं। जरूरत तो दूर, उस पर वे अंश भारी गुजरते हैं। पर अशिक्षित मनुष्य के लिए इसकी बराबर जरूरत रहती है। इसी लिए गाव में जाकर शहर का जेंटिलमैन चुनाव की स्पीच जब अपनी स्टैंडर्ड शैली में देकर समझने लगता है कि मैंने बाज़ी मार ली तो वह भूल करता है। उसकी जनता अधिकांश भौंचकी-सी बैठी रह जाती है और बाद को गाव के नेता जब स्पीच का भावार्थ शाम को अलाव पर बैठ कर गाँव की भाषा में समझाते हैं तब उस भोली भाली जनता की समझ में कुछ आता है।

उद्देश्य अधिकतर संज्ञा (कर्ता) के रूप में माना जाता है और विधेय क्रिया के रूप में। यह विभाग हमारी आधुनिक आर्य भाषाओं के अनुकूल [illegible]

पर यह अन्य परिवारों की भाषाओं पर सर्वथा लागू नहीं है। विशेषकर ऐसी भाषाओं मे जहाँ संज्ञा, क्रिया आदि पद-विभाग ही नहीं, वहाँ उद्देश्य विधेय के लक्षण ढूँढ़ना असंगत होगा। वहाँ उद्देश्य विधेय केवल दुहराए हुए अशों और नए आए-हुए अशो के रूप में अवश्य उपस्थित रहते हैं।

वाक्य का एक लक्षण यह भी बताया जाता है कि बहुधा वाक्य को हम एक साँस मे बोल जाते हैं। यह लक्षण भी केवल बोलचाल के छोटे छोटे वाक्यों पर ही घटित हो सकता है, साहित्यिक भाषा के वाक्यों पर नहीं। सामान्य रूप से तीन सेकण्ड तक आदमी बिना गहरी साँस लिए बोल सकता है। पर यह कौशल हम प्लैटफार्म पर बोलते समय ही दिखाते हैं। अन्यथा यदि वाक्य बड़ा हुआ तो चार पाँच शब्दों के बाद साँस ले लेते हैं। इस प्रकार साँस वाला लक्षण केवल बोलचाल के वाक्यों पर ही लगता है। बोलते समय हमारे मस्तिष्क को भी सावधान रहना पड़ता है। कभी-कभी हम सभी ने अनुभव किया होगा कि हम कई वाक्य पढ़ जाते हैं पर उनका कुछ बोध नहीं होता। ऐसी दशा मे अवश्य ही हमारा अवधान पढ़ी हुई चीज पर न था, था कहीं और। यह अवधान भी अभ्यास की चीज है। साधारण मनुष्य को, विशेषकर मेहनत-मजदूरी करके जीविका उपार्जन करने वाले को, इसका अभ्यास नहीं। इस कारण से भी बड़े बडे वाक्य उसकी समझ में नहीं आते।

वाक्य में पदक्रम अलग-अलग भाषाओं का अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ अँगरेजी मे कर्म का क्रिया के बाद स्थान है, हिंदी में क्रिया के पूर्व। दोनों भाषाओं मे कर्ता का स्थान सर्वप्रथम समझा जाता है पर यदि हम बोलचाल की अगरेजी या हिन्दी का परीक्षण करे तो हमें इस नियम के बहुतेरे अपवाद मिलेंगे। इसी प्रकार समस्त पदों के अशभूत पदों का क्रम भी हर भाषा की परम्परा के अनुकूल भिन्न-भिन्न होता है। जितना ही भाषा अयोगावस्था की होगी उतना ही उसमें पदक्रम का महत्व होगा।

हमारे देश में प्राचीन तत्त्वविदों ने जाति, गुण, क्रिया द्रव्य मे शब्दों का विभाग किया था, और व्याकरणकारों ने संज्ञा, सर्वनाम, कृदन्त, तद्धित और अव्यय मे। इसी प्रकार ग्रीस के प्राचीन तत्ववेत्ता अरस्तू ने भाषा के चार विभाग माने थे—संज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय। बाद को अवान्तर भेद होते-होते ये चार, दस भागों मे परिणत हो गए। इनका विचार ऊपर पदव्याख्या का विवेचन करते समय किया गया है और यह बतलाया गया है

कि यह वर्गीकरण किसी भी अर्थ में भाषा के लिए मौलिक नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वाक्य का कोई ऐसा विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जो संसार की सभी भाषाओं पर सर्वथा लागू हो सके। वह हमारी 'बात' का अंश है, और हमारी 'बात' हमारी भाषा का अवयव। हमारी भाषा हमारी विचारधारा की प्रतिनिधि है ही।

वाक्य के विभिन्न पदों का समुचित अन्वय होना चाहिए। अन्वय का अर्थ है संगति तथा सम्बन्ध। योगात्मक भाषाओं में इसका अधिक महत्त्व है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में विशेषण और विशेष्य का लिंग, वचन और विभक्ति तीनों में अन्वय होना चाहिये तथा कर्मवाच्य की क्रिया का कर्म से और कर्तृ वाच्य वाली का कर्ता से। अयोगात्मक भाषाओं में इस प्रकार का बहुत सा काम पद-क्रम से निकाल लिया जाता है। योगात्मक भाषाओं में पद-क्रम का इतना महत्त्व नहीं यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

वाक्य के पदों में परस्पर तीन गुण रहते हैं—**आकांक्षा, आसक्ति और योग्यता**। इनके बिना वाक्य या तो अपूर्ण रहेगा या अनर्गल प्रलाप। यदि हम केवल *अध्यापक* कह कर चुप हो जायँ और इस पद का सम्बन्ध प्रकरण न बतावें तो हमें आकांक्षा रहेगी कि *अध्यापक* का क्या हुआ या उसने क्या किया। इस आकांक्षा की पूर्ति अन्य पदों को करनी ही चाहिये। इसी तरह यदि हम सवेरे *खाना* कहें और कुछ देर बाद *नहीं मिला* कहें तो प्रकरण से निर्देश न होने पर चतुर से चतुर सेवक भी हमारी बात का कोई अर्थ न निकाल सकेगा। पदों में परस्पर आसक्ति चाहिए। और यदि हम बोलें *आग से सींचो* तो *आग* में *सींचने* की योग्यता न होने के कारण लोग हमारे वाक्य को पागल का प्रलाप ही समझेंगे। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ये तीन गुण वाक्य के लिए आवश्यक हैं।

बीसवां अध्याय

भाषाविज्ञान का इतिहास

भाषा के अध्ययन से हम इस नतीजे, पर पहुंचे कि एक ओर प्रत्येक मनुष्य की भाषा, विज्ञान की दृष्टि से, दूसरे मनुष्य की भाषा से भिन्न है, साथ ही साथ दूसरी ओर हम पिछले अध्याय में इस तत्त्व को भी देख चुके हैं कि भाषा विचारधारा की बाह्य प्रतिनिधि है और यह विचारधारा अखंड-स्वरूप है। इस प्रकार भाषा भी विश्व के मौलिक एकत्व और अनेकरूपत्व का उदाहरण है।

भाषाविज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है। मनुष्य भाषा का दर्शन प्राप्त करने की कोशिश जब से उसने होश सँभाला तभी से कर रहा है। इस कोशिश का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। भाषा के विषय में सर्वप्रथम विवेचन हमारे देश में हमारे स्वर्णयुग मे हुआ, और इधर दो ढाई सौ बरस मे विशेष रूप से यूरोप मे किया गया है।

प्राचीन भारतीय अनुसन्धान

किसी भी जनसमुदाय में अपनी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का सवाल भाषा-भेद के कारण उठता है। यह भाषाभेद आन्तरिक होता है या बाहरी, पहला बोली-विभेद के कारण, दूसरा विदेशी भाषाओं के सम्पर्क से। भारत में वैदिक मन्त्रों को अद्वितीय महत्त्व प्राप्त हुआ, वे दिव्यशक्ति के उपहार माने गए। उनको जैसे का तैसे याद रखना मानव-धर्म का परम कर्तव्य समझा गया। भारतीय धारणा-शक्ति सदा प्रसिद्ध रही है। वैदिक द्विजों ने संहिताओं को कंठस्थ करके स्थिर रक्खा। भाषा सर्वाङ्ग में विकसित होती रहती है इसलिए कालभेद और देशभेद के कारण कंठस्थ मन्त्रों के उच्चारण में भेद पड़ जाना अवश्यभावी था। ऐसी परिस्थिति में मूल की रक्षा करने के उपाय सोचे गए।

उन उपायों में संहिताओं का **पदपाठ** सर्वप्रथम सफल प्रयास साबित हुआ। पदपाठ के द्वारा मन्त्रों का विभाग पदों में करना संभव हो पाया। पदपाठ की युक्ति शाकल्य ऋषि की रची समझी जाती है।

ब्राह्मणकाल में संहिताओं का स्वाध्याय विभिन्न ऋषियों की परिषदों, चरणों और शाखाओं में होता था। कितने ही लगन के द्विजों ने संसारी सुख का मोह छोड़ कर अपनी सारी शक्ति इस वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय में लगा दी। वेद (ब्रह्म) के स्वाध्याय के लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया गया। इसके फलस्वरूप वैदिक भाषा की यथातथ रक्षा हो सकी। पदपाठ के लिए यह आवश्यक था कि संहिता (संधि), समास और उदात्त आदि स्वरों का व्यवहार ठीक से समझ लिया जाय। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ शिक्षा (ध्वनि) और व्याकरण के सम्बन्ध के तत्त्व उदाहरणस्वरूप मिलते हैं। इनसे पता चलता है कि ई० पू० आठवीं-नवीं सदी में ही भारतीयों ने भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली थी। विद्वानों का मत है कि इसी काल में विविध शिक्षा-ग्रन्थ बने। इसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, उच्चारण और संहिता के नियमों का विवरण रहा होगा। कुछ समय बाद ही मूल प्रातिशाख्य बने। वर्तमान प्रातिशाख्य इन्हीं मूल प्रातिशाख्यों पर आश्रित हैं यद्यपि हैं पाणिनि के समय के। इधर के मूल प्रातिशाख्यों में पदों का (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, (४) निपात, यह चतुर्विभाग, कुछ संज्ञाओं के लक्षण तथा पद का थोड़ा बहुत विश्लेषण, किया गया होगा। यह सब काम यास्क मुनि के पहले हो चुका था।

निरुक्त के कर्ता यास्कमुनि का काल ई० पू० ८००-७०० माना जाता है। यास्क के सामने वेद के शब्दों की सूची, निघंटु नाम की, मौजूद थी। इस सूची में पाँच अध्याय हैं। निरुक्त इसी निघंटु की व्याख्या है। निरुक्तकार ने निघंटु के शब्दों को लेकर वैदिक संहिताओं के उद्धरण देते हुए शब्दों का अर्थ स्थापित करने का उद्योग किया है। अर्थविज्ञान के विषय का संसार में यह सर्वप्रथम प्रयास है। यास्कमुनि के समय तक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अन्वेषण इस देश में काफी आगे बढ़ चुका था, इसका इसी बात से यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि यास्क ने बहुतेरे (आग्रायण, ऐतिहासिक, नैरुक्त, वैयाकरण आदि) पक्षों और गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मत को उद्धृत किया है। पदों के चतुर्विभाग के अलावा निरुक्तकार संज्ञा और क्रिया के तथा कृदन्त और तद्धित आदि के प्रत्यय-भेदों से भी कुछ न कुछ परिचित थे। भाषाविज्ञान के लिए निरुक्तकार की यह देन है कि प्रत्येक

संज्ञा (नाम) की व्युत्पत्ति किसी न किसी धातु से है। अन्य विद्वानों के मत का खंडन करके उन्होंने अपने मत का सर्वथा पोषण किया है।

यास्क के बाद और पाणिनि के पूर्व बहुत से वैयाकरण रहे होंगे। पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्ति नामों का तथा, बहुव्रीहि, कृत, तद्धित आदि संज्ञाओं का प्रयोग बिना इनका अर्थ बताए हुए किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय तक ये संज्ञाएँ सुपरिचित हो चुकी थीं और बहुतेरे व्याकरण-कार पदविज्ञान को आगे बढा चुके थे। इनमें से आपिशलि और काशकृत्स्न दो का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों में इन्द्र का नाम सर्व प्रथम उल्लेखनीय है। तैत्तिरीय संहिता (७-४-७) के अनुसार यही पहले वैयाकरण सिद्ध होते हैं—

वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाच व्याकु-र्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

वैयाकरणों का ऐन्द्रसम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व से आरंभ होकर उनके बाद भी चलता रहा। वर्तमान प्रातिशाख्य इसी सम्प्रदाय के हैं। कात्यायन भी इसी के थे। ऐन्द्रसम्प्रदाय की परिभाषाएँ सरल और सुबोध थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के सकल कार्य का सार समन्वित है। इन्होंने स्वयं उदीच्य और प्राच्य संप्रदायों का तथा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य आदि दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

पाणिनि मुनि के जीवन के बारे में कुछ पता नहीं। कहा जाता है कि यह (अटक के निकट) शालातुर के निवासी उदीच्य ब्राह्मण थे। इनकी माँ का नाम दाक्षी था। यदि पंचतन्त्र की गवाही मानी जाय तो इनका देहान्त एक सिंह के द्वारा हुआ। कथासरित्सागर के अनुसार इनके गुरु उपाध्या-यवर्ष और सहपाठी कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त थे। इन्होंने घोर तपस्या करके चौदह माहेश्वर सूत्रों की प्राप्ति की। अँगरेज विद्वान इनका काल ई० पू० चौथी सदी मे और जर्मन तथा भारतीय मनीषी ई० पू० ५०० से पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी मे मानते हैं।

पाणिनि की रचना **अष्टाध्यायी** है। हर अध्याय में चार पाद हैं। कुल **सूत्रों** की सख्या क़रीब चार हजार के है। अष्टाध्यायी की विशेषता संक्षेप है। इन चार हजार सूत्रों में सारी भाषा को ऐसा जकड़ दिया है कि मीन-मेष करना असंभव है। यह प्रत्याहारों के कारण ही सभव हो सका। इसके अलावा सक्षेप के लिए पाणिनि ने अनुबन्ध, गण, घं, लुक्, श्लु, आदि

संज्ञा, अनुवृत्ति तथा प्रचलित गुण, वृद्धि आदि परिभाषाओं का भी सहारा लिया। अष्टाध्यायी के अलावा उसके सहायक ग्रन्थों में से धातुपाठ, गणपाठ और उणादिसूत्र का अधिकांश भाग पाणिनि का ही रचा माना जाता है।

भाषाविज्ञान के लिए पाणिनि की छाप अमिट है। माहेश्वर सूत्रों में ध्वनियों का, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, वर्गीकरण ध्वनिविज्ञान के तत्त्वज्ञान का उत्तम उदाहरण है। प्रति शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध है इस मत की पुष्कल पुष्टि पाणिनि ने न केवल अष्टाध्यायी के सूत्रों से बल्कि उणादि-सूत्रों से की। पर सब से महत्त्व का काम वैदिक (छन्दस्) और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन है। यूरोप में जो काम ईसवी १९ वीं सदी में किया गया वही इस देश में ईसा पूर्व छठी सातवीं सदी में पाणिनि मुनि कर चुके थे। इस प्रकार पाणिनि ने ध्वनि-विज्ञान, अर्थ विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया।

वैदिकी प्रक्रिया के अध्ययन से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि पाणिनि के समय तक छन्दस् और भाषा दोनों के बीच काफी अन्तर पड़ गया था। छन्दस् में वैकल्पिक रूपों की बहुतायत थी और इसको प्रकट करने के लिए पाणिनि ने बहुलं छन्दसि का बहुत जगह निर्देश किया है। छन्दस् की भाषा बराबर चली आ रही थी। वह अपौरुषेय समझी जाती थी। उसको छेड़ना असंभव था और कोई छेड़ भी सकता तो पाप का भागी होता। पाणिनि मुनि ने भाषा को ही पकड़ा और उसको ऐसा स्टैंडर्ड रूप दिया जो आज ढाई हजार वर्ष बाद भी स्टैंडर्ड माना जाता है। इतना सफल व्याकरणकार संसार में कहीं नहीं हुआ।

पाणिनि के उपरांत बहुत से वैयाकरण हुए। उन सब में वार्तिककार कात्यायन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कथासरित्सागर इन्हें पाणिनि का समकालीन बताता है पर यह असंभव है। इनका समय ई० पू० ५००-३५० के बीच में पड़ता है। पतंजलि इन्हें दाक्षिणात्य बताते हैं और संभव है कि ये व्याकरणकारों की किसी भिन्न शाखा के रहे हों। इन्होंने पाणिनि के ढंग से ही सूत्रों में पाणिनि के मत की आलोचना की है। इनके सूत्रों को वार्तिक कहते हैं। इनमें कात्यायन ने पाणिनि के १५०० सूत्र एक-एक कर उठाए हैं और उनमें दोष दिखाकर शुद्ध नियम निर्धारित किए हैं। विद्वानों का विश्वास है कि इस शुद्धीकरण द्वारा वार्तिककार ने विशेष रूप से पाणिनि मुनि के

समय से उनके समय तक (अर्थात् डेढ़ दो सौ वर्ष में) भाषा में जो परिवर्तन हो गए थे उन्हीं का समावेश किया है। इसलिये आलोचनात्मक होते हुए भी, वार्तिककार की कृति ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थ का काम दिया।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य भी कात्यायन की बनाई समझी जाती है। इसमें छन्दस् (वैदिक) भाषा के नियम दिए हैं जो पाणिनि के सूत्रों के अधिकांश अनुकूल हैं और जहाँ भेद है वहाँ अधिक उपयुक्त।

कात्यायन ने पाणिनि के ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है पर जहाँ-तहाँ **स्वर** (अच्) **व्यंजन** (हल्), **समानाक्षर** (अक्) **भवन्ती** (लट्) आदि नए शब्द भी दिये हैं। इनके बाद और पतंजलि मुनि के पूर्व अन्य वार्तिककार भी हुए हैं। संभव है कि कोई कात्यायन के पूर्व भी हुए हों।

पतंजलि ने अपने ग्रन्थ महाभाष्य में पुष्यमित्र, साकेत के अवरोध आदि समकालीन व्यक्तियों और घटनाओं का उल्लेख किया है जिससे उनके काल(ई० पू० दूसरी सदी) के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इनका उद्देश्य कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई पाणिनि के ग्रंथ की आलोचना का बलपूर्ण खंडन करना है। विशेष रूप से इन्होंने कात्यायन के नियमों में दोष दिखाए हैं और पाणिनि के मत का मंडन किया है। इन्होंने जो नियम दिए हैं उन्हें इष्टि का नाम दिया है। महाभाष्य का महत्त्व संस्कृत भाषा के नियम-निर्धारण में उतना नहीं है जितना भाषा के दार्शनिक विवेचन में। ध्वनि क्या है, वाक्य के कौन कौन से भाग होते हैं, ध्वनि-समूह (शब्द) और अर्थ में क्या सबध है इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर पतंजलि ने बहुत सुन्दर विवेचन किया है। इनकी शैली बड़ी ललित और हेतुपूर्ण है और सारे संस्कृत वाङ्मय में शंकराचार्य-कृत शारीरकभाष्य को छोड़कर अपना सानी नहीं रखती।

पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि ये तीन ऋषि संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय कहे जाते हैं। इनके बाद टीकाकारों का समय आता है। टीकाओं में **वामन** व **जयादित्य** की बनाई *काशिका* सब से प्रसिद्ध है। यह प्रायः ई० ७वीं सदी की समझी जाती है। काशिका पर की गई टीकाओं में **जिनेन्द्रबुद्धि** का **न्यास** और **हरदत्त** की **पदमंजरी** भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। परन्तु भाषा के दार्शनिक विवेचन और मूलतत्त्वों के स्थापन के लिये भर्तृहरि का **वाक्यपदीय** सबसे अधिक महत्व का है। इसमें तीन कांड हैं, **ब्रह्म** (आगमकांड), वाक्यकांड

और पद (प्रकीर्णकांड)। कय्यट ने इस तात्विक विवेचन को अपने ग्रन्थ *महाभाष्यप्रदीप* में और आगे बढ़ाया। इस प्रकार के वैयाकरणों में प्रदीप के टीकाकार नागोजि (नागेश) भट्ट का भी उल्लेख कर देना उचित है। विवाहित होने पर भी यह अखंड ब्रह्मचारी रहे और अपने ग्रंथों को ही अपनी सन्तान समझते रहे। इन्होंने अन्य शास्त्रों के अलावा व्याकरण के विषय पर ही कई ग्रन्थ लिखे। इनमें से प्रदीपोद्योत, *वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा* और *परिभाषेन्दुशेखर* महत्वपूर्ण बताए जाते हैं। वै० सि० मंजूषा भाषा के तात्विक विवेचन के लिये अद्वितीय ग्रंथ है।

टीका-सम्प्रदाय के बाद अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही आश्रित किन्तु उसके क्रम को हटाकर विषयानुकूल क्रम रखनेवाले कौमुदीकारों का समय आता है। इस समय तक व्याकरण का वाङ्मय इतना ज्यादा बढ़ गया था कि उसको पुराने क्रम से हृदयगम करना असंभव-सा हो गया था। इसीलिए नवीन क्रम निर्धारित किया गया। इस तरह के ग्रंथों में विमल सरस्वती कृत *रूपमाला* सबसे पहला ग्रन्थ समझा जाता है। इनका समय १३५० ई० के पूर्व का माना जाता है। इन्होंने प्रत्याहार, संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, निपात, स्त्री-प्रत्यय, कारक, आख्यात, कृत् और तद्धित इस प्रकार विषयानुकूल क्रम रक्खा। पर इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वप्रचलित और सर्वमान्य भट्टोजिदीक्षित कृत *सिद्धान्तकौमुदी* है। इनका समय १६५० ई० के आस-पास समझा जाता है। सिद्धान्तकौमुदी द्वारा ही संस्कृत के व्याकरण की परिपाटी इतनी लोकप्रिय हुई कि अष्टाध्यायी काशिका की परिपाटी बिल्कुल खतम हो गई।

व्याकरणकारों की पाणिनि-शाखा के अलावा, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, सारस्वत आदि कई अन्य शाखाएँ प्रचलित हुईं। इनमें से एक-आध का क्रम पाणिनि के क्रम की अपेक्षा सरल और सुबोध है। पर इनमें से कोई भी पाणिनीय शाखा के आगे चल नहीं पाई। अन्य शाखाओं के वैयाकरणों में *शब्दानुशासन* के लेखक हेमचन्द्र और *मुग्धबोध* के कर्ता बोपदेव के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऊपर, तुलनात्मक व्याकरण के आदिगुरु पाणिनि थे, यह कहा जा चुका है। पतंजलि के समय तक वैदिक भाषा के अध्ययन को थोड़ा बहुत महत्त्व मिलता रहा। उसके बाद प्रायः व्याकरणकारों ने अपना सारा ध्यान लौकिक भाषा पर ही लगाया और तुलनात्मक अध्ययन स्थगित रहा। यह अध्ययन प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने फिर से उठाया। इन्होंने संस्कृत को

प्रकृति (आधार) मानकर विविध प्राकृतों का विवरण दिया है। इनमें सर्वप्रथम *प्राकृतप्रकाश* के कर्त्ता वररुचि हैं। इनको वररुचिकात्यायन भी कहते हैं। कात्यायन वार्तिककार से निश्चय ही यह भिन्न हैं। प्राकृतप्रकाश में बारह परिच्छेद हैं। पहले नौ मे सस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री का विवरण है, दसवे मे शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, ग्यारहवे में शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और बारहवे मे सस्कृत को आधार बताकर शौरसेनी का विवरण दे दिया गया है। शौरसेनी के भेदक लक्षणों को देकर अन्त मे ग्रन्थकार ने कह दिया है कि बाक़ी महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए।

प्राकृतप्रकाश की ही शैली पर अन्य प्राकृत व्याकरण बाद को बने। प्रायः सभों में प्रचलित प्राकृतों का तुलनात्मक विवरण दिया हुआ है। इनमे से **हेमचन्द्र** और **मार्कंडेय** के ग्रन्थ विशेपरूप से उल्लेखनीय हैं। ऊपर कह चुके हैं कि हेमचन्द्र ने *शब्दानुशासन* नाम का संस्कृत का व्याकरण रचा। इसी को *सिद्धहेमचन्द्र* भी कहते हैं। इसके आठवें अध्याय में प्राकृतव्याकरण है। इन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश का बड़ा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। मार्कंडेय ने अपने ग्रन्थ *प्राकृतसर्वस्व* मे तीन वर्ग स्थापित किये, (१) भाषा, (२) विभाषा और (३) अपभ्रंश। पहले के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी, दूसरे में शाकारी, चाडाली, शाबरी, आभीरिका और टाक्की (ढक्की) तथा तीसरे में नागर, व्राचड और उपनागर हैं। इनके अलावा पैशाची का वर्ग अलग माना है और उसके तीन भेद (केकयपैशाचिकी, शौरसेनपैशाचिकी तथा पाचालपैशाचिकी) बताये हैं।

इनके अतिरिक्त पालिभाषा में **कच्चायनो** (कात्यायन) और **मोग्गल्लान** (मौदगलायन) के बनाए हुए व्याकरण प्राचीन और प्रचलित हैं।

वैयाकरणों के अलावा साहित्य-शास्त्रियों तथा नैयायिको ने भी अपने-अपने शास्त्रों का अध्ययन करते हुये शब्दशक्ति का विशेष विवेचन किया है। शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना (ध्वनि) तीन शक्तियों के विषय, प्रयोजन आदि का, तथा तात्पर्य, पदार्थ, वाक्यार्थ, अर्थस्फोट आदि का भी सुन्दर विवेचन *ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर* आदि ग्रन्थों में मिलता है। आधुनिक ग्रन्थों मे **जगदीश तर्कालंकार** का बनाया हुआ *शब्दशक्तिप्रकाशिका* नाम का ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार भारतवर्ष में भाषाविज्ञान के प्रायः प्रत्येक अंग का विवेचन शास्त्रीय शैली से बड़ी लगन से किया गया था। आधुनिक भाषाविज्ञान के पंडितों को यह सामग्री सुलभ नहीं है। वे इससे प्रायः अनभिज्ञ ही हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ध्वनिविज्ञान के विषय की पुरानी सामग्री का अन्वेषण और अध्ययन करके भारतीय विवेचन को विद्वद्वर्ग के सम्मुख रक्खा है। शेष सामग्री में से महाभाष्य आदि ग्रन्थों पर एकांगी विचार यूरोपीय संस्कृत-पंडितों ने किया है। पर भाषाविज्ञान के धुरंधर प्रायः इस सामग्री से अनभिज्ञ ही हैं।

एशिया के अन्य देशों में भी भाषाविज्ञान का थोड़ा बहुत विवेचन हुआ है।

अरब देश में भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान मुहम्मद साहब के आविर्भाव के बाद गया। इन लोगों ने क़ुरान शरीफ की भाषा का व्याकरण बनाया और इसी के आदर्श पर मुस्लिम देशों के यहूदियों ने इब्रानी (हिब्र) का व्याकरण तैयार किया। धातु शब्द का द्योतक यूरोपीय रूट् शब्द हिब्र-व्याकरण से गया है।

चीन-देश-वासियों ने भी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और शब्द-कोष बनाए थे।

यूरोपीय खोज

यूरोप में भाषा-संबंधी विवेचन भारत की अपेक्षा बहुत देर को शुरू हुआ। यूरोपीय सभ्यता का मूलस्रोत ग्रीस देश रहा है। इस देश के रहनेवाले अन्य देशवालों को बर्बर समझते थे और उनकी भाषा आदि संस्कृति के सभी अंगों की अवहेलना करते थे। अपनी भाषा की विवेचना करना उनके लिए बेकार था क्योंकि वह प्रत्येक ग्रीक को जन्म से ही प्राप्त थी। भारत की तरह वहाँ कोई अपौरुषेय ग्रन्थ नहीं थे जिनका संरक्षण आवश्यक होता। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि भाषातत्त्वों का अन्वेषण बड़ी देर से आरंभ हुआ।

ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) को यह भान हुआ कि ध्वनि और विचार में समवाय सम्बन्ध नहीं है, उनका विचार था कि ऐसी भाषा की सृष्टि हो सकती है जिसमें ऐसा सम्बन्ध हो। प्लेटो (४२९-३४७ ई० पू०) ने विचार और भाषा की एकता का अनुभव किया और विचार को भाषा का अन्तरंगरूप निर्धारित किया। उन्होंने ग्रीक भाषा की

ध्वनियों का वर्गीकरण **सघोष** और **अघोष** में किया। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत स्वर रक्खे और दूसरे में शेष ध्वनियाँ। दूसरे वर्ग के फिर दो भाग किए, पहले में अन्तःस्थ वर्ण और दूसरे में व्यजन। अरस्तू (३८५-३२२ ई० पू०) ने भाषा का विश्लेषण करके पदों में विभाजन किया। उत्तरकालीन ग्रीक व्याकरणकारों ने व्यजनों का विभाग तनु, मध्य और महाप्राण में किया है। यही अभी तक यूरोपीय विद्वान इस्तेमाल करते हैं। अरस्तू द्वारा किए गए पद-विभाग को बादवाले ग्रीक विद्वानों ने जारी रक्खा। इस दिशा मे **स्टोइक वर्ग** के दार्शनिकों ने विशेष काम किया। इन्हीं के रक्खे हुए नाम आज भी यूरोपीय व्याकरणों मे किसी न किसी रूप से जारी हैं। ग्रीक भाषा की सर्व प्रथम व्याकरण के बनानेवाले **थैक्स** (ई० पू० दूसरी सदी के) थे। इन्होंने कर्त्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय पर तथा लिङ्ग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल और वृत्ति पर प्रकाश डाला।

ग्रीस से जब सभ्यता और प्रभुता का केन्द्र रोम पहुँचा तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा और ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन के भी व्याकरण बनने लगे। अवश्य ही तब इन दोनों की समानताओं और विषमताओं पर ध्यान गया होगा। ईसाई धर्म के विस्तार से यहूदी भाषा इब्रानी का भी अध्ययन होने लगा। अब तक यही परमेश्वर और स्वर्गलोक की भाषा समझी जाती थी और इसका ज्ञान पाकर धार्मिक विद्वान अपने को कृतकृत्य मानते थे। साम्राज्य मे स्थित पड़ोस के देशों की अरबी, सीरी आदि साहित्यिक भाषाओं पर भी थोड़ा बहुत ध्यान गया। पर शीघ्र ही लैटिन के अध्ययन ने सारे यूरोप में महत्व प्राप्त कर लिया। वही धर्म और सभ्यता की मूल भाषा मानी जाने लगी और इसलिए उसका यूरोप पर एकछत्र राज्य हो गया। प्रायः १८वीं ई० सदी के पहले तक सारे यूरोप के विद्यालयों मे लैटिन ही पढ़ाई जाती थी। मातृ-भाषा को पढाना बेकार था, वह तो स्वय आ ही जाती थी। उसका कोई विशेष महत्व भी न समझा जाता था। लैटिन व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लेना ध्येय था और व्याकरण का प्रयोजन केवल शुद्ध लिखना और बोलना था। पढ़ानेवाले आचार्य हर देश के अलग-अलग थे। ये लैटिन पुस्तकों से पढते-पढ़ाते थे। परिणामस्वरूप एक देश मे पढाई जानेवाली लैटिन दूसरे देश की लैटिन से बहुत भिन्न होने लगी। तत्कालीन जन-साधारण की बोलचाल की भाषाओं की अपेक्षा लैटिन मे शब्दों के रूपों का बाहुल्य था। यदि तत्कालीन भाषा को देखना हुआ तो लैटिन के

चश्मे से देखा गया। विभिन्न देशों की लैटिन भाषा के उच्चारण में परस्पर बहुत विषमता दिखाई पड़ने लगी। भारत में आज बंगाली संस्कृतज्ञ का उच्चारण बँगला भाषा के उच्चारण से प्रभावित होकर अन्य प्रान्तवालों को अटपटा और अस्पष्ट जान पड़ता है। पर लैटिन का यह अटपटापन इससे कई गुना अधिक था।

अठारवीं सदी के पूर्व यूरोपीय भाषाओं पर जो भी काम हुआ उस पर लैटिन के अध्ययन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। उच्चरित भाषा की अपेक्षा लिखित भाषा की प्रधानता, रूपविभिन्नता के अभाव में भी उसके अस्तित्व की खोज, कोष ग्रंथों में व्युत्पत्ति आदि के लिए लैटिन शब्दों का अस्थान सहारा लेना, व्याकरण में लैटिन के नियमों के सदृश नियम खोजना आदि इसी प्रभाव के साक्षी हैं। लोग नवीन संस्कृति (renaissance) से जहाँ अन्य बातों में उन्नति की ओर अग्रसर हुए, वहाँ भाषाओं के अध्ययन में भी दृष्टि विस्तृत हुई और लैटिन के अलावा ग्रीक फिर से पढ़ी जाने लगी तथा इब्रानी और अरबी की ओर भी ध्यान गया। अमरीका आदि की खोज हो जाने पर वहाँ के मूल निवासियों की शब्दावली इकट्ठी की जाने लगी और पादरियों ने इनके व्याकरण और कोष भी तैयार किये। स्पेनी पादरियों ने १६ वीं सदी में ही यह काम शुरू कर दिया था।

भाषाविज्ञान की नींव

अठारवीं सदी में कई यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भाषा के उद्गम की ओर गया। प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने यह मत पेश किया कि आदिम मनुष्यों ने भाषा, एक स्थान पर बैठ कर समझौते से बनाई। कौंडिलक ने यह विचार रक्खा कि आदिम मनुष्यों, पुरुषों और स्त्रियों, के सहवास और भावातिरेक में निकले हुए नादों के स्तम्भ पर भाषा स्वाभाविक रूप से खड़ी हो गई। पर इस प्रश्न पर इस सदी में सर्वोत्तम गवेषणा हर्डर ने की। बर्लिन अकेडमी के लिए इन्होंने एक निबन्ध लिखा जिसमें भाषा के ईश्वरप्रदत्त होने का खंडन किया। इन्होंने कहा कि मनुष्य ने भाषा जानबूझ कर नहीं बनाई, वह उसकी प्रकृति से ही निकल पड़ी, उसी प्रकार जैसे गर्भ से बच्चा। इसी सदी के अन्त में जेनिश ने 'आदर्श भाषा' के विषय पर निबंध लिखा जिसमें उन्होंने ऐसी भाषा के लक्षणों का विवेचन किया और उनके अनुसार लैटिन, ग्रीक तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं की तुलनात्मक जाँच की। इस सदी में हर्डर और जेनिश ने अपने विवेचन से भाषाविज्ञान की नींव रक्खी। इस सदी के अन्त में दृष्टि कितनी

विस्तृत हो गई थी इसका अन्दाज इस बात से सकता है कि पी० एस्० पल्लस (१७४१-१८११) ने रूस की महारानी कैथरीन की आज्ञा पाकर एक शब्दावली ऐसी तैयार की जिसमे यूरोप और एशिया दोनों की भाषाओं के २८५ शब्द तुलनास्वरूप दिए गए थे। पाँच साल बाद १७९१ में इसका दूसरा संस्करण निकला जिसमें अस्सी और भाषाओं को समावेश मिल गया।

उन्नोसवीं सदी को भाषा विज्ञान की सदो कह सकते हैं क्योंकि इसीमें इसका पूर्ण विकास हुआ। नई-नई भाषाओं का अध्ययन शुरू हुआ। लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की भी विवेचना पूर्ववर्ती सदियों की निस्बत अधिक गहराई से होने लगी। तुलनात्मक अध्ययन को प्रश्रय मिला। सब से महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि किसी ध्वनि या रूप के केवल भिन्न रूपों से ही संतोष न हुआ, उनका परस्पर इतिहासिक सम्बन्ध अर्थात् विकास ढूँढा जाने लगा। भाषा प्रवाहस्वरूप समझी गई।

भाषाविज्ञान के बनने मे सबसे अधिक प्रभाव संस्कृत के अध्ययन से हुआ। अठारवीं सदी के अन्त मे, कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना रखते हुए, सर **विल्यम जौंस** (१७४६-१७९६) ने सस्कृत का महत्त्व बतलाया था और घोषणा की थी कि गठन में यह लैटिन और ग्रीक दोनों के बहुत निकट है और इन तीनों भाषाओं का कोई एक स्रोत है, तथा प्राचीन फारसी, केल्टी और गॉथी भी इसीसे सम्बद्ध हैं। इस घोषणा के पूर्व ही (१७६७ में) फ्रेंच पादरी कोर्डो ने संस्कृत की ओर अपने देश के विद्वानों का ध्यान खींचा था और संस्कृत और लैटिन की समानता दिखाई थी, पर उनका लेख सर विल्यम जोंस की घोषणा के बाद प्रकाशित हुआ और जो श्रेय कोर्डो को मिलना चाहिए था वह जोंस महोदय को मिला। शुरू के यूरोपीय संस्कृत विद्वानों में **कोलब्रुक** का नाम उल्लेखनीय है।

प्राचीन युग

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान **फ्रीडरिख श्लेगेल्** (१७७२-१८२९) ने १८०८ में भारतीय भाषा और ज्ञान' के विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया। इन्होंने चार-पाँच साल तक पेरिस मे हैमिल्टन नाम के एक अँगरेज सिपाही से संस्कृत पढ़ी थी और संस्कृत भाषा और वाङ्मय के प्रबल समर्थक हो गए थे। प्रथम वार इन्होंने तुलनात्मक व्याकरण का नाम लिया और कुछ ध्वनि-नियमों की ओर भी संकेत किया। इन्होंने भाषा को भी दो वर्गों मे विभाजित किया, (१) संस्कृत तथा सगोत्र भाषाएँ, (२) अन्य-भाषा के उद्गम के बारे

में श्लेगेल् का मत था कि भाषा की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न आधारों पर हुई होगी। उदाहरणार्थ मॉंचू भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का बाहुल्य है जिसमें पशु-पक्षी आदि जन्तुओं का प्रभाव स्पष्ट है, पर संस्कृत में ऐसी कोई बात नहीं है। फ्रीडरिख् श्लेगेल् के भाई अडोल्फ श्लेगेल् (१७६७-१८४५) भी अपने भाई फ्रीडरिख् की तरह ही संस्कृत के अच्छे विद्वान और समर्थक थे। इन्होंने श्लिष्ट भाषाओं को दो वर्गों, संयोगात्मक और वियोगात्मक, में बाँटा।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही, भाषाविज्ञान के संस्थापक, बॉप, ग्रिम और रैस्क के नाम आते हैं। धातुप्रक्रिया पर बॉप की पुस्तक १८१६ में, रैस्क की १८१८ में और ग्रिम का व्याकरण १८१६ में प्रकाशित हुआ। इनमें से बॉप का काम स्वतन्त्र था, पर ग्रिम पर रैस्क का बहुत प्रभाव पड़ा था।

रैज्मस रैस्क (१७८७-१८३२) लड़कपन से ही वैयाकरण प्रसिद्ध हो गए थे। इन्होंने आइसलैंड की भाषा का शास्त्रीय ढंग से अध्ययन किया और प्राचीन नॉर्स भाषा की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया। इनके मत के अनुसार ग्रन्थों के अभाव में किसी जाति या राष्ट्र का इतिहास उसकी भाषा से जाना जा सकता है, धर्म, कला आदि तो कालचक्र में बहुत बदल जाते हैं पर भाषा अपेक्षा दृष्टि से स्थिर रहती है, भाषा के अध्ययन के लिए शब्दावली से ज्यादा व्याकरण पर ध्यान देना चाहिए। इन्होंने फीनो-उग्री भाषाओं का बड़ा अच्छा वर्गीकरण किया। यह भारत भी आये थे और सर्वप्रथम जेन्द (अवेस्ती) को आर्य-परिवार में उचित स्थान और महत्त्व दिला सके थे।

याकोब् ग्रिम् (१७८५-१८६३) वकील के पुत्र थे और इन्होंने पहले क़ानून पढ़ा। भाषा का अध्ययन इनके जीवन में बाद को आया। अभी तक प्राचीन भाषाओं को महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इन्होंने प्रतिपादित किया कि छोटी से छोटी भाषा भी विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, और जिस लगन और अध्यवसाय से इंजील की भाषा इब्रानी तथा लैटिन और ग्रीक का अध्ययन होता है उसी से वर्तमान भाषाओं और बोलियों को भी पढ़ना-पढ़ाना शुरू करना चाहिये। इनका बनाया जर्मनी भाषा का व्याकरण (देवभाषा व्याकरण) १८१६ में प्रकाशित हुआ। रैस्क के १८१८ के प्रकाशित ग्रन्थ की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की और १८२२ में अपने व्याकरण का परिवर्धित दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। इसी में ग्रिमनियम का वर्णन है जिसका विवरण जर्मनी भाषाओं के विचार के अन्तर्गत है। ग्रिम ने महत्-

क्रम आदि के लिये पारिभाषिक शब्द गढ़े जो आज भी प्रचलित हैं। जीवन के उत्तरकाल में ग्रिम महोदय बर्लिन में प्रोफेसर हो गए और भाषाविज्ञान के अध्ययन अध्यापन में लगे रहे।

फ्रान्त्स बॉप (१७६१-१८६७) ने पेरिस जाकर पूर्वी भाषाओं का अध्ययन किया और संस्कृत को विशेष ध्येय बनाया। १८१६ में धातु प्रक्रिया पर इनकी पुस्तक प्रकाशित हुई और इसी से भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की नींव दृढ़ हुई। इस किताब में संस्कृत के रूपों की ग्रीक, लैटिन, ईरानी, जर्मनी के रूपों से तुलना है। १८२२ में यह बर्लिन अकेडमी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८३३ में इनका दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत, जेन्द, आर्मीनी, ग्रीक, लैटिन, लिथुऐनी, प्राचीन स्लावी, गॉथी और जर्मन भाषाओं का सम्पूर्ण तुलनात्मक व्याकरण था। बॉप ने निश्चयपूर्वक यह बात कही कि इन भाषाओं के विभिन्न रूपों से किन्हीं आदिम रूपों का अस्तित्त्व सिद्ध होता है। बॉप के पूर्व भी हार्नीटुके आदि विद्वानों ने इस बात की ओर निर्देश किया था कि पर प्रत्यय किसी समय स्वतन्त्र सार्थक शब्द रहे होंगे, पर बॉप ने इस पर अधिक बल दिया। प्रारभ में बॉप का विचार था कि संस्कृत में, पच्छिमी भाषाओं के एँ ओँ के स्थान पर, केवल अकार की स्थिति भारतीय लिपि की अपूर्णता के कारण है, परन्तु दुर्भाग्यवश बाद को ग्रिम के प्रभाव के कारण इन्होंने अ, इ, उ को ही मूल स्वर माना। यद भ्रम १८८० में तालव्य नियम के स्थापित होने पर दूर हुआ। बॉप ने आर्य धातुओं की सामी धातुओं से विभिन्नता प्रदर्शित की। बॉप के पूर्व ही रैस्क आदि विद्वानों ने पुरुषवाचक प्रत्ययों (*ति,-सि,-मि* आदि) की सर्वनामों से तद्रूपता बताई थी, बॉप ने इसको सर्वत्र व्यापक किया। उन्होंने भाषा के तीन वर्ग किए, (१) धातु आदि व्याकरण नियम रहित, यथा चीनी, (२) एकाक्षर धातुवाली यथा आर्य और (३) द्व्यक्षर धातुवाली यथा सामी। बॉप का विवेचन बहुत-सी भाषाओं पर विस्तृत था, उसमें गहराई और सूक्ष्मता की कमी झलकती है।

विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ड्ट (१७६७-१८३५) मुख्य रूप से भाषाविज्ञानी न थे, यह थे राजनीतिक कार्यकर्त्ता। पर इन्होंने भाषातत्त्वों की भी यथेष्ट विवेचना की है। सामान्य भाषाविज्ञान पर सब से पहले इन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनकी दृष्टि पैनी थी और वस्तु की तह तक पहुँचने की इनकी आदत सी थी। इनका कोई विशेष उल्लेख के योग्य काम है, तो जावा की

कविभाषा पर। पर भाषा की विवेचना के सम्बन्ध के इनके विचार बड़े सार-गर्भित हैं। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि भाषा प्रवाहस्वरूप है, उसका लक्षण पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के संबंध से ही दिया जा सकता है। हम्बोल्ड्ट का मत है कि प्रत्येक भाषा का स्वयं एक व्यक्तित्व है, सामान्य से सामान्य बोली का भी। भाषा से जाति के मनोभाव प्रकट होते हैं। भाषाओं के वर्गीकरण में इन्होंने अश्लिष्ट और श्लिष्ट का भेद निश्चित किया। इनका विचार है कि संसार की भाषाओं की परस्पर विभिन्नता इतनी ज्यादा है कि कोई सन्तोषप्रद आकृतिमूलक वर्गीकरण कर पाना असंभव है।

बॉप और ग्रिम के देहान्त के पूर्व, १८५५ के क़रीब, भाषाविज्ञान की काफी सामग्री इकट्ठी हो गई थी। आर्य परिवार का अस्तित्व अलग निश्चित हो गया था। इस विज्ञान का अध्ययन अभी तक यूरोप भर में विभिन्न राष्ट्रों और जातियों की संस्कृति और साहित्य के अध्ययन के साथ साथ गौण रूप से होता था। अब उसने स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ली। इसमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन ने विशेष मदद पहुँचाई। उत्साही इस नवीन विज्ञान को पदार्थविज्ञान आदि भौतिक विज्ञानों का समकक्ष साबित करने लगे। अब तक के अध्ययन में (१) संस्कृत भाषा का विशेष महत्त्व, (२) भाषाओं की तुलना करते समय सामान्य लक्षणों पर बल, (३) प्रायः सर्वांश में गई गुजरी भाषाओं पर अपेक्षाकृत अधिक जोर और समकालीन जीवित भाषाओं की उपेक्षा, (४) लिपिबद्ध भाषाओं के एकान्त अध्ययन से वाणी के स्वाभाविक स्वरूप की अवहेलना, (५) जीवित भाषाओं के थोड़े बहुत विवेचन में भी पुराने लक्षणों की ही खोज, यही मुख्य बातें थीं।

पॉट (१८०२-८०) नाम के प्रसिद्ध निरुक्तिकार तथा अन्य विद्वान ग्रिम और बॉप की परिपाटी पर चलकर पुरानी लकीर पीटते रहे।

ग्रिम के समकालीन रैप ने भाषा के शरीर (ध्वनि) पर १८३६-४० में कई ग्रंथ प्रकाशित किए। इनमें जहाँ ग्रिम के अन्य कार्य की प्रशंसा थी वहाँ साथ ही साथ ध्वनि के विवेचन के बारे में ग्रिम के काम की तीव्र आलोचना थी। इस आलोचना के कारण ही रैप के ग्रंथों का उचित सम्मान न हो सका पर इतना मानना आवश्यक है कि रैप ने ध्वनि और लेख का [illegible] स्थापित किया। बॉप और ग्रिम ने भाषा की परिवर्तनशीलता (विकास) पर बिल्कुल ध्यान न दिया था। [illegible] ने १८२१ में एक ग्रन्थ प्रकाशित

कर इसकी ओर विद्वानों का ध्यान खींचा। रैप और ब्रेड्स्डोर्फ दोनों ने भाषा-विज्ञान मे नवीनता और ताजगी उपस्थित कर दी।

आगुस्ट श्लाइखर (१८२१-६८) भाषाविज्ञान के प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के प्रतिनिधि हैं। यह अपने को भाषाविज्ञानी ही घोषित करते थे। इस प्रकार संस्कृत के अध्ययन से इन्होंने सम्बन्ध तोड़ा। लिथुऐनी, रूसी आदि कुछ भाषाओ पर महत्त्वपूर्ण विवेचन करके इन्होंने भाषाविज्ञान के मूल सिद्धात निर्धारित करने मे समय लगाया। इस विज्ञान के अलावा, दर्शन और वनस्पतिविज्ञान मे भी इनकी अच्छी गति थी। इनके भाषाविज्ञान के विवेचन मे हेगेल के दर्शन का और वनस्पतिशास्त्र की परिभाषाओं का पुट बहुत जगह मिलता है। श्लाइखर का मत है कि मनुष्य-जाति का वर्गीकरण खोपड़ी की गोलाई, लम्बाई आदि के आधार पर न करके, भाषा की विभिन्नता पर करना चाहिए क्योकि भाषा अधिक स्थिर चीज है। इन्होंने भाषाओ का वर्गीकरण अयोगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट योगात्मक निर्धारित किया। मैक्समूलर और ह्विटनी ने इसको सर्वथा मान लिया। श्लाइखर का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आदिम आर्यभाषा का पुनर्निर्माण है। इसका उल्लेख आर्य परिवार की भाषाओं के विवेचन में मिलेगा। इसके ध्वनिसमूह, पद, वाक्य आदि सभी कुछ सिद्ध किए गए। इन्होंने इस अनुमान-सिद्ध भाषा मे एक कहानी भी लिख कर प्रकाशित की। अनुमान की भित्ति पर कोई भाषा खड़ी करना असगत ही नही व्यर्थ का प्रयास है, क्योकि भाषा के विकास की जटिलता इसके विरुद्ध पड़ती है। इसी कारण श्लाइखर की आदिम भाषा को उत्तरकालीन भाषा-विज्ञानियों ने आगे नही बढ़ाया।

गेओर्ग कुर्टिउस् (१८२७-८५) श्लाइखर के समकालीन थे और उन्हीं की तरह प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के। सौभाग्यवश श्लाइखर का देहान्त उस समय हो गया जब वह प्रसिद्धि और कीर्ति के उच्चशिखर पर थे, कुर्टिउस् अपने दुर्भाग्य से कुछ साल और जीवित रहे और उन्हे प्राचीन युग के विद्वानों की तीव्र आलोचना देखनी और सहनी पड़ी। श्लाइखर की तरह कुर्टिउस् भी ध्वनि-नियमों के पालन के पक्षपाती थे पर नवीन युग के इस कथन का कि ध्वनि-नियम का कोई अपवाद नही हो सकता, इन्होंने प्रतिवाद किया। पदरचना में सादृश्य का भी वह उतना महत्त्व यह न समझते थे जितना नवयुगवाले। इसी काल मे भिन्न-भिन्न भाषाओं पर अलग-अलग महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकले। इनमें कुर्टिउस् की ग्रीक भाषा पर, वेस्टर-

गार्ड व बेनफई की संस्कृत पर, मिक्लोसिख व श्लाइखर की स्लावी पर, तथा ज़ेउस की केल्टी पर, ये कृतियाँ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। मैडविग लैटिन और ग्रीक के ज्ञान के साथ-साथ, भाषाविज्ञान के मूलतत्त्वों पर विवेचन के लिये प्रसिद्ध हुए।

इस समय तक भाषाविज्ञानी भिन्न-भिन्न भाषाओं की छान-बीन कर-कर ही मूल तत्त्वों के निर्माण में व्यस्त थे, किसी को इतनी फुर्सत न थी कि इन तत्त्वों को जनता के सामने पेश करे और दिखाए कि ये लोग गहरे सागर से नए मोती निकाल कर लाए हैं।

इस काम की ओर मैक्समूलर (१८२३-१९००) अग्रसर हुए। इन्होंने १८६१ में भाषाविज्ञान पर व्याख्यान दिए। ये शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुए और शैली की रोचकता और प्रसादगुण के कारण बड़े लोकप्रिय साबित हुए। पढ़ी-लिखी जनता का ध्यान इस विज्ञान की ओर जितना मैक्समूलर ने खींचा उतना और किसी ने नहीं। इस पुस्तक का अच्छा प्रचार हुआ। नया सस्करण १८९० मे प्रकाशित हुआ। इसमें ग्रन्थकार ने पिछले तीस वर्षों में किए गए अनुसन्धानों का उल्लेख भूमिका में किया है, और अधिकाश मे नवीनयुग के सिद्धान्तों को मान-सा लिया है। मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान विज्ञान सिद्ध किया पर वह इसे भूतविज्ञान आदि के समकक्ष न ठहरा सके। तुलनात्मक व्याकरण से भी इसका भेद विशद रूप से उन्होंने दिखाया। भाषा का उद्गम, वर्गीकरण, विकास, विकास का कारण इत्यादि विषयों पर भी अब तक किए गए काम को सग्रहीत कर इन्होंने जनता के सामने उपस्थित किया। मैक्समूलर प्रधान रूप से साहित्यिक ही थे और प्राच्य विद्याओं के उत्साही समर्थक। इनका ऋग्वेद का संस्करण और प्राच्य प्राचीन ग्रंथों का पचास जिल्दों मे अँगरेज़ी में अनुवाद, दोनों इनकी अमर कृति हैं। भाषाविज्ञानी यह गौण रूप से थे। इसी कारण भाषाविज्ञान-व्याख्यान-माला मे वह अन्य साहित्यिकों की तरह थोड़ा बहुत बहक गए हैं।

ह्विटनी (१८२७-'९४) प्रधान रूप से वैयाकरण थे और संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ। यह मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते हैं। जितनी ख्याति मैक्समूलर को मिली, विशेषकर भारतवर्ष मे, उतनी ह्विटनी को नहीं। इसका ह्विटनी को आजन्म खेद रहा। इन्होंने मैक्समूलर के कालनिर्णय विचारों की कड़ी आलोचना की। मैक्समूलर ने अन्य साहित्यिकों की भाँति रोचक दृष्टान्त दे-दे लिख कर पढ़ी लिखी जनता को मुग्ध कर लिया था। इन्हीं दृष्टान्तों का [illegible]

ह्विटनी ने अपने ग्रंथों में की। "भाषा और भाषा का अध्ययन" इस विषय का इनका ग्रंथ १८६७ में प्रकाशित हुआ और "भाषा का जीवन और विकास" १८७५ में। मैक्समूलर के ग्रंथ की अपेक्षा ये दोनों भाषाविज्ञान के तत्त्वों का अधिक सुंदर और शुद्ध विवेचन करते हैं, पर दोनों की शैली मैक्समूलर की शैली से कम रोचक है। ह्विटनी का संस्कृत व्याकरण भी अपने ढंग का निराला है।

नवीन युग

कुछ बातों में नवयुग के पथप्रदर्शक स्टाइनथाल (१८२५-'९९) थे। इनका प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ। इसमें व्याकरण, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर प्रभाव की सुंदर विवेचना थी। पर इस समय श्लाइखर का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में बोलबाला था। उन्होंने इस प्रकार के ग्रंथों को नौसिखिए वैयाकरणों के ग्रंथ कह कर उनकी खिल्ली उड़ाई। स्टाइनथाल ने सुदूर-पूर्व देश की चीनी आदि तथा नीग्रो आदि भाषाओं पर काम किया था और निकटवर्ती आर्य-परिवार की भाषाओं का विवेचन पिष्टपेषण समझकर छोड़ दिया था। इस कारण भी यह प्रसिद्धि न पा सके। पर भाषा का अध्ययन मनोविज्ञान के संपर्क और सहायता से करना चाहिये, इस दृष्टि को सामने रखने से इनका काम महत्त्वपूर्ण है। आस्कोली ने केन्टुम् और सतम् भाषाओं का भेद स्पष्ट रूप से उपस्थित किया।

प्रायः १८७० के करीब भाषाविज्ञान ने ऐसी महत्ता प्राप्त कर ली थी कि मैक्समूलर, ह्विटनी आदि मनीषी उस पर गर्व कर रहे थे। उनका गर्व उचित भी था। इस विज्ञान के मूल सिद्धान्तों के अलावा तुलनात्मक व्याकरण के सहारे आदिम आर्य-भाषा का ढाँचा खड़ा हो गया था, अनुमानसिद्ध ही सही। और ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि के प्रायः ९० फी सदी शब्दों की व्युत्पत्ति निश्चित हो चुकी थी।

१८८० में तालव्य-ध्वनि-नियम ढूँढ लिया गया जिसके सहारे आदिम आर्य-भाषा के तृतीय श्रेणी के कवर्ग की ध्वनियों का संस्कृत में कहीं तो कवर्ग, पर अन्यत्र चवर्ग, यह द्विधा विकास समझ में आ गया। इसलिए आदिम तीन मूल स्वर (अ, ऍ, ऑ) निश्चित हुए। यह उस धारणा के विरुद्ध हुआ जिससे संस्कृत सर्वांश में आदिम भाषा के सन्निकट समझी जाती थी। इस नई खोज के कारण स्वरक्रम के निष्कर्षों में भी संशोधन करना पड़ा। और

है। इसी कारण बोलचाल की भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा। बोलचाल की भाषा का स्वयं अध्ययन करनेवालों मे अँगरेज विद्वान हेनरी स्वीट का नाम उल्लेखनीय है।

नई पीढ़ी क विद्वानों ने भाषा के उद्गम और वर्गीकरण को विज्ञान में बहुत गौण स्थान दिया। पहले को उन्होंने हल करना असंभव समझा। पेरिस की भाषाविज्ञान-परिषद् जो आज भी इस विज्ञान की विवेचना के लिए अद्वितीय महत्त्व रखती है, उसने भाषा के उद्गम और सर्वजन-भाषा की सृष्टि इन दो प्रश्नों के विवेचन का अपने नियमों द्वारा ही प्रतिषेध कर दिया। भाषा के वर्गीकरण को भी इन विद्वानों ने कृपादृष्टि से न देखा। इन्होंने बोलियों के मिश्रण की ओर ध्यान खीचा और दिखाया कि पदरचना अथवा ध्वनि-नियम के बहुत से अपवाद, बोलियों और भाषाओं के शब्दों के परस्पर आदान-प्रदान से समझ में आ सकते हैं। इन्हीं विद्वानों ने वाक्य-विज्ञान शाखा के अध्ययन पर भी बल दिया। यह शाखा अभी तक प्रायः अछूती ही पड़ी थी। हर्मन ब्रुगमन् और डेलब्रुक दोनों इस दिशा में अग्रसर हुए। पाउल ने सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों की अद्वितीय गवेषणा की और उस पर सुन्दर ग्रन्थ लिखे। ब्रुगमन् ने आर्य-परिवार की भाषाओं की पदरचना पर कई जिल्दों मे अपना ग्रंथ प्रकाशित किया जो अब भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इन्ही दिनों भाषा की परिवर्तन-शीलता पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और उसके कारण निर्धारित किए जाने लगे।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

जर्मनी के नवयुवक व्याकरण-पंडितों का बोलबाला प्रायः १८८० से आरम्भ होकर बीसवीं सदी के पहले बीस साल तक रहा। धीरे-धीरे उनका प्रभाव शिथिल पड़ने लगा। इधर पिछले बीस-पच्चीस साल मे अमरीका, प्रशान्त महासागर के द्वीपों और अफ्रीका आदि की असाहित्यिक भाषाओं का विशेष अध्ययन किया गया है और फलस्वरूप भाषा का उद्गम, वर्गीकरण इत्यादि प्रश्नों पर भी जिनको नवयुवक व्याकरण-पडितो ने अलग रख दिया था विचार किया जाने लगा है। आर्य-परिवार की भिन्न-भिन्न भाषाओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थ, तथा अन्य परिवारों की भाषाओं पर भी नए ग्रन्थ तैयार हुए हैं। बच्चे की भाषा के विकास को ध्यान-पूर्वक देखा जा रहा है और उसके सहारे भाषा के विकास पर प्रकाश पड रहा है। मनोविज्ञान के प्रभाव की

महत्ता सर्वथा स्वीकार कर ली गई है और अर्थ विकास को उसी की मदद से समझा जा रहा है। ज्ञानतन्तुओं को उच्चारण के अवयवों का प्रेरक मान कर शरीर विज्ञान के अध्ययन की सामग्री लेकर ध्वनिविज्ञान पर इधर पचीस-तीस साल के भीतर बहुत अच्छा काम किया जा सका है। इस विषय में प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान की सफलता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शरीरविज्ञान के मनीषियों से लेकर रोज़ापेल्ली ने १८७६ में ही कायमोग्राफ का ध्वनिविज्ञान में प्रयोग शुरू कर दिया था और दन्तचिकित्सकों से लेकर ओकले कोट्स ने कृत्रिम तालु का प्रयोग १८७१ में। कायमोग्राफ से ध्वनियों के घोषत्व, प्राणत्व स्फोटकत्व, स्पर्शसंघर्षित्व, संघर्षित्व तथा अनुनासिकत्व का यथातथ ज्ञान हो जाता है। कृत्रिम तालु से स्पर्श कहाँ हुआ इसका बिल्कुल सही ज्ञान प्राप्त होता है। कायमोग्राफ द्वारा अंकित ध्वनियों को सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र की मदद से देखने से सुर का भी ज्ञान मिल जाता है। *

भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र सौ डेढ़ सौ साल तक जर्मनी था। वर्तमान काल में वह केन्द्र पेरिस पहुँच गया, यद्यपि जर्मनी के वूंड्ट, हिर्त, लेस्कीन, आदि विद्वानों का काम पेरिस में किए गए ब्रील, मेइए, वान्द्रियाज़, दउज़ा आदि के काम से किसी हालत में नीचे दर्जे का नहीं है। अमरीका के कार्यकर्ताओं में ब्लूमफील्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ध्वनिविज्ञान के विद्वानों में प्रसिद्ध जर्मन प्रोफेसर श्क्रिप्चर और अँगरेज़ डेनियल जोंस प्रमुख हैं। सामान्य भाषाविज्ञान तथा इङ्गलिश भाषा पर विशेष रूप से काम करनेवाले डेनिश प्रोफेसर ऑटो जेस्पर्सन हैं। इन सभी विद्वानों ने बहुत से विद्यार्थियों को शिक्षा दी। देश विदेश के विद्यार्थी इनकी 'उपासना' कर स्वदेश लौटे और अपनी-अपनी भाषाओं के अध्ययन में जुटे हुए हैं।

भारत भाषाविज्ञान का आदिगुरु था। पर कालचक्र से यही नहीं कि उसकी पदवी खो गई बल्कि उसके विद्वानों की कृतियों पर पश्चिम के मनीषियों का उचित ध्यान भी नहीं आकृष्ट हुआ। वर्तमान युग में काम करने वालों में सर्वप्रथम स्वर्गीय रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का नाम आता है। व्याकरणशास्त्र का विवेचन संस्कृत विद्या के केन्द्रों में परम्परा से चला आया है। भंडारकर ने देशी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुये यूरोपीय विद्वानों द्वारा

प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी गंभीर अध्ययन किया और परिणामस्वरूप *विलसन व्याख्यानसाला* भारतीय जनता को १८७७ मे दे सके। संस्कृत विद्या के प्रगाढ पांडित्य के कारण यह ग्रन्थ कुछ बातो मे तत्कालीन अन्य भाषाविज्ञानियो की कृतियो से अच्छा ही है। इसी समय भारतीय भाषाओं के अध्ययन मे भारत मे कुछ यूरोपीय विद्वान लगे हुए थे। इनमे से सिन्धी के लिए **ट्रम्प**, द्राविडी के लिये **कैल्डवेल** और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिये **बीम्ज** और **होयर्नले** के नाम प्रमुख हैं। इन्ही दिन भारतीय सरकार के भाषा सर्वे की जिल्दे जार्ज ग्रियर्सन की देख रेख मे प्रकाशित हुई। ये सभी वृद्धजन पुरानी पीढी के मान्य विद्वान थे। इधर बीस साल में **टर्नर** और **ज्यूल ब्लाक** ने सतत परिश्रम से भारतीय भाषाओं पर तुलनात्मक और इतिहासिक विवेचन किया है। **टर्नर** का *नेपाली कोष* व्युत्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र मे अपना सानी नही रखता। और **ब्लाक** का *मराठी का विकास* तथा *भारतीय आर्य भाषाएँ* दोनो ग्रथ अद्वितीय महत्त्व के हैं। भारत के वर्तमान भाषाविज्ञान-सेवियों मे बहुतेरे इन्हीं दो महानुभावों के शिष्य हैं। भारत के वर्तमान भाषाविज्ञानियो मे सर्वप्रमुख सुनीतिकुमार चटर्जी हैं। इनका बंगाली भाषा के विकास के विषय का ग्रन्थ आज भी कई अंशों में कोष की महत्ता रखता है। चटर्जी महोदय केवल भाषाविज्ञानी नही है, इनकी गति पुरातत्त्व आदि अन्य कई विद्याओं मे भी अच्छी है। इस कारण यह भाषाविज्ञान को व्यापक दृष्टि से पढते-पढाते आए हैं। केवल भाषाविज्ञानी प्रसिद्ध हैं डा० सिद्धेश्वर वर्मा। इन्होंने दर्दी भाषाओं और बोलियों की बहुत अच्छी खोज की है। इनके अलावा **कात्रे** (कोंकणी), **धीरेन्द्र वर्मा** (व्रज), **बनारसीदास जैन** (पंजाबी), **बानीकान्त काकाती** (असामी), **बाबूराम सक्सेना** (अवधी), **रामस्वामी ऐयर** (द्राविडी) आदि अपने-अपने क्षेत्रों मे लब्धप्रतिष्ठ हैं। अपने विश्वविद्यालयों में संस्कृत और प्राकृत पर काम करने वाले बहुत से पंडित हैं। इनमें से प० ल० **वैद्य** तथा हीरालाल जैन (अपभ्रंश) का नाम उल्लेखनीय है।

भारतीय विद्वान शायद अभी कुछ साल तक भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्तो पर कोई मौलिक कार्य न कर सके। सभी अपने-अपने संकुचित क्षेत्र मे संलग्न हैं। यही क्या कम संतोष की बात है कि अपनी भाषाओं के बारे मे हमे अब विदेशियो की ओर टकटकी लगाने की जरूरत नहीं। मुख्य-मुख्य भाषाओं का सामान्य परिशीलन हो चुका है, पर बोलियो का अभी बाकी है।

इसमें जितने ही अधिक युवक लगें अच्छा है। ग्रियर्सन का काम उस समय के लिये ठीक था। हम उनके अनुगृहीत भी हैं। पर वह सामग्री सदोष है। जंगली जातियों की भाषाओं का भी हमीं को अध्ययन करना चाहिए। बोडिंग आदि मिशनरियों का काम अच्छा है, पर जो काम भारतीय कर सकेंगे उसकी तुलना का वह नहीं ठहर सकता।

भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते समय हमें अपनी प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) का सहारा भूल से भी न छोड़ना चाहिए, विशेषकर संस्कृत का। संभव है कि वाक्यपदीय आदि प्राचीन ग्रंथों के परिशीलन से हमें कुछ ऐसे सुझाव मिलें जिनके सहारे हम एक बार फिर पश्चिमी विद्वानों को कोई मौलिक चीज देकर उऋण और कृतार्थ हो सकें।

भाषाविज्ञान ने भाषा-सम्बन्धी कुछ मूल तत्त्व पकड़ लिए हैं। प्राचीन और वर्तमान भाषाओं का विश्लेषण करने पर ही यह संभव हुआ है। पर अभी तक यह विश्लेषण चरम कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। एक आध सवालों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मैक्समूलर ने पुरुष और स्त्री के उच्चारण के भेद का दिग्दर्शन कराते हुए कहा था कि पुरुष के स्वर यन्त्र के तार स्त्री के तारों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। संभव है, यह ठीक हो। बच्चों की वाणी में एक प्रकार की कोमलता और मधुरता रहती है, वह लड़कियों में स्थिर रहती है पर लड़कों में क्रमशः (प्रायः १६ वर्ष की अवस्था में) समाप्त हो जाती है। पर दो बहिनों या माता पुत्री, या भाई-भाई या पिता-पुत्र की वाणी में एक विलक्षण समानता मिलती है और कभी-कभी हमको भ्रम होता है कि प्रीति बोल रही है या कांति, या सुबोध बोल रहे हैं या सुधीर। इस समानता का क्या कारण है? यह समानता ध्वनि-गुणों के विश्लेषण से नहीं ज्ञात होती। यह कौन चीज़ है? क्या कभी भी हम ज्ञान की उस कोटि को पहुँच सकेंगे जब इस तरह के सवालों का समाधान कर सकेंगे?

प्रथम परिशेष

लिपि का इतिहास

मूलरूप से भाषा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। अपौरुषेय श्रुति को छोड़कर अन्य सभी शब्द को सुनने के लिये वक्ता और श्रोता के समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा होती है। ऐसी परिस्थिति में अपनी बात और भावना को यदि उत्तरकालीन या भिन्न-देशस्थ मनुष्य तक पहुँचाना अभीष्ट हो तो किसी अन्य उपाय का अवलम्बन करना चाहिए। मनुष्य अपने समय की विशेष घटनाओं की स्मृति छोड़ जाना चाहता है। उनका उल्लेख वह अपने पुत्र पौत्रों से कर दे, और वे अपने नाती-पोतों से, तो परम्परा से स्मृति बाक़ी रह सकती है। पर सदा ये संभव नहीं कि उसके ये निकटस्थ सम्बन्धी उसके पास हों। यदि उसने कोई बात अन्तस्तल में छिपा रक्खी है और उसके बच्चे छोटे छोटे हैं तो वह अपनी बात की स्थिरता किस प्रकार छोड़ जाय? यदि वह इनको भी अपनी बात का भेद न बताकर दूरस्थ प्रेमीजन के पास भेजना चाहता है तो वह किस उपाय का अवलम्बन करे? आज जब लेख, पत्र, तार, टेलीफोन आदि साधन सभ्य मनुष्य को सुलभ हैं तब इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना अनर्गल सा मालूम होता है। पर जब ये साधन नहीं मौजूद रहे होंगे तब क्या होता होगा?

लिपि आदि साधनों के रहने पर भी स्मृति आदि के लिए अन्य साधनों का भी उपयोग चल सकता है। हनुमानजी रामचन्द्रजी की मुद्रिका दिखा कर ही सीताजी को यह विश्वास दिला सके कि वह उनके स्वामी के दूत थे। दुष्यन्त ने अपने नाम की अंकित अँगूठी अभिज्ञानस्वरूप शकुन्तला के पास छोड़ दी थी, ऐसा कालिदास का प्रतिपादन है। आज भी शादी-ब्याह के न्योते के रूप मे-सुपारी भेजने का अपने देश मे रवाज है। किसी की मृत्यु की सूचना जिस चिट्ठी द्वारा दी जाती है उसका एक कोना फाड़ दिया जाता है। यदि किसी बात को याद रखना जरूरी है और उसे भूल जाने का अन्देशा है तो गाँठ बाँध ली जाती है। अपने देश में वर्षगाँठ भी निश्चय

ही स्मृति के साधनस्वरूप हैं। बच्चा कितने साल का हुआ यह बात डोरी में डाली हुई गाँठों की संख्या से मालूम हो जाती थी। कुछ देशों में, विचित्र रेखाओं से खचित छड़ी को देखकर उन विभिन्न रेखाओं द्वारा स्मृति में आई हुई बातों को दूत बता सकते थे।

इस प्रकार श्रोत्र-ग्राह्य शब्द का प्रतिरूप या उसकी सहायक कोई ऐसी चीज हुई जो नेत्रग्राह्य हो। इस विषय में कुछ विशेष जातियों के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। पेरु में कुइपु नाम की डोरियाँ होती थीं। ये दो फुट से अधिक लम्बी होती थीं। इनमें रंग-बिरंगे धागे बँधे रहते थे। इन रंगों और इन धागों में पड़ी गाँठों से विविध अर्थों का संकेत हो जाता था, सफेद धागे से 'चाँदी' या 'शान्ति' का अर्थ निकाला जाता था, लाल से 'सोना' या 'युद्ध' का। इसी तरह मृगचर्म में रंग-बिरंगे मोती-मूँगे आदि चीजें बाँध कर विविध अर्थों का बोध कराया जाता था। यह तर्कीब भी उत्तरी अमरीका की कुछ जातियों में प्रचलित थी। ये तर्कीबें संकेत-स्वरूप समझनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे एक विशेष आकृति के अक्षरों से एक विशेष शब्द द्वारा किसी विशेष भाव का उद्‌बोध हो जाता है। भाव के ज्ञान के लिये संकेत के पूर्व-ज्ञान की अपेक्षा अनिवार्य है। इस प्रकार के संकेतों के लिए किसी विशेष शब्द के माध्यम की जरूरत नहीं। यथा विभिन्न जातियों में युद्ध के लिए विभिन्न शब्द रह सकते हैं और तब भी लाल रंग युद्ध का अर्थ बता सकता है।

इन स्मृति-चिह्नों की अपेक्षा, मिस्र देश में प्रचलित चित्रलिपि से भाव का व्यक्तीकरण अधिक आसानी से हो जाता था। दौड़ते हुए बछड़े के पास ही पानी का भी चित्र, प्यास के भाव का उद्‌बोध कराता था। मनुष्य के चित्र में निकली हुई पसलियों से दुर्भिक्ष का और आँसू टालती हुई आँखों से दुःख का आभास मिलता था। चीन में दो मिले हुए हाथों से मित्रता का अर्थ समझा जाता था। उसी प्रकार सूर्य, वृक्ष, साँप, भेड़ आदि के चित्रों से उन उन चीजों और जीवों का बोध होता था। चित्र द्वारा स्थूल विषयों का व्यक्तीकरण सुलभ था, सूक्ष्म का अपेक्षाकृत कठिन। उदाहरणार्थ चीन देश में सुनने का अर्थ दर्वाजे में कान सटाए हुए मनुष्य के चित्र से किया जाता था।

यदि चित्रों द्वारा ही भावों का व्यक्तीकरण होता रहता तो भाषा-भिन्नता के रहते हुए भी एक जाति या देश के चित्रों से दूसरी जाति या देशवाले

भी उन्हीं चिह्नों से उन भावों का बोध कर लेते। पहाड़ या समुद्र के चित्र से हिन्दी भाषा-भाषी को उसी प्रकार उन चीज़ों का बोध होता है जैसे अँगरेज या हबशी को, यद्यपि इन तीनों की भाषाओं मे इन चीजों के लिए अलग-अलग शब्द हैं। पर चित्रों का खींचना आसान काम न था, समय भी काफी लगता था। धीरे-धीरे खराब खिंचे हुए चित्रों से भी काम चलता रहा। होते होते ये चित्र अपने मूल-रूप से बहुत दूर हट आए। इन सकेतों को देख-कर ही मूल-चित्रों का उद्बोध होता था और उनके द्वारा उन भावो का। चित्रो की स्थिति तक, ये चाहे कितने भी बुरे खिंचे हुए हों भावो का उद्बोध-अन्य-भाषा-भाषियों को भी हो जाता था, पर अब संकेतों के कारण व्यक्तीकरण उन्ही तक सीमित रह गया जो उन संकेतों से अभिज्ञ थे।

इस प्रकार यदि आँख के भाव का बोध कराने के लिये आँख के चित्र के स्थान पर केवल बिन्दी रह जाय तो बिन्दी से आँख का भाव केवल उसीको मालूम होगा जो उस सकेत से परिचित हो। चित्र तक तो भाव और चित्र-संकेत में, देखनेवाले को एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध मालूम देता था, अब तो केवल ऐसा सम्बन्ध रह गया जो रूढ़ि पर आश्रित था। उदाहरणार्थ चीन देश में, पर्वत का भाव पहले ऐसे चित्र से व्यक्त किया जाता था जिसमे ऊँची नीची कई चोटियाँ दिखाई पड़ती थी। धीरे धीरे ऊपर एक चोटी-सी लकीर और मूल मे दो छोटी-छोटी खड़ी लकीरों से ही पर्वत का भाव प्रकट किया जाने लगा। मनुष्य के चित्र में पहले सिर, दो बाहे, धड़ और दो टाँगे स्पष्ट थीं, बाद को धड़ के लिए केवल एक खड़ी लकीर और उसके नीचे उसी से दोनों तरफ निकली हुई दो छोटी लकीरें ही दो टाँगों के स्वरूप रह गईं। इसी तरह मिस्र देश मे शेरनी का भाव पहले उसके चित्र से प्रकट किया जाता था, बाद को होते-होते केवल इस L चिह्न से उसका बोध कराया जाने लगा।

जब रूढ़ि द्वारा स्थापित इस प्रकार के संकेत विशिष्ट-भाषा-भाषी जाति या देश तक सीमित रह गए तब इन सकेतों से विशिष्ट शब्दों (ध्वनि-समूहों) का ही उद्बोध होना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ यदि हिन्दी जुआ शब्द के लिए एक ही सकेत हो तो 'द्यूत' और 'युग' दोनों के अर्थ का बोध करावेगा। ऐसी परिस्थिति में कौन से अर्थ का अभिप्राय है, इसको जतलाने के लिये किसी और उपाय की जरूरत पड़ सकती है। चीनी भाषा में लिपि की इस

अवस्था के कारण समान अर्थ के बोधक दो शब्दों को पास पास रखकर उनके सामान्य अर्थ का बोध कराया जाता है। इस प्रकार ये विशिष्ट संकेत चित्र से इतने दूर हट आए कि केवल विशिष्ट ध्वनि समूहों (ध्वन्यात्मक शब्दो) का बोध कराने लगे। चीनी मे इसी प्रकार के एकाक्षर ध्वन्यात्मक शब्द हैं। और जब केवल सकेत रह गए तो सकेत विकसित होते-होते किसी भी परिवर्तन को स्वीकार कर सके। इस तरह प्रथम सम्पूर्ण बात या वाक्य का बोध करानेवाले एक चित्र, फिर वाक्य के विभिन्न स्थूल भावों के अलग अलग चित्र, फिर इन चित्रों से विकसित हुए उनके उद्बोधक सकेत, और इनसे अक्षर, लिपि के विकास मे यह क्रम रहा।

चीनी आदि ऐसी भाषाओं मे जिनमें शब्द एकाक्षर हों, सकेतो का अक्षरों के स्थान पर प्रयोग में आना समझ में आता है। ई० पू० २००० तक चीन देश में ऐसी स्थिति पहुँच गई थी। मिस्र में भी इसी तिथि तक यह स्थिति हो गई थी कि ये सकेत चित्रों से दूर रूढि-ग्राह्य हो गए थे। मिस्री भाषा में भी एकाक्षर शब्दों का बाहुल्य था। जब तक एकाक्षर शब्दो को जतलाने का अभिप्राय हो ये सकेत काम के थे। चीनी भाषा के सवा चार सौ सकेत इसी प्रकार के हैं। पर उसमें अलग-अलग ध्वनियों के द्योतन का कोई उपाय नही है, *त* के लिए संकेत है, पर *त्* और *अ* के लिए अलग-अलग नहीं। चीनी भाषा का काम चल गया, क्योंकि उसमें न उपसर्ग थे न प्रत्यय। सम्बन्ध-तत्व का बोध कराने के लिए भी अलग-अलग एकाक्षर शब्द थे, जिनके लिए सकेत पहले से मौजूद थे। पर मिस्री भाषा की अवस्था इससे भिन्न थी। उसमे एकाक्षर शब्दों के अलावा उपसर्ग, मध्य-विन्यस्त पद और प्रत्यय भी थे। *सोन्* (भाई), *सोन्-अ* (मेरा भाई) *सोन्-क्* (तेरा भाई), *सोन्-फ्* (उसका भाई), *सोन्-उ* (कई-भाई), *सोन्-त्* (बहिन) का बोध एक ही संकेत से करना असभव था। ऐसी दशा में लिखने वाले की बुद्धि में- *अ,-क्,-फ्-,उ,-त्* आदि ध्वनियों का भान होना सभव था। एकाक्षर शब्दों के द्योतक संकेतों में क्या उपाय किया जाय कि इन भिन्न भावों का भी बोध हो सके? ध्वनियो का अलग-अलग भास, एक ध्वनि से आरंभ होने वाले सकेत एक ओर और दूसरी ध्वनियो से आरभ होने वाले अन्यत्र, इस विभाग से शुरू हुआ होगा। अनुमान है कि ऐसा संकेत जो किसी विशेष ध्वनि से आरभ होता था, वह उस सकेत द्वारा द्योतित शब्द की आदिम ध्वनि के लिए भी काम में लाया जाने लगा। अलग ध्वनियों के लिए अलग सकेतों की जरूरत तो *सोन्-क्* आदि शब्दों के अस्तित्व से मह-

थी। इस प्रकार अहोम् (उकाब) का सकेत अ के लिए और रो (मुख), लबोइ (शेरनी) क्रम से र् और ल् के लिए प्रयोग मे आने लगे। एक ही ध्वनि से आरंभ होनेवाले कई संकेत रो, रेत, र आदि रहे होंगे। और आरंभ में ये सभी उस आदिम ध्वनि के लिए प्रयोग में आते होंगे। बाद को वह संकेत जिसका भाषा के शब्द के लिये अधिक प्रयोग रहा होगा या जो अन्यो की अपेक्षा अधिक आसानी से बन सकता होगा, उसने उस ध्वनि-विशेष का द्योतन करने के लिए दूसरों विजय पाई होगी। मिस्री भाषा की पचीस ध्वनियों मे किसी किसी के लिए अनेक संकेत पाए जाते हैं। इस तरह मिस्र देश में ध्वनियोंके लिए अलग-अलग चिह्न (वर्ण) काम में आए। कुछ काल तक साथ ही साथ चित्रात्मक और भावात्मक संकेत भी साथ-साथ चलते रहे, जैसा कि प्राचीन लेखो के अध्ययन से पता चलता है।

चीन महादेश और मिस्र के अतिरिक्त लिपि का विकास, प्राचीन काल में मेसोपोटैमिया में सुमेरी जाति द्वारा किया गया। यहाँ भी भाव का व्यक्तीकरण चित्र द्वारा ही पाया गया है। पर जहाँ मिस्र मे अधिकतर ये चित्र पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं, मेसोपोटैमिया के चित्र नरम ईंटो पर कीलों से खोदे जाते थे। तल की नर्मी के कारण केवल लाइने खिंच सकती थीं, गोलाई आदि के प्रदर्शन का कोई साधन न था। उदाहरणार्थ मछली का चित्र केवल तीन-चार लाइनों से खींचा जा सकता था। इस प्रकार ये चित्र आरंभ मे ही सकेत से हो गए, और फिर भावों के व्यक्त करनेवाले। सामी पड़ोसियों ने इनको अक्षरात्मक बना लिया। बाद को ईरानी लोगों भी इनका प्रयोग करना शुरू किया, और इन्हीं का एक रूप हमे दारा के पुराने कीलाक्षर लेखों में मिलता है।

वर्तमान यूरोप की सभी लिपियाँ ग्रीक लिपि से विकसित हुई हैं। ग्रीक के पुराने लेख ई० पू० ६वीं सदी तक के मिलते हैं। ये थेरा द्वीप में मिले थे। इनमें से कुछ दाहिनी ओर से बाईं ओर को और कुछ बाईं से दाहिनी ओर को लिखे गए हैं। इसके बाद उत्तरी मिस्र के अबूसिम्बेल स्थान पर मिले हुए ७वीं ई० पू० सदी के, और फिर कोरिन्थ और अथेन के ई० पू० छठी सदी के लेख हैं। ई० पू० चौथी सदी तक इन लेखों के दो विभाग, पूर्वी और पच्छिमी, मिलते हैं। उस समय के इधर के लेखों में एकरूपता दिखाई पड़ती हैं। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम सामी हैं। रोम के उत्थान के पूर्व इटली और पास पड़ोस के प्रदेशों में एत्रुस्की भाषा बोली जाती थी। इसके कुछ पुराने लेख मिले हैं।

इस लिपि के बारे में विद्वानों का मत है कि यह इटली में ६वीं सदी ई० पू० मे एशिया माइनर से आई। और एशिया माइनर में इन्होंने ग्रीस-देशवासियों से प्राप्त किया था। लैटिन के पुराने से पुराने लेख ई० पू० चौथी सदी के हैं। ये रोम में मिट्टी के बर्तनों पर खुदे मिले हैं। यह लिपि ग्रीक स्रोत की है, पर इस पर एत्रुस्की लिपि का भी प्रभाव स्पष्ट है। बाद को यही रोमन लिपि कहलाई। आरंभ मे इसमें २३ वर्ण थे। बाद को १४वीं १५वीं सदी मे इसमें २६ वर्ण हो गए जो आज तक क़ायम हैं। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों की **रूनी** लिपि प्रचलित ग्रीक लिपि से संबंध नहीं रखती। विद्वानों का विचार है कि यह काले सागर पर बसे हुए किसी ग्रीक उपनिवेश से प्रायः ई० पू० ६०० में ली गई। केल्टी की *ओघं* (५वीं सदी) लिपि रूनी से ही निकली है। स्लावी की **सिरिली** और **ग्लैगोलिथी** (६वीं सदी) का विकास तत्कालीन ग्रीक लिपि से माना जाता है।

आर्मीनी लिपि के लेख चौथी सदी ई० के मिलते हैं। कुछ विद्वान इसे ईरानी स्रोत का और अन्य ग्रीक स्रोत का बताते हैं। ई० पू० पहले सहस्राब्द मे एशिया माइनर मे कुछ लिपियाँ वर्तमान थीं। ये अरमी के कोई पूर्वकालीन रूप समझी जाती हैं। **अरमी** के सब से पुराने लेख प्रायः ८०० ई० पू० के, उत्तरी सीरिया के सिन्दिली नाम के स्थान में मिले थे। यह उत्तरी सामी की लिपियों में सर्वप्रमुख लिपि थी। इसी से हेब्रू लिपि निकली है। **अरबी** लिपि भी अरमी का ही एक रूप है। इसके ५ वीं सदी ई० पू० तक के लेख मिलते हैं। ७वीं ८वीं ई० सदी में इसके दो रूप **कूफी** और **नस्ख़ी** मिलते हैं। नस्ख़ी रूप ज्यादा प्रचलित हो गया और वर्तमान अरबी लिपि उसी का विकसित रूप है। ईरान मे हखमानी बादशाहों ने कीलाक्षर लिपि का प्रयोग किया था, पर सिकन्दर की विजय के उपरान्त अरमी आ गई। ससानी शाहशाहों की लिपि **पहलवी** है।

भारत मे सर्वप्रथम तिथि पड़े हुए लेख अशोक प्रियदर्शी के हैं। इनकी लिपियाँ **ब्राह्मी** और **खरोष्ठी** हैं। खरोष्ठी के लेख ई० पू० तीसरी सदी से लेकर तीसरी सदी ई० तक के मिलते हैं। ये भारत के पश्चिमोत्तरप्रदेश मे ही मिले हैं। ई० तीसरी सदी में खरोष्ठी चीनी तुर्किस्तान में भी पहुँच गई थी। खरोष्ठी अरमी का ही भारतीय रूपान्तर समझी जाती है। ब्राह्मी लिपि से ही वर्तमान भारत की सभी लिपियाँ विकसित हुई हैं। कनिंघम, लैसेन और ओझा आदि विद्वान इसे भारत की स्वतन्त्र उपज समझते हैं, पर यूरोप के बूलर आदि बहु-

तेरे मनीषी इसे विदेशी (प्राय: सामी) लिपि से ही विकसित बताते हैं। ब्राह्मी का विवेचन आगे किया जायगा।

वर्तमान यूरोप की लिपियों का मूल-स्रोत ग्रीक लिपि है, यह बात ऊपर के विवरण मे स्पष्ट हो गई है। उसके विषय में सवाल उठता है कि ग्रीस-वासियों को यह कहाँ से मिली ? क्या यह उन्हीं की निजी चीज है ? विद्वानों का मत है कि लिपि ग्रीसवासियों की अपनी चीज नहीं है, उन्होंने इसे फोनीशी व्यापारियो से लिया। यूरोपीय भाषाओं में लिपि के लिए अल्फाबेट शब्द है, और इसमें प्रथम दो वर्ण *अल्फ़ा* और *बेटॉ* का समावेश है। ग्रीक लिपि के ये दो वर्ण रोमन मे ए और *बी* नाम से पाये जाते हैं। *अल्फ़ा*, *बेटॉ*, *गम्मॉ*, *डेल्टा* शब्द केवल सामी *अलेफ़*, *बेथ्*, *गिमेल* और *दालेथ* के रूपान्तर हैं। इन शब्दो का सामी अर्थ है (क्रमशः बैल, मकान, ऊँट, क़नात का दर्वाजा), ग्रीक मे ये निरर्थक हैं। अरबी मे मेम (पानी) आदि अन्य वर्णों के नाम भी इसी प्रकार सार्थक हैं। इन वर्णों के आदि रूपों से इन अर्थों का भाव भी झलकता है। ग्रीसवासियों ने इनको लेकर इनमें अपनी जरूरत के हिसाब से संशोधन कर लिए। सामी मे व्यंजनों के लिए ही वर्ण थे। ग्रीस-वालो ने *अलेफ़*, *हे*, और *ऐन* को स्वरों के लिए इस्तेमाल कर लिया। सामी लिपि मे २२ ही वर्ण थे। ग्रीक लोगों ने न केवल इतना किया कि कुछ व्यंजन-वाची वर्णों को स्वरवाची बना लिया, बल्कि कुछ ऐसी ध्वनियों के लिए जो उनकी भाषा मे थी पर सामी में न थीं, नए वर्ण गढ़ लिए। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि लिपि वास्तव में ग्रीक थी और ग्रीसवासियों से फोनीशी लोगों ने अपनाया। पर यह विचार तर्क की समीक्षा पर नहीं ठहरता। यह कहना कि इन वर्णों के नाम मूल-रूप से ग्रीक निरर्थक शब्द हैं और फोनीशी लोगों ने इनको सार्थक कर लिया युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। इनकी मूल आकृति भी भावात्मक संकेतों का निर्देश करती है।

विद्वानो का बहुमत इस पक्ष में है कि ग्रीक लोगों ने लिपि फोनीशी लोगो से ली। इस फोनीशी लिपि का स्रोत क्या है ? इस सवाल के जवाब में कई वाद उपस्थित किए गए हैं। कुछ लोग इसे मिस्र देश के भावात्मक संकेतों से, कोई बेबल की कीलाक्षर लिपि से और कुछ क्रीट की **मिनोआ** लिपि से निकला हुआ मानते हैं। प्रो० पेट्री नामक एक विद्वान का मत है कि मिस्री, ग्रीक, फोनीशी, एशिया माइनरवाली और दक्खिनी सामी आदि सभी लिपियाँ भूमध्य सागर के आसपास के रहनेवाले लोगों के कुछ संकेतों से निकली हैं

जिन्हे वहाँ व्यापारी काम मे लाते थे। इस मत का पोषण अन्य विद्वानों ने नही किया। ग्रीक लिपि को सामी से सम्बद्ध मानने में सब से बडी कठिनाई यह जान पड़ती थी कि यह लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर चलती है और सामी लिपियाँ दाहिनी से बाईं। पर दक्खिनी सामी के कुछ लेख ६ठी सदी ई० पू० के प्राप्त हुए हैं। इनमे से बहुतेरे तो दाईं से बाईं ओर चलते हैं पर कुछ हल की जुताई की तरह दाईं से बाईं, बाईं से दाईं और फिर दाईं से बाईं ओर जाते हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि सामी लिपियो मे दोनो ओर चलने की प्रथा थी। सामी लिपियों के उत्तरकालीन रूपों मे दाईं से बाईं ओर जाने का मार्ग निश्चित हो गया और ग्रीक आदि मे बाईं से दाईं ओर। सामी लिपि में जेर जबर, पेश आदि स्वर-सूचक चिह्न ई० चौथी सदी से लगने शुरू हुए।

सामी जातियों ने लिपि का प्रयोग मिस्र देशवासियों से सीखा, इस मत का अब प्रायः सभी विद्वान मानने लगे हैं, और सामी से, ऊपर निर्दिष्ट अन्य जातियों ने। अनुमान है कि ई० पू० प्रथम या द्वितीय साहस्री मे कुछ सामी जातियाँ मिस्र देश के दक्खिनी भाग के निवासियो के सम्पर्क मे आईं और उन्हीं से लिपि का व्यवहार सीखा।

लिपि की अवस्थाओ का विकास, वाक्य-निर्देशक सम्पूर्ण चित्र से भावात्मक चित्र, इन चित्रों से भावात्मक संकेत मात्र, फिर इन संकेतो से उद्बोधित शब्दों के प्रथम अक्षरो से अक्षरात्मक लिपि और उससे ध्वन्यात्मक लिपि, दर्जा बदर्जा इस प्रकार मालूम होता है। उत्तरी अमरीका के मूलनिवासियों की लिपियाँ, मिस्र की और चीन की लिपियाँ तथा प्राचीन सुमेरी आदि कीलाक्षर लिपियाँ बहुत काल तक भावात्मक संकेतों की अवस्था की रही हैं। चीनी लिपि अब भी अक्षरात्मक है यद्यपि जापान वालों ने इसे अपने लिए ध्वन्यात्मक भी बना लिया है। लिपियों मे ध्वन्यात्मक लिपि ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

भारतीय लिपि-सामग्री

भारत में इधर मोहनजदाड़ो और हड़प्पा मे जो ईसवी सन् से पूर्व कई हजार वर्ष पहले की सामग्री मिली है उसमे भी कुछ लेख जहाँ-तहाँ अंकित हैं। ये ऐसी लिपि में हैं जो ब्राह्मी या खरोष्ठी से मेल नहीं खाती और उससे सर्वथा भिन्न है। विद्वानो का बहुमत इस पक्ष का है कि यह सारी सामग्री ऐसी सभ्यता की द्योतक है जिसका वैदिक आर्य सभ्यता से कोई सम्बन्ध नही।

लिपि के सम्बन्ध को सुमेरी से जोड़ने का उद्योग हुआ है। इस सामग्री के अलावा हैदराबाद रियासत के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष प्रो० यजदानी ने १६१७ मे खुदाई कराते समय प्रागैतिहासिक काल के कुछ मिट्टी के वर्तन प्राप्त किए थे जिन पर कुछ लेख अंकित हैं। इन लेखों की लिपि भी ब्राह्मी से भिन्न है।

इतिहासिक काल की सामग्री मे अशोक के शिला-लेखों के पूर्व के केवल दो छोटे-छोटे लेख मिले हैं, एक अजमेर जिले के बड़ली (वर्ली) गाँव मे और दूसरा नेपाल की तराई में पिप्रावा नाम के स्थान में। "पहला एक स्तंभ पर खुदे हुए लेख का टुकड़ा है, जिसकी पहली पंक्ति मे '*वीर (1) य भगव (त)*' और दूसरी में '*चतुरासिति व (स)*' खुदा है। इस लेख का ८४वाँ वर्ष जैनों के अन्तिम तीर्थंकर वीर (महावीर) के निर्वाण संवत् का ८४वाँ वर्ष होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई० पूर्व (५२७-८४=) ४४३ का होगा। इसकी लिपि अशोक के लेखों की लिपि से पहले की प्रतीत होती है। इसमे '*वीराय* का '*वी*' अक्षर है। उक्त '*वी*' मे जो '*ई*' की मात्रा का चिह्न है वह न तो अशोक के लेखों में और न उनसे पीछे के किसी लेख मे मिलता है, अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिए, जिसका व्यवहार अशोक के समय तक मिट गया होगा और उसके स्थान मे नया चिह्न व्यवहार मे आने लग गया होगा। दूसरे अर्थात् पिप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिल कर उस (स्तूप) मे स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव मे यह बुद्ध के निर्वाण काल अर्थात् ई० स० पूर्व ४८७ के कुछ ही पीछे का होना चाहिए। इन शिलालेखों से प्रकट है कि ई० सन् पूर्व की पाँचवी शताब्दी मे लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात न थी।" (गौ० ही० ओझा कृत प्राचीन लिपिमाला पृ० २, ३)।

भारत मे लिपिज्ञान की प्राचीनता

ओझाजी ने ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ मे भारतवर्ष मे लिखने के प्रचार की प्राचीनता के पुष्कल प्रमाण दिये हैं। बौद्ध त्रिपिटक मे जहाँ-तहाँ लिखने के उल्लेख आए हैं। ब्रह्मजालसुत्त में बच्चों के खेल *अक्खरिका* का उल्लेख है। "इस खेल मे खेलनेवालो को अपनी पीठ पर या आकाश मे (अंगुलि से) लिखा हुआ अक्षर बूझना पड़ता था।" लिखने की कला का उल्लेख अन्य सूत्र-ग्रन्थों में भी मिलता है। त्रिपिटक के अधिकाश अंश का संकलन

बुद्ध भगवान के निर्वाण के बाद ही हो गया था और यद्यपि इसमें बाद को कई बार संशोधन हुए पर सामग्री की दृष्टि से यह ई० पूर्व ५वीं सदी के इधर की चीज नहीं। 'अक्षरों' का प्रयोग बच्चों के खेल में भी होने लगा हो, यह अवस्था लिपि के आविष्कार के सैकड़ों साल बाद ही संभव है जब लिखने की कला का काफी प्रचार हो चुका हो।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में *लिपि*, *लिबि*, *ग्रन्थ* शब्दों का प्रयोग तथा *लिपिकर* और *यवनानी* शब्दों के बनाने के नियम पाए जाते हैं। *यवनानी* का अर्थ कात्यायन और पतंजलि ने 'यवनों की लिपि' किया है। पाणिनि ने स्वरित के चिह्न का भी उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी से यह भी पता चलता है कि "उस समय चौपायों के कानों पर स्रुव, स्वस्तिक आदि के और पाँच तथा आठ के अंकों के चिह्न भी बनाए जाते थे और उनके कान काटे तथा छेदे भी जाते थे।"

ऊपर भाषाविज्ञान के इतिहास का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि भारतवर्ष में ध्वनियों और पदों के उच्चारण और रचना की चर्चा ब्राह्मण-काल और उपनिषद् काल में काफी पाई जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'अक्षर' शब्द मिलता है और ईकार, ऊकार और एकार संज्ञाएँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण और मात्रा का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में ॐ अक्षर को अकार, उकार और मकार वर्णों के संयोग से बना हुआ बतलाया है। ये सभी ग्रन्थ यास्क और पाणिनि के पहले के माने जाते हैं। ऋग्वेद में गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दों के नाम मिलते हैं। अथर्ववेद में एक जगह छन्दों की संख्या ११ लिखी है और तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं में कई छन्दों और उनके पादों के अक्षरों की संख्या तक गिनाई है।

लिखना न जाननेवाला जनसमुदाय अपनी भाषा के व्याकरण का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार करले और छन्दों का भी विश्लेषण करले परन्तु बिना लिखने की कला की मदद के, यह संभव नहीं प्रतीत होता।

भारतीय आर्य अंकों का लिखना जानते थे इस बात के तो और भी जोरदार सबूत हैं। ऋग्वेद में हजार *अष्टकर्णी* गायों के दान का उल्लेख आता है। यहाँ अष्टकर्णी शब्द का यही अर्थ संभव है कि जिनके कर्ण पर आठ का अंक अंकित था। प्राचीन ग्रंथों में अयुत, प्रयुत आदि संख्याओं के नाम आए हैं जिनका ज्ञान लिखने के बिना संभव नहीं। समय के मुहूर्त,

क्षिप्र आदि सूक्ष्म विभाग को भी लेख की मदद के बिना समझ पाना असंगत ही लगता है।

श्रुति को मौखिक सम्प्रदाय से स्थिर रखने के उपाय के कारण यह समझ लेना कि लिखने की कला का अज्ञान था, ठीक नहीं। आज भी कितनी ही चीजों को याद कर रखने का चलन है, यद्यपि लिखना भी साथ साथ मालूम है। बूलर इस अनुमान को मानते हैं कि वैदिक समय में भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा की मदद के लिये काम में लाई जाती थीं। यहाँ ताड़पत्र, भोजपत्र आदि लिखने की सामग्री प्राचीन काल में ही प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में दे रक्खी थी और ई० पूर्व चौथी सदी में रुई से कागज बनाया जाने लगा था।

इस विवरण से यही एक निष्कर्ष सम्भव है कि भारतीय आर्य लोगों को लिखने की कला काफी प्राचीनकाल से मालूम थी। यदि ऋग्वेद के अन्तिम मंडल के सूक्तों को ई० पू० १२०० का भी मान लिया जाय तो उस समय भी यह कला भारतीयों को ज्ञात थी।

खरोष्ठी की उत्पत्ति

भारतवर्ष की प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। अशोक के शहबाजगढ़ी और मनसेहरा वाले लेख खरोष्ठी में हैं। अशोक से पूर्व का इस लिपि का कोई लेख नहीं मिलता। अशोक के पूर्व इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्कों पर मिलता है जो ई० पू० चौथी सदी के माने जाते हैं। अशोक के पीछे भारत में यह लिपि बहुधा विदेशी राजाओं के ही सिक्कों और शिलालेखों में पाई गई है। इस लिपि के लेख ब्राह्मी के लेखों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। प्रायः ये सभी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में ही पाए गए हैं, शेष भाग में ब्राह्मी के लेख हैं। खरोष्ठी दाईं से बाईं ओर को चलती है। इसके ११ अक्षर (क, ज, द, न, ब, य, र, व, प, स, ह,) समान उच्चारणवाले अरमइक अक्षरों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं। अनुमान है कि "ईरानियों के राज्यत्वकाल में उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो।" अरमइक में केवल २२ अक्षर थे। स्वरों की अपूर्णता थी और ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के भेद का अभाव। भारतीय भाषाओं की जरूरत के अनुसार यहाँ उसमें आवश्यक संशोधन और परिवर्धन कर लिये गए और वह राजकीय और व्यापारी काम-काज की लिपि बना ली

गई। इस संशोधन के कर्ता शायद कोई खरोष्ठ नाम के आचार्य रहे हों। यह भी संभव है कि तक्षशिला में इसका प्रादुर्भाव हुआ हो। इस लिपि का प्रचार पंजाब में तीसरी सदी ई० तक थोड़ा बहुत बना रहा। तब से यह वहाँ से सदा के लिये चल बसी।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

इस लिपि के लेख इस देश में पाँचवीं सदी ई० पू० से मिलते हैं। भारत में यही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही है। जैनों के पन्नवणासूत्र में और समवायंगसूत्र में १८ लिपियों (बंभी, जवणालिया, दोसापुरिया, खरोट्ठी आदि) के नाम मिलते हैं। ललित विस्तर में ६४ लिपियों के नाम आये हैं, जिनमें प्रथम ब्राह्मी और द्वितीय खरोष्ठी है। शुद्धता और संपूर्णता की दृष्टि से ब्राह्मी और खरोष्ठी में आकाश-पाताल का अन्तर है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के मत दो विभिन्न धाराओं में बहे हैं, एक पक्ष विदेशी उत्पत्ति को प्रश्रय देता है, दूसरा इसको भारत की ही उपज मानता है। विदेशी उत्पत्ति माननेवाले विद्वानों में बहुत मतभेद है।

(क) विल्सन, प्रिंसेप, ऑफ्रेड मूलर, सेनार्ट आदि ने ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक लिपि या फ़ोनीशी लिपि से मानी थी। सेनार्ट का अनुमान था कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों ने ग्रीकों से लिखना सीखा। कस्ट का कहना है कि एशिया के पश्चिम भाग में रहनेवाले फोनीशी व्यापारियों का भारत से वाणिज्य सम्बन्ध था, उन्हीं से भारतीयों ने लिपिज्ञान प्राप्त किया होगा।

(ख) डीके का विचार है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति असीरी कीलाक्षरों से किसी दक्खिनी सामी लिपि के द्वारा हुई है। कुपेरी नाम के एक फ्रेंच विद्वान का अनुमान था कि भारतीय लिपि चीनी लिपि से निकली होगी। परन्तु असीरी या चीनी लिपि को ब्राह्मी का उद्गम मानने के पक्ष में अब कोई विद्वान नहीं है।

(ग) विलियम जोंस, वेबर, टेलर, बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी के किसी न किसी (उत्तरी, दक्खिनी) रूप से बतलाई है। उत्तरी सामी लिपि के अरमी रूप का सम्बन्ध ईरान से हो गया था, इसको सभी मानते हैं। उसी ओर से यह भारत भी पहुँची होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। बूलर उत्तरी सीमा से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। उन्हीं के मत को अब विदेशी उद्गम माननेवाले विद्वान अधिक श्रेय देते हैं।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति सभी लोग विदेशी स्रोत से, तो भी उत्तरी सामी से, समझते हैं। उसी से ब्राह्मी लिपि भी निकली हो जो खरोष्ठी से सर्वथा भिन्न है, और सो भी क़रीब-क़रीब एक ही समय में, यह बात गले नहीं उतरती। खरोष्ठी के वर्ण अधिकतर लम्बी और तिर्छी लकीरों के हैं, विकार की स्थूलता ऊपर के भाग में पाई जाती है, नीचे के भाग में केवल दो वर्णों में। उनमें गोलाकार कोई रूप नहीं है। वर्णों की आकृति और क़द नियमबद्ध से नहीं हैं। ये वर्ण दाईं से बाईं ओर चलते हैं। ब्राह्मी में नियमित लकीरें और गोल आकार हैं। इनमें विकार नीचे के भाग में पाया जाता है, ऊपर के में कम। वर्णों की आकृति सुन्दर और सुगठित है। स्वर-चिह्न बहुधा ऊपर की ओर बेड़ी पाई से सूचित किए गए हैं। यह बाईं से दाईं ओर चलती है। दोनों में समानता का केवल एक लक्षण है, दो व्यंजनों के बीच के स्वर की स्थिति। पर यह समानता स्पष्ट ही खरोष्ठी में ब्राह्मी की नक़ल है। खरोष्ठी को लेखकों और व्यापारियों की लिपि और ब्राह्मी को सुशिक्षित समाज की लिपि बतला कर विभिन्नता का समाधान नहीं हो पाता। एक ही जनसमुदाय एक ही स्रोत से लेकर, लिपि के रूपों में इतने मौलिक भेद नहीं करता। प्रत्येक अक्षर में एक की दूसरे से कुछ तो समानता रहती।

सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति खोजते समय बूलर ने मनमानी अटकल लगाई है। कहा है कि भारतीयों ने कितने ही वर्णों को उलट दिया जिससे ऊपर का हिस्सा नीचे हो गया, कितनों में कोने निकाल दिए हैं और रुख बदलने से बहुतों की आकृति बदल गई। इस प्रकार की असंगत कल्पना करके तो कोई भी लिपि किसी अन्य लिपि से निकाली जा सकती है। सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समान ध्वनि के लिए समान संकेत होने चाहिए। खरोष्ठी के सामी से उधार लिए हुए २२ अक्षरों में से आठ (च, द, न, प, ब, र, व, श) उसी की तरह हैं, नौ (क, ख, ग, ज, म, य, ल, ष, ह) कुछ न कुछ मिलते-जुलते हैं, और किन्हीं अविद्यमान रूपों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। ब्राह्मी के वर्णों में से केवल एक (ग) की कुछ समानता है, पाँच (अ, त, थ, ल, श) वर्णों में बहुत खींचतान करने से कुछ समानता झलक सकती है, और शेष बिल्कुल भिन्न हैं। खरोष्ठी के स्वर एक ही सामी अक्षर (अलिफ) पर निर्भर हैं। पर ब्राह्मी में अलग-अलग संकेतों से ही स्वरों का बोध कराया गया है। ध्वनियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन कर लेनेवाला आर्य ब्राह्मण इस प्रकार अपनी लिपि में स्वर और व्यंजन का भेद न दिखा

सकता और अधपढ़ा खरोष्ठी व्यापारी या लेखक इस ध्वनिविज्ञान के सिद्धान्त को अपनी लिपि में समाविष्ट कर लेता, यह तर्क उपहासास्पद ही हो सकता है।

टेलर दक्खिनी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। वह ब्राह्मी व को सामी य से, घ को सामी ख से, ज को ष से, छ को क से निकला हुआ कहते हैं। इस प्रकार तो टेलर की निज भाषा की लिपि को देवनागरी से निकाला जा सकता है, और शायद कुछ अधिक सफल तर्कों के द्वारा!

असल बात तो यह है कि ब्राह्मी लिपि "भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो" और चाहे ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया हो। इस देश में इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता। सिकन्दर के समय से ग्रीक, चीनी, अरबी आदि कितने ही विदेशी यात्री आए, किसी ने यह न कहा कि यहाँ की लिपि विदेशी है। ब्राह्मी के इस देश को उपज होने के पक्ष में एडवर्ड टामस, डासन और कनिंघम का मत है। इस पक्ष के समर्थन का पथप्रदर्शन श्रद्धेय मनीषी गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने किया था। डा० तारापुरवाला का विचार है कि ब्राह्मी लिपि का आदि रूप हैदराबाद में पाए गए प्रागैतिहासिक काल के बर्तनो पर के सकेतों को समझना चाहिए। वह पेट्री के इस मत का कि मिस्र, ग्रीस और अरब आदि की लिपियाँ पूर्ववर्ती व्यापारी सकेतों से निकली हैं, चित्रलिपि आदि से नहीं, समर्थन करते हैं और समझते हैं कि उसी प्रकार ब्राह्मी लिपि भी स्वतंत्र भारतीय सकेतों से विकसित हुई है। पर दोनों मे इतना कम साम्य है कि ब्राह्मी को हैदराबाद के सकेत-चिह्नों से निकालना क्लिष्ट कल्पना ही होगी। जब तक ब्राह्मी लिपि से मिलते जुलते ई० पूर्व पाँचवीं सदी से पहले के कोई लेख न मिलें तब तक ब्राह्मी के पूर्वरूप के बारे मे कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चय है कि वह किसी भी ज्ञात विदेशी लिपि से नहीं निकली।

पिप्रावा, बड़ली और अशोक की लिपि में परस्पर कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है परन्तु अशोक के समय के बहुत पीछेवाले भट्टिप्रोलु के स्तूप के लेखो की लिपि मे पिप्रावा, बडली, अशोक की लिपि से बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है।

इससे अनुमान होता है कि यह दक्षिण की लिपि उत्तर के लेखों की लिपि से नहीं निकली और उत्तरी तथा दक्खिनी दो लिपिभेद किसी पूर्ववर्ती ब्राह्मी लिपि के परकालीन रूप हैं। सभव है कि यह दक्खिनी लिपि वही हो जिसका नाम ललितविस्तार में द्राविड़ लिपि आया है। भट्टिप्रोलु का स्तूप मद्रास प्रान्त के कृष्णा जिला में पाया गया है। जैनसूत्रों और ललितविस्तार मे उल्लिखित अन्य लिपियों के लेख अभी तक नही मिले, इसलिए उनके बारे म कुछ नही कहा जा सकता।

ई० पू० ५०० के निकट से ई० ३५० तक के लेखों को सामान्य नाम ब्राह्मी दिया जाता है। इसके बाद ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रवाह दिखाई देते हैं, उत्तरी और दक्खिनी। उत्तरी शैली का प्रचार प्रायः विन्ध्यपर्वत के उत्तर मे और दक्खिनी का उसके दक्खिन में रहा है। उत्तरी की नीचे लिखी लिपियाँ हैं।

१. **गुप्त** लिपि—इसका प्रचार ई० चौथी पाँचवीं सदी मे रहा। गुप्त-वंशी राजाओं के लेख इसी में हैं, इसलिए इसका यह नाम रक्खा गया है।

२. **कुटिल** लिपि—यह गुप्त लिपि से निकली और इसका प्रचार छठी से नवीं सदी ई० तक रहा। इसके अक्षरों और विशेषकर स्वरों की मात्राओं की कुटिल आकृति के कारण इसको यह नाम दिया गया है।

३. **नागरी**—उत्तर में इसका प्रचार ई० नवीं सदी के आस-पास से मिलता है पर दक्खिन मे आठवीं सदी से ही आरभ हो कर १६ वीं सदी के पिछले भाग तक मिलता है। प्राचीन नागरी का पूर्वी शाखा से बँगला लिपि निकली। नागरी से ही कैथी, महाजनी, राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ भी निकली हैं। दक्खिन में इसको नदिनागरी कहते हैं।

४. **शारदा**—इस लिपि का प्रचार भारत के उत्तर-पच्छिमी भाग (पजाब कश्मीर) मे रहा। ८वीं सदी तक वहाँ कुटिल लिपि का प्रचार था। बाद को उसी से शारदा बनी। शारदा का सब से पुराना लेख १०वीं सदी ई० का समझा जाता है। इसी लिपि से वर्तमान कश्मीरी और टाकरी लिपियों की उत्पत्ति हुई और गुरुमुखी के अधिकतर अक्षर भी इसी से निकले हैं।

५. **बँगला**—इसका विकास नागरी लिपि से १० वीं सदी ई० के आस-पास हुआ। इससे नैपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली, और उड़िया लिपियाँ निकली हैं।

उत्तरी के अतिरिक्त ब्राह्मी के अन्य रूप निम्नलिखित हैं।

१ पश्चिमी—यह लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, हैदराबाद, कोंकण, मैसूर आदि के लेखों में ५वीं से ६वीं सदी तक मिलती है। पाँचवी सदी के आस-पास इसका कुछ-कुछ प्रवेश राजपूताना और मध्य भारत में भी पाया गया है। पच्छिमी प्रदेश में मिलने के कारण ही इसका यह नाम रक्खा गया है।

२. मध्यप्रदेशी—यह लिपि मध्यप्रदेश हैदराबाद के उत्तरी भाग, और बुंदेलखंड मे, ५वीं से लेकर ८वीं सदी ई० तक मिलती है। इस लिपि के अक्षरों के सिर चौखूॅटे या संदूक की आकृति के होते हैं जो भीतर से बहुधा खाली पर कभी-कभी भरे हुए हैं।

३. तेलगू-कन्नड़ी—यह लिपि बंबई प्रान्त के दक्खिनी भाग में, हैदराबाद राज्य के दक्खिनी हिस्से में, मैसूर में तथा मद्रास प्रान्त के उत्तर-पूर्वी हिस्से मे ५वी सदी ई० से मिलती है। १४वीं सदी तक इसके कई रूपान्तर हुए। इसी से वर्तमान तेलगू और कन्नड़ी लिपियाॅ निकलीं, इससे यह नाम पडा।

४. ग्रन्थलिपि—यह लिपि मद्रास मे पाई गई। ७वी से १५वी सदी तक कई रूपान्तर होते होते इससे वर्तमान ग्रथलिपि बनी और उससे वर्तमान मलयालम् और तुळु लिपियाँ निकलीं। मद्रास के जिन हिस्सों में तामिल लिपि का प्रचार है, वहाॅ भी सस्कृत के ग्रथ इसी मे लिखे जाते हैं, इसी से शायद इसका यह नाम पडा।

५. कलिंगलिपि—इसके लेख ७वी से ११वी सदी तक मिलते हैं। प्राचीन लेख मध्यप्रदेशी लिपि से और पिछले नागरी, तेलगू कन्नडी और ग्रथलिपि से मिलते हैं।

६. तामिललिपि—७वीं सदी से बराबर आज तक तामिल ग्रन्थ इसी लिपि में मिलते हैं। इसके अक्षर अधिकतर ग्रन्थलिपि से मिलते-जुलते हैं। वर्तमान तामिललिपि इसी से विकसित हुई है। तामिल का ही घसीट का एक रूप बट्टेळुत्तु है। इसका १४वीं सदी तक प्रचार रहा।

नागरीलिपि

नागरी लिपि की प्रभुता भारतवर्ष मे ८वी सदी से इधर बराबर रही है। इस उत्तरी लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग दक्खिन में मिला यही इसका प्रमाण है। आज सस्कृत के ग्रन्थों को लिखने और छापने के लिये सर्वत्र और मराठी तथा हिन्दी भाषाओं के लिये सर्वथा इसी का व्यवहार होता है। नेपाल की यही

राजलिपि है। मिथिला और बगाल मे भी इसका आदर है। भारत की यही राष्ट्रलिपि है।

नागरी लिपि में बराबर विकास होता रहा है। १०वीं सदी की लिपि में "अ, आ, घ, प, म, य, ष, स के सिर दो हिस्सों में विभक्त मिलते हैं, पर ११वीं सदी से ये दोनों अश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते हैं और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है।" ११वी सदी की नागरी, वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२वीं सदी से वर्तमान रूप स्थिर सा मिलता है, केवल इ और ध की आकृति में पुरानापन नजर आता है और ए, ऐ, ओ, औ की मात्राओं में कुछ अन्तर पाया जाता है। पिछले सौ साल में छापे की सुविधा ने सयुक्त व्यंजनों के ऊपर नीचे के सम्मिलित रूपों (च्च, क्क, क्व आदि) को हटाकर (च्च, क्क, क्व आदि) आगे-पीछे लिखे हुए रूपों को प्रश्रय दिया है।

वर्तमान नागरी लिपि में वर्णों का अंकन ध्वनियों के क्रम से होता है, केवल इ की मात्रा (ि) और रेफ(र्‍) अपवाद हैं। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ) वर्णों के नीचे और ए,ऐ, ओ, औ की (े, ै, ो, ौ) मात्राएँ वर्णों के ऊपर लिखी जाती हैं। जिन व्यञ्जनों (ङ,छ,ट, ठ, ड, ढ, द, ह,) मे खड़ी पाई स्पष्ट अन्तिम अश नहीं है, उनमें सयुक्त व्यञ्जनों को ऊपर नीचे लिखने का क्रम अब भी जारी है। रकार के तीन रूप (र, र्‍, ्र) मिलते हैं। ख का कभी कभी र व से विभ्रम हो जाता है। ह्रस्व ऍ, ऑ के लिए व्यतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नहीं हैं। इन त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और इन्हें दूर करने का उद्योग किया जा रहा है।

नागरी नाम की व्युत्पत्ति का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। इसका नागर ब्राह्मणों या नागर अपभ्रंश से सबध होना सन्दिग्ध ही है। दक्खिन मे इसे नन्दिनागरी कहते थे,इससे नन्दिनगर नाम की किसी राजधानी का आभास मिलता है। शाम शास्त्री ने एक "लेख में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी जो कोई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए मन्त्र के, जो 'देवनगर' कहलाता था, मध्य मे लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ"। कह नहीं सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है।

उर्दू और रोमन

ब्राह्मी लिपि से विकसित लिपियों के अलावा, हमारे देश मे उर्दू और रोमन लिपियाँ भी वर्तमान हैं और दोनों दो विभिन्न राज-सत्ताओं की सूचक हैं। उर्दू लिपि अरबी के फारसी रूपान्तर में आवश्यक भारतीय ध्वनियों के लिये सकेतों का समावेश करके बनी है। इसमें दो गुण हैं, द्रुतगति और दाई से बाई ओर चलना। इसलिए लिखने मे सहूलियत होती है। पर इसमे पूर्व लिखित अश के आँखों से छिप जाने की भी सभावना रहती है। द्रुतगति के कारण स्पष्टता मे बहुत कमी आ जाती है और कभी-कभी कुछ का कुछ पढ लिया जाता है। इन दो कथित गुणों के होने पर भी उर्दू लिपि में कई दोष हैं। स्वरो को अकित करने का कोई साधन नहीं। यदि जेर, जबर, पेश के चिह्न लगावें तब भी भारतीय भाषाओं के सभी स्वर अकित नहीं हो पाते और विभ्रम रह जाता है। अच्छी लिपि मे एक ध्वनि को अकित करने के लिए एक ही संकेत होना चाहिए। उर्दू में एक-एक ध्वनि के लिए तीन-तीन-चार-चार वर्ण हैं (स के लिए से, स्वाद और सीन, त के लिए ते तोय, ह के लिए छोटी हे और बड़ी हे, ज के लिए जाल, जे, ज्वाद, जोय)। इन वर्णों के प्रतिरूप अरबी भाषा मे ध्वनियाँ अलग-अलग हैं, परन्तु उर्दू मे नहीं। इन अपूर्णताओं के रहते, उर्दू नागरी के मुकाबिले मे नहीं ठहर सकती। इस लिपि का व्यवहार अब सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रदेश, पजाब और सयुक्तप्रान्त के पच्छिमी भाग मे विशेष है, अन्यत्र पिछली सदी की फारसी सस्कृति से आक्रान्त कतिपय मनुष्यों मे ही यह सीमित है। भारत में यह घट रहा है।

रोमन विगत राजतत्र की राजलिपि थी और अभी चल रही है। इसका विशेषगुण इसकी ध्वन्यात्मकता है (देवनागरी आदि लिपियाँ अक्षरात्मक हैं)। भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए सुनीतिकुमार चटर्जी ने इडो-रोमन नाम का, रोमन का ही एक सशोधित रूप उपस्थित किया है। पर इसके भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने की कोई सभावना नहीं जान पड़ती। भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी है। रोमन अथवा उर्दू रियायत के तौर पर थोड़े दिन और भले ही चला ली जाय।

दूसरा खण्ड

इक्कीसवां अध्याय

विविध भाषापरिवार

वर्णन की सुविधा के लिए ससार की भाषाओं को चार चक्रों मे बॉटा जाता है —(क) उत्तरी और दक्खिनी अमरीका, (ख) प्रशात महासागर के द्वीप, (ग) अफ्रीका और (घ) यूरोप-एशिया। इस अध्याय में पहले तीन चक्रों की भाषाओं का विवेचन किया जायगा।

अमरीका चक्र

इस चक्र के अतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्खिनी और मध्य) भागों के मूल निवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ आती हैं। ईस्वी १५ वीं सदी के अत में यूरोप से एक जहाज भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर यहाँ पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूलनिवासियो का नाम 'इडियन' पड़ गया। अनुमान है कि कोलम्बस के समय समस्त मूलनिवासियों की संख्या चार-पॉच करोड रही होगी, जो अब घटते घटते डेढ करोड़ रह गई है। यूरोपीय साम्राज्य का यही प्रभाव प्रशान्त महासागर के द्वीपों के और अफ्रीका के मूल-निवासियों पर भी पड़ता रहा है। इन लोगों में लिखने का कोई रवाज नहीं था। विशेष घटनाओं की याद, रंग बिरगी रस्सियों में गॉठे बॉधकर रक्खी जाती थी। पत्थरो, घोंघों पर तथा चमड़े आदि पर भी कुछ भॉति भॉति के चित्र और निशान बने मिलते हैं पर इनका कोई अर्थ नहीं निकलता। और जो निकलता भी होगा उसे मूलनिवासी बताते नही। तथापि नहुअत्ल और मय भाषाओं में अब लिपि मिलती है। मय भाषा की पुस्तको मे बहुधा साथ ही साथ स्पेनी भाषा में अनुवाद भी मिलता है।

तुलनात्मक व्याकरण के, और बहुधा अन्य व्योरेवार ग्रन्थों के अभाव मे इन भाषाओं के विषय में विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता। इनमे कितक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन मूलनिवासियों की जातिया इधर उधर आती जाती रही हैं और एक दूसरी पर आधिपत्य पाती रही हैं। इसीलिए भाषा-संबधी सामान्य लक्षणों के साथ साथ

विशेषताओं का बड़ा भारी घालमेल मिलता है। कभी कभी कोई कोई बोली इतनी जालिम साबित हुई है कि उसने जीती हुई जातियों की बोलियों को बर्बाद ही कर दिया है। कोलम्बस के आगमन के पहले, दक्खिनी अमरीका में इका नाम के साम्राज्य की राजभाषा कुइचुआ थी। स्पेनी विजेताओं ने इसी को मूल निवासियों के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया। इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र मे होने के कारण, गुअर्नी तुपी का भी प्रयोग ईसाई पादरियों ने धर्म-प्रचार के लिए किया। परस्पर जय-पराजय के प्रभाव-स्वरूप ही करीब और अरोवक भाषाओं की स्थिति है जिसका उल्लेख ऊपर (पृ० १२३ पर) किया जा चुका है। अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुषवर्ग को या तो बीन बीन कर मार डाला या दूर भगा दिया। स्त्रियों को रख लिया। ये बराबर अरोवक ही बोलती रहीं। बाद की पीढ़ियाँ भी इसी प्रकार दोनों भाषाएँ अब तक बोलती चली आ रही हैं और पुरुषवर्ग की **करीब** पर ही स्त्रीवर्ग की **अरोवक** का प्रभाव पड़ता दिखाई देता है।

इन भाषाओं के बारे में अभी विशेष अनुसंधान नहीं हो पाया है तब भी इनको कई परिवारों में बाँट सकते हैं। अनुमान है कि इन परिवारों की संख्या सौ सवा सौ के क़रीब है। प्रायः इन सभी भाषाओं में एक सामान्य लक्षण प्रश्लिष्ट योगात्मक के रूप मे पाया जाता है। इनमें बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लम्बे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत की तरह विभिन्न पदों को जोड़कर यह समास के रूप में नहीं होता बल्कि हर पद का एक २ प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर, सब को एक साथ मिला देते हैं। चेरोकी भाषा के पद *नधोलिनिन्* (हमारे लिए डोंगी लाओ) में इसी प्रकार तीन शब्द *नतेन्* (लाओ), *अमोखोल्* (नाव, डोंगी), और *निन्* (हम को) मिले हुए हैं। कभी कभी इस प्रकार एक दर्जन शब्द तक एक पद के रूप मे उपस्थित पाए जाते हैं और उन सभी शब्दों का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप में श्रोता को मालूम हो जाता है। स्वतंत्र शब्दों का प्रयोग इन भाषाओं में बहुत कम है।

इस चक्र की सभी भाषाएँ जंगली नहीं हैं। इन जातियों में से किसी किसी ने साम्राज्य स्थापित किए। मेक्सिको के साम्राज्य का अंत सोलहवीं सदी में यूरोप वालों ने पहुँच कर किया। वहाँ की **मय** और नहुअत्ल भाषाएँ संस्कार की हुई सी हैं और उनमें साहित्य भी मिलता है।

इस चक्र की भाषाओं का वर्गीकरण प्रायः भूगोलिक आधार पर किया जाता है जो चाहे बिल्कुल यथातथ न हो तब भी सुविधा का है।

	देश नाम	भाषा नाम
उत्तरी अमरीका	ग्रीनलैंड	एस्किमो
	कनाडा	अथबस्की (समूह)
	संयुक्त राज्य	अल्गोनकी (आदि)
	मेक्सिको	नहुअत्ल (प्राचीन) अजतेक् (वर्तमान) समय
	युकतन	
दक्खिनी अमरीका	उत्तरी प्रदेश	करीब, अरोवक
	मध्य प्रदेश	गुअर्नी। तुपी
	पच्छिमी प्रदेश (पेरु और चिली)	अरौकन, कुइचुआ
	दक्खिनी प्रदेश	चको, तियरा देल् फूगो

इसमे से तियरा देल फूगो भाषा और उसके बोलने वाले लोग दोनों, संसार में सब से अधिक सस्कृति-हीन माने जाते हैं। एस्किमो के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है।

प्रशांत महासागर चक्र

इस चक्र की भाषाएँ प्रशान्त महा सागर और हिन्द महासागर के समस्त द्वीपों मे, अफ्रीका के दक्खिन-पूरब में स्थित मडगैस्कर द्वीप से लेकर चाइल के पच्छिम में स्थित ईस्टर द्वीप तक फैली हुई हैं। इनके अतर्गत भाषा-समूहो के नाम बहुधा भूगोलिक नामों पर रक्खे गए हैं। इन सभी समूहों की पदरचना और वाक्यरचना मे विचित्र समानता मिलती है और ध्वनि-विभिन्नता भी ऐसी है जिससे भाषा की समानता में कोई बाधा नहीं पड़ती। धातुएँ प्रायः द्वयक्षर होती हैं, बलाघात प्रायः इनमें से प्रथम अक्षर पर दिया जाता है। अनुमान किया जाता है कि द्वयक्षर धातु किसी समय एकाक्षर रही होगी। क्रिया में उपसर्ग, प्रत्यय और मध्यविन्यस्त प्रत्यय मिलते हैं। संज्ञा में न लिंगभेद होता है और न उसके रूप ही चलते हैं।

प्रशान्त महासागर द्वीप-चक्र मे बहुत सी भाषाएँ हैं और उनके अन्तर्गत सैकड़ों बोलियाँ हैं। इनमे से बहुत कम साहित्यिक हैं, केवल मलाया (सुमात्रा, जावा) की भाषा में कुछ साहित्य है। प्रायः ये सभी भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट

आकृति की हैं, जो नहीं हैं और अयोगात्मक अवस्था को पहुँच गई है उनकी भी पूर्व अवस्था के योगात्मक होने के प्रमाण मौजूद हैं। सारे चक्र की भाषाओं को पाँच परिवारों मे विभाजित किया गया है—(१) मलायाई या इंडोनेशियाई परिवार, (२) मलेनेशियाई परिवार, (३) पॉलीनेशियाई परिवार (४) पापुआई परिवार, (५) आस्ट्रेलियाई परिवार। इनमें से पहले तीन बड़े परिवार हैं और ब की दो छोटे। पहले तीन को कभी-कभी एक बृहत्तर परिवार मलाया-पॉलीनेशियाई नाम से, माना जाता है और कभी कभी पाँचों को यही मलाया-पॉलीनेशियाई नाम या आस्ट्रोनेशियाई नाम दिया जाता है। इन पाँचों का स्रोत एक ही है। पहले तीन, आकृति के हिसाब से तीन विभिन्न अवस्थाओं में हैं। मलाया भाषाएँ उपसर्ग और प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था मे हैं। संज्ञा की विभक्तियाँ उपसर्ग जोड़कर बनती हैं। धातु के बीच मे भी प्रत्यय जोड़ा जाता है। धातु प्रायः दो अक्षरों की होती है और उसमें एक या अनेक प्रत्यय बीच मे जोड़े जा सकते हैं। फिलिप्पाइन द्वीप में बोली जाने वाली टगल भाषा मे *सुलत्* का अर्थ है *लिखना*। इसी धातु से *सुनुलत्* (तुमन्त रूप—लिखना) *सुंगमुलत्* (लिखा) और *सिनुलतन्* (लिखा गया) शब्द बीच मे एक या अनेक प्रत्यय जोड़कर बने हैं। मलेनेशियाई भाषाओं में योगात्मक अवस्था का ह्रास और वियोगात्मक की वृद्धि स्पष्ट दिखाई देती है। इनमे कुछ मे उपसर्ग जुड़ते हैं और क्रियाओं के अन्त में सर्वनाम जोड़कर क्रियापद बनते हैं, पर अधिकाश में स्वतन्त्र शब्दों से भाषा का काम चलता है। पॉलीनेशियाई भाषाओं को तो योगात्मक कहना अनुचित ही होगा क्योंकि ये प्रायः सम्पूर्णरूप से वियोगात्मक अवस्था को पहुँच चुकी हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मलाया से पॉलीनेशिया तक पहुँचने में, बीच की पापुआई भाषाओं के प्रभाव के कारण ही अयोगात्मक अवस्था हो गई है।

इन तीनों परिवारों का एक समान लक्षण अभ्यास है। उदाहरण के लिए मलायाई भाषा मे रज (राजा), रजरज (बहुत से राजा), पॉलीनेशिया की माओरी भाषा में हैरे (जाना), हैरे हैरे (ऊपर नीचे चलना), हवाई की भाषा मे हुलि (ढूँढना) और हुलिहुलि (अच्छी तरह ढूँढना)। तीनों परिवारों का शब्दसमूह भी परस्पर सम्बद्ध है।

मलाया (इंडोनेशियाई) परिवार की भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या पाँच करोड़ से ऊपर है। इनमे से **मलाया** (मलाया और सुमात्रा मे), जावी भाषा

(जावा के तीन चौथाई अर्थात् प्रायः दो करोड़ लोगों की भाषा), **सुन्दियन** (जावा के बाकी एक चौथाई कोई पौन करोड़ लोगों की भाषा), **दयक** (बोर्नियो की), **टगल** (फिलिप्पाइन की,) **फ़ारमोसी** (फारमोसा की) तथा **मलगसी** (जिसे **होवा** भी कहते हैं, मडगैस्कर की) मुख्य हैं। सुमात्रा और मडगैस्कर में ३००० मील से भी ज्यादा का फासला है, तब भी इन दोनों की भाषाएँ समान और एक ही परिवार की हैं, यह बड़े अचरज की बात है। न मालूम कितने हजार बरसों का इतिहास इनकी पृष्ठभूमि मे है।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीप किसी समय भारत के उपनिवेश थे और इनमें संस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। यहाँ के नगरों, व्यक्तियों आदि के नाम बहुधा संस्कृत के आश्रय पर बने मिलते हैं। **कवि** का वास्तविक अर्थ है 'कवियों की भाषा'। इस सारे प्रदेश में भाषा के दो रूप पाए जाते हैं—एक साहित्यिक, राजकीय और उच्चवर्ग का, दूसरा नीचे के वर्ग का। जावा की उच्चवर्गीय भाषा का नाम **क्रोमो** और निम्न वर्गवाली का **न्गोको** है (देखिये पृ० १२४)। कवि साहित्यिक भाषा है जिसके ई० ८०० तक के पुराने लेख मिलते हैं, यह अब प्राचीन रूप में ही मिलती है। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इडोनेशियाई भाषाओं में व्यजनों की स्थिरता वर्तमान है। संस्कृत, अरबी, पुर्तगाली, डच, फ़ारसी, द्राविड़ और चीनी आदि भाषाओं के शब्द इन भाषाओं में पाए जाते हैं और दो दो भाषाओं के शब्दों का अजीब घालमेल है जैसे *शपथ-मंगमंग* (शाप), *जवाहर-मनिकम* (रत्न)। सुमात्रा, जावा, बाली में सर्वत्र और जावा मे विशेष रूप से सैकड़ों व्यक्तियो के और बीसियों स्थानों के नाम सस्कृत से बने हुए मिलते हैं—*सोएरकर्त* (सूर्यकृत), *जोग्यकर्त* (अयोध्याकृत), *ब्रोमो* (ब्रह्मा), *वोनोसोवो* (वनसभा), *विरपोएस्तक* (वीरपुस्तक), *बोएदिदर्म* (बुद्धिधर्म), *जसविदग्द* (यशोविदग्ध) *सोकर्नो* (सुकर्ण)। गिनती में दशम नियम है। समभिहार के लिए कभी कभी शब्द का कई बार अभ्यास कर दिया जाता है, जैसे—*इगि* (बहुत) से *इगि-इगि-इगि-इगि* (बहुत बहुत अधिक)। लिपियाँ भारतीय (देवनागरी), अरबी और रोमन ही प्रयोग में आती हैं।

मलेनेशियाई परिवार की भाषाएँ प्रशान्त महासागर के फीजी आदि छोटे-छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं। इस परिवार की कुछ भाषाओं मे एक वचन के अलावा द्विवचन और त्रिवचन भी हैं। इनमें फीजी की भाषा मुख्य है और इसकी गठन मलाया भाषा से बहुत मिलती है। गिनती किसी द्वीप

मे चार पर, कहीं दस पर और कही कही बीस पर निर्भर है। लायल्टी द्वीप मे 'बीस' और 'मनुष्य' का द्योतक एक ही शब्द होता है क्योकि मनुष्य के हाथ पैरों मे मिलाकर बीस उगलियाँ होती हैं। सर्वनाम का वाच्य पुरुष को समाविष्ट करने वाला एक रूप और व्यतिरिक्त वाला दूसरा रूप होता है।

पॉलीनेशियाई भाषापरिवार मे **माओरी** (न्यूजीलैंड की), **टोगी, समोअई** तथा **हवाई** (हवाई द्वीप की) प्रधान हैं । दूसरों की अपेक्षा इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले लोग अधिक सभ्य हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इन भाषाओं का महत्त्व है। पॉलीनेशियाई भाषाएँ मलेनेशिया के पूरब और दक्खिन मे पाई जाती हैं। समोआ कुक, न्यूजीलैंड, हवाई आदि द्वीपों की भाषाएँ इसी परिवार के अन्तर्गत हैं। पॉलीनेशी परिवार का इंडोनेशी (मलाया) परिवार से घनिष्ठ सबध है, पर पॉलीनेशी में प्रायः व्यंजनो का लोप पाया जाता है, जैसे, मलाया का अकर् (जड), न्यूजीलैंड की माओरी भाषा मे अक और हवाई मे अअ पाया जाता है। इस परिवार मे सयुक्त (मिश्र) स्वरो तथा सयुक्त व्यजनों का नितान्त अभाव है। गिनती दशम नियम की है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते हैं। सर्वनाम के भी मलेनेशिया की तरह दो रूप होते हैं। पॉलीनेशिया की जनसंख्या निरन्तर कम होती जा रही है।

पापुआई परिवार की भाषाएँ मलाया और पॉलीनेशिया के बीच के न्यूगिनी आदि छोटे-छोटे द्वीपो की हैं और अधिकतर योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं। उपसर्ग और प्रत्यय जुड़ते हैं। उदाहरण के लिए न्यूगिनी की मफोर भाषा मे ज-म्नफ (मैं सुनता हू), *व-म्नफ* (तू सुनता है), इ-म्नफ (वह सुनता है), *सि-म्नफ* (वे सुनते हैं), *ज-म्नफ़उ* (मै तेरी बात सुनता हूँ), *सि-म्नफ़ि* (वे उसकी बात सुनते हैं)।

आस्ट्रेलियाई परिवार की भाषाएँ आस्ट्रेलिया के सभी प्रदेशों में मूल निवासियों द्वारा बोली जाती हैं और एक ही स्रोत से निकली हैं। ये अंत मे प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं इस कारण कुछ लोग इन्हे द्राविड़ भाषाओं से सबद्ध समझते थे। इस परिवार की **टस्मेनिया** भाषा अब समाप्त हो चुकी। और भाषाएँ भी जगली जातियो की हैं। यूरोपीय उपनिवेशों के कारण इन मूल निवासियो का जीवन सकटमय है और पशु-पक्षियों की तरह ये दिन प्रति दिन मौत के गड्ढे मे गिरकर विलुप्त होते जाते

हैं। सारे आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जन संख्या अस्सी लाख है इसमें ये मूल निवासी केवल पचास साठ हजार रह गए हैं!

अफ्रीका चक्र

इस महाद्वीप में बुशमैन (गुल्म निवासी) परिवार, बान्टू परिवार, सुडान परिवार तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं।

अमरीका चक्र की भाषाओं की अपेक्षा अफ्रीका चक्र के मूलनिवासियों की भाषाएँ अधिक उन्नत और समृद्ध हैं। इस चक्र में समस्त उत्तर प्रदेश में सामी भाषाओं का आधिपत्य प्रायः दो हजार वर्षों से रहा है। और इधर दो तीन सौ साल से दक्खिन के कोने पर और समस्त पच्छिमी किनारे पर यूरोपीय जातियों ने कब्जा करके इन मूलनिवासियों को महाद्वीप के भीतरी भागों की ओर खदेड़ दिया है। सभ्यता का प्रकाश लाने वाली इन सामी और यूरोपीय जातियों ने इन पूर्व निवासियों को भेड़ बकरी से ज्यादा नहीं समझा। समस्त अफ्रीका मे ये आदि निवासी अब भी इस गई गुजरी हालत में करीब दस करोड़ के हैं। इससे अमरीका चक्र के डेढ़ करोड़ की तुलना से ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन अफ्रीका वालों में अधिक स्थामशक्ति है। अनुमान किया जाता है कि पिछले चार पाँच सौ सालों में इन आदि निवासियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए। आज अफ्रीका यूरोपीय साम्राज्य के चगुल में है। विविध राष्ट्र लूट खसोट कर रहे हैं। बढिया बढिया उपजाऊ धरती छीन रक्खी है, सारा व्यापार हथिया लिया है। इस व्यापार के फलस्वरूप कुछ मिश्रित भाषाएँ, **नीग्रो-इंगलिश नीग्रोपुर्तगाली,** नीग्रोफ्रेंच आदि विशेष काम मे लाई जाती हैं। उत्तर और मध्य भाग में अरबी का बोल बाला है। उसको छोडकर अफ्रीका की भाषा हउसा भी प्रायः अधिकाश अफ्रीका क्षेत्र में बोली और समझी जाती है। यूरोपीय भाषाएँ तो हैं ही।

बुशमैन परिवार—बुशमैन जाति के लोग दक्खिनी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते हैं; इनकी बहुत सी बोलियाँ हैं। ग्रामगीतों और ग्रामकथाओं को छोड़ कर कोई साहित्य नहीं। आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अंत में प्रत्यय जोड़ने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में हैं। इनके कुछ लक्षण सुडान परिवार की भाषाओं से मिलते हैं और कुछ बांटू परिवार की ज़ुलू भाषा से। सभव है कि ज़ुलू की ध्वनियों पर इस परिवार की भाषाओं का असर पडा हो। बुशमैन मे क्लिक ध्वनिया छः हैं—दन्त्य, मूर्धन्य, पार्श्विक

तालव्य और ओष्ठ्य। इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न हो कर प्राणिवर्ग अप्राणिवर्ग पर अवलंबित है। इस बात में द्राविड़ भाषाओं के चेतन और अचेतन लिंग से समता है। बहुवचन बनाने के बहुतेरे ढंग हैं जिनमें अभ्यास मुख्य है।

होटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अन्तर्गत समझी जाती हैं, यद्यपि बुशमैन शायद अधिक प्राचीन है। होटेंटाट पर हामी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। अनुमान है कि किसी समय होटेंटाट जाति वाले बहुत दूर तक फैले हुए थे और हामी के निकट तक पहुँचे थे। होटेंटाट शब्द प्रायः एकाक्षर होते हैं। तीन (एक, द्वि, बहु) वचन होते हैं। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप, वाच्य-समावेशक और व्यतिरिक्त, पाये जाते हैं।

बांटू परिवार—ये भाषाएँ प्रायः सारे दक्खिनी अफ़्रीका में भूमध्य रेखा के नीचे के हिस्से में बोली जाती हैं। पूरब में ५० डिगरी देशांतर रेखा तक यही हैं। इनके दक्खिन पच्छिम में होटेंटाट और बुशमैन हैं, और उत्तर में सुडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। होटेंटाट के उत्तर में इनके बोलने वाले अन्ध महासागर तक फैले हुए हैं। इस परिवार में करीब १५० भाषाएँ हैं जो तीन समूहों में बाँटी जाती हैं—

पूर्वी—प्रधान भाषाएँ **काफ़िर** और **ज़ुलू**

मध्यवर्ती—प्रधान भाषा **सेसुतो**

पच्छिमी—प्रधान भाषा **कांगो**

इन भाषाओं में कोई साहित्य नहीं। जजीबार और पड़ोस के समुद्र-तट की भाषा **स्वहीली** में अरबी लिपि में लिखे कुछ लेख मिले हैं। इसके अलावा इन भाषाओं का ज्ञान हमें पादरियों की बनाई रोमन लिपि में लिखी किताबों से ही मिलता है। अनुमान है कि बांटू ने पूर्ववर्ती होटेंटाट को मार भगाया और अब अंग्रेज़ी, डच आदि का स्वयं शिकार बन रही है।

बांटू भाषाएँ परस्पर सुसंबद्ध हैं और योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोड़कर पद बनाने का है; अंत में भी प्रत्यय जोड़कर पद बनाए जाते हैं पर उपसर्गों की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिये, काफिर भाषा में *तन्द्-अ* (प्यार), *तन्द्-इस* (प्यार कराना), *तन्द्-अन* (परस्पर प्यार करना), *तन्द्-इसन* (परस्पर प्यार कराना), *तन्द्एक* (प्यार किया जाना) इस तरह के पदों में और उराल-अल्ताई

अथवा द्राविड़ परिवार की भाषाओं की रचना में कोई अन्तर नहीं दिखता। परन्तु साधारण रीति उपसर्ग जोड़ने की है, जैसे काफ़िर में ही सम्प्रदान कारक का अर्थ *कु* उपसर्ग से निकलता है—*कुति* (हमको), *कुनि* (उनको), *कुजे* (उसको), बहुवचन—*अब-न्तु* (बहुत से आदमी),*उमु-न्तु* (एक आदमी), *न्गब-न्तु* (आदमियों से)। बाँटू भाषाओं में एक वचन के लिए भी उपसर्ग लगता है। काफ़िर में *उम्-*,*उ-*, *इलि-*, *इन्-*, *इसि-*, *उलु-*, से एकवचन और इन्हीं के वजन पर क्रम से *अब-*, *ओ*, *इ-*, *अम-*, *इजिन्-*, *इजि-* से बहुवचन का बोध होता है। बाँटू भाषाओं का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनि-सामंजस्य है, यथा

उमुन्तु वेतु ओमुच्ले उयबोनकल सिमूतन्द

(आदमी हमारा सुन्दर लगता है हम उसे प्यार करते हैं)

अबन्तु बेतु अबच्ले बयबोनकल सिबतन्द

(आदमी हमारे सुन्दर लगते हैं हम उन्हे प्यार करते हैं)

यहाँ एकवचन के उपसर्ग *उमु*, के वजन पर और शब्दों मे भी सामंजस्य के लिये *व्*, *ओमु-*, *उय-*, *मू-* उपसर्ग लगे हैं और बहुवचन में *अब-* के वजन पर *ब्-*, *अब-*, *बय-* और *ब* लगाए गए हैं। यह ध्वनि सामजस्य उपसर्ग के अनुकूल होता है और उराल-अल्ताई परिवार के स्वरसामजस्य से भिन्न है। बाटू भाषाओं का तीसरा लक्षण लिंग का नितान्त अभाव है—सर्वनामों में भी नही मिलता।

बाटू भाषाएँ सुनने में मधुर होती हैं। सभी शब्द स्वरांत होते हैं। सयुक्त व्यंजनों का अभाव-सा है, केवल अनुनासिक के बाद ही व्यजन का संयोग होता है, या *य्*, *व्* के साथ। इसीलिए अन्य भाषाओं से उधार लिये शब्द भी बदल जाते हैं—अ० *क्राइस्ट*>बा० *किरिसित*। स्वर-विभिन्नता से अर्थ-विभिन्नता बहुधा श्रकट की जाती है, जैसे—*हो- फ़िनेल्ला* (बाँधना) किंतु *हो-फिनोल्ला* (खोलना)।

सुडान परिवार—इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्यरेखा के उत्तर में बराबर पच्छिम से लेकर पूरब तक फैली हुई हैं। इनके उत्तर में हामी परिवार की भाषाएँ हैं। इस परिवार में कुल ४३५ भाषाएँ हैं जिनमें से केवल पाँच छः ही लिपिबद्ध पाई जाती हैं। मुख्य भाषाएँ नीग्रोसेनेगल समूह की **वाइ**, नीग्रो-कमेरून की **मोम** और **कनूरी हाउसा** तथा **फ्यूल** हैं। **नूबी** के काप्टी लिपि में लिखे हुए चौथी से सातवी सदी तक के

लेख मिलते हैं। इन भाषाओं की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओं के अस्तित्व और उपसर्गों और प्रत्ययों के नितान्त अभाव के कारण चीनी भाषाओं की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुरों द्वारा मालूम होता है। शब्दों में लिंग नहीं होता, जरूरत पड़ने पर नर और मादा के बोधक शब्दों द्वारा लिंग दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ़ साफ इन भाषाओं में नहीं झलकता। उसका बोध कहीं अन्यपुरुषवाचक सर्वनाम (हिन्दी वे, उन्हें के समानार्थक) को संज्ञा के साथ रख कर कराया जाता है, और कुछ भाषाओं में स्वर की मात्रा दीर्घ कर देने से भी (जैसे *रोर्*—जंगल और *रोर्*—बहुत से जंगल) हो जाता है। वाक्य ज्यादातर एक संज्ञा और एक क्रिया के छोटे छोटे होते हैं, जैसे 'वह जहाज से समुद्र में कूद पड़ा' इस वाक्य का बोध तीन वाक्यों से 'वह कूदा, जहाज छोड़ा, समुद्र में गिरा' कराया जायगा। सुडान भाषाओं में एक तरह के मुहाविरे होते हैं जिन्हें ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रियाविशेषण कह सकते हैं। उदाहरण के लिए ईव भाषा में जो धातु का अर्थ *चलना* होता है और इससे कई दर्जन मुहाविरे बनते हैं, जैसे *जोकक* (सीधे चलना), *जोत्यत्य* (जल्दी जल्दी चलना), *जोसिसि* (छोटे छोटे कदम रखकर चलना), *जो त्यो त्यो* (लम्बे आदमी की चाल चलना), *जो लुमो लुमो* (चूहे आदि छोटे जानवरों की तरह चलना)।

सुडान परिवार में चार समूह हैं—*सेनेगल* भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ़्रीका समूह, और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ। इनमें पहले समूह की **वोलोफ** और दूसरे की **ईव** मुख्य हैं।

सुडान और बान्टू दोनों परिवारों में कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। दोनों में संज्ञाओं को विभिन्न गणों में विभक्त करते हैं। इस गण-विभाग के अभाव में संज्ञा और क्रिया का भेद केवल शब्द के वाक्य में स्थान से ही मालूम होता है। सुर भी दोनों में प्रायः मिलता है।

सामी-हामी परिवार—इञ्जील में दिए हुए आख्यान के अनुसार हजरत नौह के सब से बड़े पुत्र सेम एशिया के दक्खिन-पच्छिमी भाग के बहुत से लोगों—अरब, असीरिया और सीरिया निवासियों—के आदिपुरुष थे। यहूदी लोग भी इन्हीं के भाईबन्द थे। सेम के छोटे भाई हैम अफ़्रीका के बहुतेरे देशों के निवासियों—मिस्रवालों, फोनीशियन, इथियोपियन, कन्नानाइट आदि लोगों—के आदिपुरुष माने जाते हैं। इन्हीं दो भाइयों के नाम से इस परिवार

के दोनो भागो के नाम पड़े हैं। हामी भाग की भाषाएँ सारे उत्तरी अफ्रीका मे फैली हुई है और इन भाषाओं को बोलने वाली कुछ जातियाँ दक्खिन और मध्यवर्ती अफ्रीका में भी घुसती चली गई हैं। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं पर उसकी प्रधान भाषा अरबी ने सारे उत्तरी अफ्रीका मे भी घर कर लिया है। पच्छिम मे मोरक्को से लेकर पूरब मे स्वेज तक तथा सारे मिस्र मे यही सर्वेसर्वा है। अल्जीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी ही है। कार्थेज, तथा हब्श देश मे सामी परिवार की भाषाएँ बहुत प्राचीन काल से रही हैं। हब्शी राजभाषा सामी है। और कई सामी भाषाएँ और बोलियाँ यहाँ बोली जाती हैं।

कुछ भाषाविज्ञानी हामी को सामी से विभिन्न परिवार की मानते हैं पर दोनो मे साम्य के लक्षण इतने जबर्दस्त हैं कि इनको अलग-अलग परिवार न मानना ही ठीक होगा। दोनों के सर्वनाम एक ही स्रोत से निकले है यह स्पष्ट और विवादहीन है, सज्ञा के बहुवचन के प्रत्यय दोनो में एक ही से है और उनका उद्गम समान है, *-त* प्रत्यय दोनों में स्त्रीलिग का बोध कराता है। दोनो मे लिगभेद भी पाया जाता है और क्रियापद बनाने मे दोनो मे काल की अपेक्षा क्रिया की सम्पूर्णता अपूर्णता का अधिक महत्व है। इन महत्वपूर्ण लक्षणो के कारण दोनो को एक ही परिवार के दो भाग मानने के पक्ष मे भाषाविज्ञानी अधिक हैं। सामी परिवार का सब से महत्वपूर्ण लक्षण, त्रि-व्यजनधातु और स्वरव्यत्यय से रूपनिर्माण, हामी मे नही पाया जाता। पर इसका समाधान इस बात से हो जाता है कि दोनों हजारो बरस पहले अलग हुई। सम्भव है कि मिस्र आदि देशो की मूल भाषाओं के प्रभाव के कारण हामी से यह महत्वपूर्ण लक्षण हट गया हो।

इस परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण है—

(१) पद बनाने के लिये उपसर्ग और प्रत्यय दोनो लगाए जाते हैं। पदरूप देने के लिये सज्ञाओं में उपसर्ग लगते हैं और क्रियाओ मे प्रत्यय। प्रेरणार्थक, समभिहार आदि प्रक्रियाएँ मौजूद हैं और सस्कृत के आत्मनेपद के वजन की भी प्रक्रिया है। समभिहार में धातु के अभ्यास के आधार पर रूप बनते हैं—जैसे **सोमाली** भाषा मे *लब्* (तह करना), *लव् लव* (बार-बार तह करना), *गोइ* (काटना) *गोगोइ* (टुकडे-टुकड़े कर देना), *गल* (भीतर जाना), *गलि* (भीतर रखना)।

(२) क्रिया मे काल का बोध उतना नही होता जितना कार्य के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का—एक मे परिणाम तक पहुँच हो जाती है दूसरी मे नही।

(३) आर्यभाषाओं की तरह लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर कुछ और ही आधार पर आश्रित है। सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि बड़े और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार; बड़ी मोटी घास, बड़ी चट्टान, हाथी नर हों या मादा आदि के बोधक शब्द) पुल्लिंग मे तथा छोटे और निर्बल जीव और पदार्थ (चाकू, छोटी घास, पत्थर, खरगोश आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग मे होते हैं। लिंगों का भेद शब्द की प्रथम ध्वनि से होता है—पुल्लिंग कण्ठ्य से और स्त्रीलिंग दन्त्य से। उदाहरणार्थ **गल्ल** भाषा में *कंक* (तेरा) *तंते* (तेरी), **सोमाली** में पुंलिंग के पूर्व *कि* अव्यय लगता है और स्त्रीलिंग के पूर्व *ति*।

(४) हामी की केवल एक भाषा (**नामा**) में द्विवचन मिलता है अन्यों में नहीं। बहुवचन बनाने के भी कई ढग हैं। अनाज बालू घास आदि छोटी चीज़ो को समूह-स्वरूप, बहुवचन में ही रक्खा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुड़ता है, जैसे *लिस्* (आँसू ब० व०), *लिस* (एक आँसू), *बिल्* (पतिगे), बिल (एक पतिंगा)।

(५) हामी भाषाओं का एक विचित्र लक्षण बहुवचन में लिंगभेद कर देना है। इस नियम को **ध्रुवाभिमुख** कहते हैं, जैसे **सोमाली** में *होयेदि* (मा) (स्त्री०) *होयो इन-कि* (माताएँ) (पुं०), *लिबिहिह्* (शेर) (पुं०) *लिबहयो-दि* (बहुत से शेर) (स्त्री०)। बहुत से शेर स्त्रीलिंग में और बहुत-सी मातायें पुल्लिंग मे !

हामी भाषाओं में विभक्तिसूचक प्रत्यय नहीं पाए जाते। सज्ञा और विशेषण के वचन और लिंग का भेद करने के लिए तथा मध्यम और अन्य-पुरुष का बोध कराने के लिए प्रत्यय जोड़े जाते हैं—जैसे "*मिस्री* में *सेन्* (भाई), *सेनु* (भाई ब० व०), *सेन्त्* (बहिन), *उओनूक्* (तू पुं० है) *उओन्त्* (तू स्त्री० है), *उओन्फ्* (वह पुं० है), *उओनूक्* (वह स्त्री० है)।

हामी भाषाएँ परस्पर काफी भिन्न हैं पर सर्वनाम, *त्* स्त्रीलिंग आदि, एकता-सूचक लक्षण हैं ही। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ **मिस्री** और **काप्टी** थीं। मिस्री भाषा के लेख छः हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं। इसके

दो रूप थे, एक धर्मग्रंथों का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा काप्टी है जिसके ई० दूसरी से ८वीं सदी तक के लिखे लेख और ग्रथ, विशेष कर ईसाईमत-प्रचारक ग्रथ मिलते हैं। यह १६ वीं सदी तक बोलचाल में थी, अब केवल साहित्य में पाई जाती है। वर्तमान भाषाओं में हब्श देश की **खमीर** पूर्वी अफ्रीका के **कुशी** समूह की, सोमालीलैंड की **सोमाली**, और लीबिया की **लीबी** (या बर्बर) प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन में बड़ी सीधी सादी है। उसकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर और कुछ अनेकाक्षर हैं। विभक्तियों के लिये प्रत्यय नहीं जुडते।

कुछ भाषाविज्ञानी बुशमैन भाषावर्ग को भी (लिंगभेद के लक्षण के कारण) हामी परिवार में शामिल करते हैं पर यह ठीक नहीं।

सामी-हामी परिवार की सामी शाखा का विचार अगले अध्याय में किया जायगा। यूरोप और एशिया में उगल-अल्ताई, चीनी, सामी, काकेशी, द्राविड तथा आर्य परिवारों के अलावा कुछ असबद्ध भाषाएँ भी हैं। इन सब का भी विवेचन अगले अध्याय में होगा।

बाईसवां अध्याय

यूरेशिया के भाषापरिवार

सामी समूह—सामी भाषाओं के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) अर्थतत्त्व का बोध करानेवाला शब्द का भाग, धातुरूप, त्रिव्यंजनात्मक होता है। यह तीनों व्यंजन तथा उनका क्रम स्थिर रहता है। इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद बनाए जाते हैं। इस प्रकार संबंध-तत्व का काम प्रायः सर्वांश में इन स्वरों द्वारा ही लिया जाता है। उदाहरणार्थ—

क़्त्ल् (मारना), *क्त्ब्* (लिखना,) *द्र्ब्* (चोट पहुँचाना), *व् ग्द्* (पा जाना), *क़्तुल्* से *क़तल* (उसने मारा), *क़ुतिल* (वह मारा गया), (*य-*) *क़्तुलु* (वह मारता है), *क़ातिल्* (मारना), *कित्ल्* (वैरी), *क़िताल्* (मार,) *क़ातल* (मारने की कोशिश करना) आदि।

(२) संबन्ध तत्त्व का भाव इन स्वरों के अलावा उपसर्ग और प्रत्यय जोड़कर भी प्रकट किया जाता है। प्रायः क्रिया के रूपों की सिद्धि करने के लिए इनका इस्तेमाल होता है। उदाहरणार्थ अरबी भाषा में *अक्तब* (प्रेरणार्थक, उसने लिखवाया), *तक्तब* (उसने परस्पर लिखा), *इन्कतब* (लिखा गया), *इक्ततब* (उसने दूसरे से बोला हुआ लिखा), *इस्तक्तब* (उसने किसी से लिखने को कहा)।

सामी भाषाओं में एक एक ही उपसर्ग और प्रत्यय जोड़ा जा सकता है, आर्य परिवार की भाषाओं की तरह प्रत्ययों और उपसर्गों के ढेर के ढेर एक धातु के साथ नहीं लगाए जा सकते।

(३) सामी भाषाओं में लिंग-भेद होता है और स्त्रीप्रत्यय (*-त्* या *अत्*) जोड़ कर स्त्री लिंग शब्द बनता है। उदाहरणार्थ असीरी भाषा में *मलक्* (राजा), *मलकत्* (रानी), अरबी में *इब्न्* (बेटा); *बिन्त्* (बेटी)। इसी-*त्* का यहूदी भाषा में विकास *थ्>ह्* मिलता है और अरबी में *ह्* (*मलकह*)।

(४ आर्य भाषाओं के समास के वजन की कोई चीज सामी भाषाओं में नहीं मिलती। समास-सी कोई जरा-सी चीज व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं (*बेन-जमिन्*,

मलक़्हू-इज्राएल) में मिलती है। यहाँ पदक्रम आर्य भाषाओं से बिल्कुल उल्टा है, यह स्पष्ट दीखता है।

(५) संज्ञा की तीन विभक्तियाँ प्राचीन सामी भाषाओं में मिलती है—कर्तृ, कर्म और संबंध (जैसे *अब्दु*, *अब्दी*, *अब्दा*,) जो प्रत्यय जोड़कर बनती थीं। पर वर्तमान भाषाओं मे ये लुप्त सी हैं। अब उपसर्ग जोड़कर काम निकाला जाता है। प्राचीन सामी में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन भी प्रत्यय जोड़कर बनते थे।

(६) सामी भाषाओं मे दो काल होते हैं—एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण। संज्ञा या विशेषण में सर्वनाम जोड़कर क्रिया का बोध कराया जाता है—अपूर्ण में उपसर्ग स्वरूप और पूर्ण मे प्रत्यय-स्वरूप, *त-क़्तुलु* (वह मारती है), *न क़्तुलु* (हम मारते हैं) किन्तु *क़तल्-अत्* (उसने मारा), *क़तल्-ना* (हमने मारा)। मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष को क्रिया में लिंग-भेद भी किया जाता है—*क़तल* (उस-पु०-ने मारा), *क़तलत्* (उस-स्त्री-ने मारा), *यक़्तुलु* (वह मारता है) *तक़्तुलु* (वह मारती है), *कतब्त* (तू लिखता है), *कतब्ति* (तू लिखती है)।

सामी भाषाएँ परस्पर एक दूसरी से बहुत भिन्न नहीं हैं। क्रमबद्ध त्रिव्यंजनात्मक भाग ने भाषा को एक स्थिरता-सी प्रदान कर दी है, यद्यपि अस्थिर स्वरों के कारण भाषा सयोगावस्था से बराबर वियोगावस्था की ओर बढ़ती रही है। कुछ शब्दों मे धातु त्रिव्यजनात्मक नहीं मिलती (*कुल*—बोली, *काल*—वह बोला)। पर प्रायः ऐसे सभी शब्दों मे त्रिव्यजन से धातु द्विव्यजन हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है (*क़्वूल्*>*क़ूल्*)। तब भी कुछ शब्दो (यथा, *अब्ब्*—पिता, *बन्*—वेटा, य० *जादु*—हाथ) मे ध्वनिविकास भी धातु की द्विव्यजनात्मकता का कारण नहीं दे सकता।

ससार की भाषाओं मे सामी भाषाएँ बड़े महत्व की हैं—इनकी महत्ता यदि कम है तो केवल आर्य भाषापरिवार से। वस्तुतः आर्य, चीनी और सामी यही तीन भाषा परिवार ससार की सभ्यता के हजारो वर्षों से माध्यम रहे हैं।

सामी परिवार को पहले दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(क) पूर्वी और (ख) पच्छिमी

और फिर पच्छिमी को उत्तर-पच्छिमी और दक्खिन-पच्छिमी में।

पूर्वी सामी की भाषा अक्कदी प्राचीन बेबिलोनिया (बावेरु) और असीरिया में बोली जाती था। इसका इतिहास ३८०० ई० पू० तक का मिलता है। प्रो० सेयस के मतानुसार इसका संस्कृत भाषा का-सा महत्व है। बावेरु के पतन (५२६ ई० पू०) के बाद अरमी भाषा ने अक्कदी का स्थान ले लिया।

उत्तर-पच्छिमी वर्ग की प्राचीन भाषाएँ **फोनीशी, यहूदी और अरमी** रही हैं। फोनीशी के लेख ६०० ई० पू० तक के मिलते हैं। एशिया के भूमध्य सागर के किनारे इसका निवासस्थान था यहाँ से यह उत्तरी अफ्रीका मे पहुंची। इसके बोलने वाले बड़े व्यापार-कुशल थे और अनुमान है कि लिपि के प्रचार में इनका अच्छा खासा हाथ रहा है। इस भाषा को अरमी ने समाप्त कर दिया। यहूदी फ़लिस्तीन में बोली जाती थी और उसका प्राचीन रूप हमें इंजील के प्राचीन भाग से मिलता है। अनुमान है कि इसके कुछ अश ईसा से पूर्व एक हज़ार वर्ष तक जाते हैं। ई० पू० पाँचवी सदी मे इंजील के प्राचीन भाग का सम्पादन हुआ जिसमें भाषा भी परिवर्तित हुई होगी। लेखों आदि के परीक्षण से पता चलता है कि अरमी उत्तरी मेसोपोटैमिया मे बोली जाती थी। यहीं से वह सीरिया और चैल्डिया में फैली और करीब ८०० ई० पू० में इस सारे प्रदेश की भाषा बन बैठी। इन तीन के अलावा इस वर्ग की भाषा **सीरी** भी है जो सीरिया मे १००० ई० तक बोली जाती थी। तब अरबी ने उसे मार भगाया।

दक्खिन-पच्छिम वर्ग की सर्वप्रधान भाषा **अरबी** है। अरब देश के दक्खिन भाग के कुछ लेख ई० पू० आठवीं सदी के मिलते हैं, और उत्तर भाग के दूसरी सदी तक के। पर इस देश के मध्य भाग की भाषा ही प्रमुख रही है। इस मध्यवर्ती भाषा के लेख, ग्रन्थ आदि ईसवी चौथी सदी के पहले नहीं जाते। मुहम्मद साहब और उनके धर्म इस्लाम के आविर्भाव के पूर्व, अर्थात् ई० सातवीं सदी के पहले भी, इस भाषा में अच्छा खासा साहित्य था। क़ुरानशरीफ इसी मध्यवर्ती अरबी में है और उस ग्रन्थ की साहित्यिक खूबियों से अनुमान होता है कि इस्लामधर्म के प्रचार के पूर्व भी अरब मे साहित्य-सेवा होती थी। क़ुरानशरीफ ने अरबों में अद्वितीय जोश भर दिया और उन्होंने सारे ससार में इस्लाम धर्म के प्रचार की ठानी। फल-स्वरूप अरबी भाषा बहुत देशों में फैल गई। अरबी आज सारे अरब, उत्तरी अफ्रीका और उत्तर-पच्छिमी अफ्रीका में बोली जाती है। माल्टा में भी यही बोली

जाती है। एक समय स्पेन में मूर लोग भी इसी को बोलते थे। फारसी, तुर्की और हिन्दुस्तानी की उर्दू शैली पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। विज्ञान और भूगोल संबधी, योरोपीय भाषाओं के बहुतेरे शब्द (*अल्जेबरा, सिफ़र, जीरो, मैगज़ीन* आदि) अरबी भाषा के हैं। बोलचाल की वर्तमान अरबी भाषा अयोगावस्था की, और बहुत सीधी सादी है। क़ुरान की भाषा का विकसित रूप होते हुए भी यह उस भाषा से भिन्न है, और केवल क़ुरान को पढ़ने के लक्ष्य से अरबी सीखने वाले लोग वर्तमान अरब की विचारधाराओं से बहुत दूर रह जाते हैं।

अबीसिनिया (हब्श) देश की भाषा **हब्शी**, सामी ही की एक शाखा है, जो प्रागैतिहासिक काल मे लालसागर को पार कर वहाँ पहुँची। गठन मे यह हामी और सामी के बीच की है। इसमें इंजील का अनुवाद (**गीज़** बोली में किया हुआ) ईसवी चौथी सदी का मिलता है।

उराल-अल्ताई समुदाय

इस समुदाय की भाषाएँ बड़े विस्तृत भू-भाग में फैली हुई हैं। वस्तुतः क्षेत्रविस्तार की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर आता है। ये भाषाएँ पश्चिम मे तुर्की हगेरी और फिनलैंड से लेकर पूर्व में ओखोट्सक सागर तक और दक्खिन में भूमध्य सागर से उत्तर में उत्तरी महासागर तक पाई जाती हैं। परिवार की भाषाओं मे जो परस्पर साम्य पाया जाता है वह इस समुदाय के भाषा समूहों मे भी परस्पर नहीं मिलता, इसीलिये वर्तमान कालिक भाषा-विज्ञानियों का विचार इनको दो अलग-अलग परिवारों में बाँटता है—(१) **उराल परिवार** और (२) **अल्ताई परिवार**।

अनुमान है कि उराल और अल्ताई दो पर्वत वे मुख्य स्थान थे जहाँ से इन परिवारों की अन्तर्गत भाषाएँ इधर-उधर फैलीं। उराल परिवार मे दो भाषा समूह (**फीनी-उग्री** और **समोयेदी**) तथा अल्ताइ मे तीन (**तुर्की, मङ्गोली** और **तुगूज़ी**) माने जाते हैं। इन दोनों परिवारो मे दो तीन ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण ही इनकी अन्तर्गत भाषाएँ एक सम्मिलित परिवार की समझी जाती थीं—

(क) पदो की सिद्धि के लिये यौगिक प्रतिक्रिया सर्वत्र मिलती है। इसके द्वारा स्थायी मूल (धातु) में एक या अनेक अस्थायी प्रत्यय एक के बाद एक जुडते जाते हैं। सभी समूहों में यह प्रक्रिया है ही, पर कुछ में अश्लिष्ट यौगिक से भाषाएँ श्लेष की ओर बढ़ती गई हैं।

(ख) स्वर की अनुरूपता सभी समूहों की भाषाओं में मिलती है। इसके द्वारा प्रत्ययों के स्वर, धातु के स्वर के अनुरूप गुरु (भारी) या लघु (हल्के) कर दिये जाते हैं। तुर्की भाषा के उदाहरण *यज्* से *यज़्* *मक्* और *सेव* से *सेव् मक्* पहले दिये गए हैं। पर स्वर की इस प्रकार की अनुरूपता कुछ इन्हीं भाषाओं की विशेषता नहीं है, बांटू परिवार मे भी यह मिलती है। और फिर यह अनुरूपता भी कुछ बहुत पुरानी नहीं है।

(ग) शब्दो मे संबंध-वाचक सर्वनामो का प्रत्ययरूप जोड़ना भी इन भाषाओं की एक विशेषता है।। पर यह भी सामी आदि भाषाओ मे पाई जाती है। कुछ विद्वान सामी परिवार की प्राचीन भाषा अक्कदी को यौगिक होने के कारण उराल-अल्ताई समुदाय में ला धरते हैं पर यह ठीक नहीं।

इसके अलावा इन दो परिवारों में परस्पर शब्दकोष और ध्वनिसमूह का कोई साम्य नही मिलता।। ऐसी परिस्थिति में इनको अलग-अलग परिवार मानना ही युक्ति-संगत जान पड़ता है।

उराल परिवार में से फीनी-उग्री समूह में सारे फ़िनलैंड और स्वीडेन के उत्तरी भाग की **फीनी** (इसे **सुओमी** भी कहते हैं) और पास पड़ोस की बोलियाँ हैं। ये वल्गा नदी के ऊपर और मध्यभाग के उभयतटवर्ती देशो मे बोली जाती हैं और कुछ साइबेरिया की ओबी नदी के तटवर्ती देश मे, इनके अलावा हगेरी की **मगियार** (हगेरी) भाषा भी इसी समूह मे सम्मिलित है। फीनी मे १६वीं सदी से इधर बराबर साहित्य पाया जाता है और यह अब फिनलैंड की महत्ता के साथ साथ स्वयं साहित्यिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। शब्दकोष मे आर्यपरिवार के बहुत से शब्द सम्मिलित हैं। मगियार में १८वीं सदी से साहित्य मिलता है। फीनी भाषियो की संख्या आधे करोड़ से और मगियार भाषियों की एक करोड़ से कम है। इन दोनों भाषाओं पर जर्मन भाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। न केवल शब्दावली ही काफी ले ली गई है, बल्कि पदरचना भी प्रभावित हुई है। इन भाषाओं में लिङ्गभेद बिल्कुल नहीं पाया जाता। फीनी-उग्री समूह की भाषाओं की परस्पर समानता यथेष्ट है। उदाहरणार्थ फीनी और मगियार के तीन शब्द ले लें—

फीनी	मगियार	अर्थ
कैसी	*केज*	हाथ
किवि	*को*	पत्थर

फीनी	मगियार	अर्थ
वेसी	विज़	पानी

इसी परिवार के **समोयेदी** समूह मे कुछ बोलियाँ हैं जिनमे से कोई भी प्रमुख बन कर भाषा की सत्ता नही पा सकी। इन बोलियों के बोलने वालों की सख्या केवल बीस-पच्चीस हजार है।

अल्ताई परिवार की भाषाओं की समानता के मुख्य लक्षण ध्वनिसाम्य अक्षरनिर्माण-साम्य तथा शब्दावली-साम्य विशेष हैं, पदरचना की समानता अपेक्षाकृत कम। लिंग किसी में नहीं मिलता। स्वर की अनुरूपता भी सर्वत्र मिलती है।

मङ्गोली बोलने वालों की सख्या कोई तीस लाख है। चीन देश के उत्तरी भाग मे, मंचूरिया के पच्छिम इनका स्थान है। १३वीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य कोई महत्त्व का नही है। मङ्गोल जाति १३वी सद में चगेज खाँ के समय मे उन्नति की ओर बढी थी पर शीघ्र ही उसकी गति रुक गई। तुगूजी बोलने वालों की सख्या कोई दस लाख ही है। इनकी बोलियाँ मंचूरिया मे और साइबेरिया के मध्य भाग मे बोली जाती हैं, न कोई बोली प्रधान है और न कोई साहित्य। राज्य और साहित्य दोनों के प्रभाव से मङ्गोली और तुगूजी दोनों का बड़ा गौण स्थान है, प्रधानता है चीनी भाषा की। अनुमान है कि जैसे मुंडा भाषाएँ हमारे देश मे विलोप की ओर जा रही हैं, वैसे ही चीन में मगोली और तुंगूजी। दोनों गठन मे बड़ी सीधी-सादी हैं।। कुछ विद्वान तुंगूजी के साथ जापानी को शामिल करके अलग ही भाषा परिवार मानते हैं। चीन मे साम्यवाद के आधिपत्य के कारण भापाओं की परिस्थिति कुछ बदल रही है।

अल्ताई परिवार का प्रमुख भाषासमूह **तुर्की है**, इसको **तुर्क-ततारी** भी कहते हैं। इसमे कुल २८ बोलियाँ हैं। तुर्की देश से लेकर पूर्वी साइबेरिया की लेना नदी तक इनका अस्तित्व है। इनमे लेना तटवर्ती याकूत, तुर्किस्तान की किरगिज, क्रीमिया के कोसक रूसियों की **नोगाइर** और तुर्कदेश की तुर्की प्रधान हैं। इन सब मे भी तुर्की प्रमुख है। इसकी साहित्यिक भापा को **उस्मानली** कहते हैं। तुर्की समूह की बोलियो के बोलने वालों की संख्या कोई चार करोड़ है। कोई कोई लेख ८वी सदी तक के मिलते हैं पर साहित्य-निर्माण १४वीं सदी से आरम्भ होता है। इस्लाम धर्म के कारण १६वीं सदी तक अरबी और फारसी का तुर्की भापा पर विशेष प्रभाव रहा। पर इधर

प्रजातन्त्र-शासन के फलस्वरूप तुर्की में जो जागृति हुई उसके कारण तुर्की ने स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ली। और २०वीं सदी में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में अरबी के शब्द बीन बीन कर हटाए गए और उनका स्थान स्वदेशी शब्दों ने ग्रहण किया। इसके अलावा रोमन लिपि स्वीकार कर ली गई और अरबी लिपि निकाल भगाई गई।

चीनी परिवार

इस परिवार की भाषाएँ चीन महादेश के बडे भारी हिस्से में, अनम (कोचिन-चीन, कम्बोडिया, टोनकिन), थाई देश (स्याम), तिब्बत और ब्रह्मा में बोली जाती हैं। बोलने वालों की सख्या की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर है। इस में कई भाषा-समूह हैं—(क) **अनामी,** (ख) **थाई,** (ग) **तिब्बती-ब्रह्मी** और (घ) **स्वयं चीनी**। ये सभी समूह एक ही परिवार के माने जाते थे, पर अब कुछ विद्वानों को थाई और तिब्बती ब्रह्मी के इसी परिवार के अगभूत होने मे सन्देह जान पड़ता है। चीनी परिवार की भाषाओं का मुख्य लक्षण पदो की एकाक्षरता और व्याकरण का अभाव है। पर अनामी की एकाक्षर सामग्री चीनी से बहुत कुछ भिन्न है। थाई और तिब्बती-ब्रह्मी में कुछ शब्दों में एकाक्षरता का अभाव है और उपसर्गों का अस्तित्व नजर आता है। थाई मे तो क्रिया की प्रक्रिया के भी कुछ लक्षण हैं। परन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये दोनों भाषासमूह चिरकाल से भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गए हैं। ब्रह्मा और थाई देश की धर्म-भाषा पालि है और तिब्बती मे भी ई० ७वी, ८वीं सदी से ही सस्कृत और पालि भाषा के बौद्ध ग्रंथों का प्रचुर प्रचार और अनुवाद होने लगा था जो कई सौ साल तक जारी रहा। अन्य समूहों मे चीनी का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। ऐसी परिस्थिति मे बहुत संभव है कि थाई और तिब्बती-ब्रह्मी में चीनी से जो भेद दिखाई देता है, वह भारतीय प्रभाव के कारण हो।

चीनी जनश्रुति के अनुसार चीनी धार्मिक और इतिहासिक साहित्य, कोई चार पाँच हजार साल पुराना है और वह व्यवधान-रहित गति से चला आ रहा है। वहाँ इतिहास लिखे जाने की एक प्राचीन प्रथा चली आ रही है, इन इति-हास-ग्रंथों को शुकिंग कहते हैं। इन ग्रंथो का जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक कनफ्यूशियस ने ई० पू० छठी शताब्दी मे सम्पादन किया। बहुत संभव है कि उस समय पुरानी भाषा में परिवर्तन कर दिए गए हों। तब भी इस साहित्य के द्वारा हमें थोड़ा बहुत भाषा सम्बन्धी विवरण मिल ही जाता है। पद्य तुकान्त होते थे,

इसलिये ध्वनियों के विकसित हो जाने पर भी उनके प्राचीन रूपका आभास मिल जाता है। विकास तो अवाधगति से होता ही रहा है, उदाहरणार्थ प्राचीन *तित्*, *दिप्*, *तिक्*, का वर्तमानकालिक उच्चारण क्रमशः *यि*, *त*, *ये* पाया जाता है। साहित्य के कुछ ग्रंथों को जाइल्ज ऐसे कट्टर यूरोपीय विद्वान भी ई० पू० १८०० का अर्थात् कोई पौने चार हजार साल पुराना मानते हैं। तिब्बती में ७वीं सदी से, ब्रह्मी मे ११ वीं से और थाई में १३वीं सदी से लेख और ग्रथ मिलते हैं।

साहित्य की तरह चीनी लिपि बहुत पुरानी है। लिपि-विकास की दूसरी अवस्था (भावात्मक) से यह अभी आगे नही बढ पाई। इसमें प्रति शब्द के लिये एक अलग ही संकेत है। चीनी भाषा की एकाक्षरात्मकता और व्याकरण-हीनता ही शायद इस विकास के अभाव का कारण है क्योंकि यदि लिपि ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक होती तो भाषा में विभ्रम की संभावना बढ़ जाती। चीनी लिपि के कारण विभिन्न भाषा-समूह जो इस परिवार के अन्तर्गत हैं एक दृढ़ सूत्र में बँधे हुए हैं। तिब्बती और ब्रह्मी की लिपियाँ भारतीय लिपियो से निकली हैं।

प्राचीन चीनी भाषा का काल १०वीं सदी तक, मध्यकालीन का १०वीं से १३वी तक तथा आधुनिक का १३वीं से इधर माना जाता है। भाषा के लक्षणों के हिसाब से पुरानी और नई भाषा मे कोई अन्तर नही दिखाई पड़ता। मुख्य लक्षण ये हैं—

(क) एकाक्षर शब्द
(ख) शब्दों का अर्थवान और अर्थहीन मे विभाग
(ग) वाक्य मे शब्दों के स्थान का महत्व
(घ) सुरभेद का बाहुल्य
(ङ) व्याकरण का अभाव

चीनी भाषा की समस्त पूँजी उसके एकाक्षर शब्द हैं। मन्दारी बोली जो सर्वप्रधान है उसमे कोई सवा चार सौ ही शब्द हैं, कंटूनी (कैंटन की बोली) मे आठ-नौ सौ ही हैं। अन्य बोलियों मे इसी प्रकार कम या ज़्यादा शब्द हैं। पर इनसे प्रायः सौ गुने शब्दों की सिद्धि हो जाती है। मन्दारी में ही कोपसन्निहित बयालीस हजार शब्द हैं। सवाल उठता है कि इतनी कम पूँजी से इतने अधिक शब्द कैसे सिद्ध हो जाते हैं? उत्तर मनोरञ्जक है। यदि केवल यही अक्षर ही होते तो बात असाध्य थी, पर साथ ही साथ है सुर

बाहुल्य और अन्य साधन। एक ही ध्वन्यात्मक शब्द *येन्* के चार अर्थ (धुँआ, नमक, आँख और हस) सुरभेद के ही कारण होते हैं। यह चार विभिन्न सुरों के कारण ही सभव है। *व* का उदाहरण ऊपर (पृ० ५६ पर) दिया गया है। *हुओ* का एक सुर से अर्थ है 'भला' और दूसरे-से 'प्रेम'। सुर के अलावा दूसरा साधन है—दो शब्दों को पास-पास रखकर उन दोनों के सामान्य अर्थ का बोध कराना। उदाहरण के लिए, *तओ* के अर्थ हैं 'सड़क, झंडा, आच्छादन, अनाज आदि' और *लु* के 'सड़क, घुमाव, रत्न, ओस आदि'। अब यदि सड़क का बोध कराना हो तो *तओलु* कहने से अभिप्राय सिद्ध हो जायगा। *येन्* का अर्थ है 'आँख' पर और भी कई एक। अब यदि आँख का बोध कराना हो तो उसके साथ *चिंग* (आँख का तारा) रखकर आँख का अर्थ निश्चित कर लेंगे। यदि *येन्* से नमक का बोध कराना हो तो *पइ* (बारीक) या *हेइ* (मोटा) जोड़ कर अभिप्राय प्रकट कर देंगे।

चीनी के शब्द **अर्थवान** और **अर्थहीन** इन दो विभागों मे बाँटे जाते हैं। अर्थहीन शब्द का कर्त्तव्य केवल इतना होता है कि अर्थवान शब्द का सम्बन्धतत्त्व हो जाय या उसकी परिस्थति निश्चित रूप से बता दे। अपने व्याकरण में जो काम उपसर्ग, परसर्ग, समुच्चय-बोधक आदि शब्द करते हैं वही काम चीनी भाषाओं मे ये अर्थहीन शब्द देते हैं। उदाहरणार्थ *त्सि* (का), *य* (से), *यु* (को), *लि* (पर), *त्सुँग्* (से—अपादान), *ती* (बहुत), *शु* (संख्या)। पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि ये अर्थहीन शब्द केवल यही काम नहीं करते। ये अर्थवान भी होते हैं और तब इनका विशेष अर्थ भी होता है। उदाहरणार्थ *त्सि* का अर्थ है 'स्थान', *यु* का 'देना'। कब कौन शब्द अर्थहीन है और कब अर्थवान, यह बात केवल उसके वाक्य में इस्तेमाल होने पर मालूम होती है। अर्थवान शब्दों के भी दो हिस्से है, **जीवित** और **मृत**। जीवित शब्द किसी क्रिया का बोध कराते हैं और मृत कर्म का। पर यह विभाग भी कोई बहुत निश्चित नहीं हैं।

चीनी में कोई व्याकरण नहीं मिलता। हम अपने शब्दों को संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि विभागों मे बाँटते हैं और इन संज्ञा आदि से इनके विशेष-विशेष प्रयोगों का बोध कराते हैं। पर चीनी में एक ही शब्द कभी संज्ञा, कभी विशेषण और कभी क्रिया आदि का अभिप्राय सिद्ध करता है और प्रकरण ही इसका निश्चय करता है। ऊपर (पृ० ६० पर) *लओ लओ* का उदा-

हरण आया है। *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार 'बड़ा होना, बड़ा, बड़ाई, बड़ाई से' हो सकता है। *स्सु* का अर्थ भी 'मरना, मृत, मार डालना' कोई भी प्रकरण के अनुकूल समझा जायगा। शब्द का वाक्य मे जो स्थान होता है वही प्रायः इस बात का निश्चय करता है। कर्ता, क्रिया, कर्म यह पद-क्रम है। विशेषण विशेष्य के पहले रक्खा जाता है। उदाहरणार्थ *त* जिन् (बड़ा आदमी) पर जिन् *त* (आदमी बड़ा है) *न्गो त* नि (मैं तुम्हे मारता हूँ) और नि *त न्गो* (तू मुझे मारता है)।

चीनी भाषाओं मे सुर का जितना प्रयोग मिलता है, ससार की अन्य किसी भाषा में नहीं। किसी-किसी चीनी भाषा मे आठ सुर माने जाते हैं, मन्दारी मे छः वर्तमान हैं। ऊपर कह चुके हैं कि इस सुर-विभेद के कारण ही चार सवा चार सौ एकाक्षर शब्द, प्रयोग में चालीस पैंतालिस हजार हो जाते हैं। यह सुर-विभेद चीनी में प्राचीन काल से चला आता है। अनुमान यही है कि आज जो समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थ-बोधक शब्द हैं वही किसी पूर्वकाल में भिन्नध्वन्यात्मक रहे होंगे और विकसित होते-होते समानध्वन्यात्मक हो गए हैं। इस विकास के समय में ही इस सुरविभेद का प्रादुर्भाव हुआ होगा। इसी तरह यह सभव है कि ये भाषाएँ हमेशा से ही एकाक्षर नहीं हैं और न इस सपूर्ण अयोगावस्था की।

थाई समूह की कुछ बोलियाँ आसाम के पूर्वोत्तर भाग मे और ब्रह्मदेश के कुछ भागों मे बोली जाती हैं। इनमें से **शान, आहोम** और **खाम्ती** मुख्य हैं। तिब्बती-ब्रह्मी समूह की बोलियाँ तिब्बत (भोट) और ब्रह्मदेश में बोली जाती हैं। ऐसा अनुमान है कि इनका आदि विकासस्थान चीन महादेश का पश्चिमोत्तर भाग था। वहाँ से इनके बोलने वालो के पूर्वज ब्रह्मपुत्र और इरावदी आदि दक्खिन की ओर आने वाली नदियों के किनारे-किनारे आकर हिमालय के दक्खिनी भाग, तिब्बत, भूटान, आसाम और ब्रह्मदेश मे बस गए। यहाँ इनकी भाषा में इतना अन्तर पड़ गया कि कुछ विद्वानो को इनके चीनी परिवार से सम्बद्ध होने में ही सन्देह है। इस शाखा के मुख्य लक्षण ये हैं —

(क) प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक शब्दों का भेद, (ख) कुछ सर्वनामों में द्विवचन और बहुवचन का अस्तित्व, (ग) उत्तमपुरुष-वाची सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन मे दो-दो रूप, (घ) क्रिया के कुछ रूपों मे प्रत्ययों

का प्रयोग और (ङ) ऊपर के संख्या-वाची शब्दों में गिनती का दश पर निर्भर न होकर विंशति (बीस) पर निर्भर होना। इनमें से कोई भी चीनी परिवार की अन्य शाखाओं में नहीं पाया जाता। पर ये सभी लक्षण मुंडा भाषाओं मे पाए जाते हैं और स्पष्ट ही तिब्बती-ब्रह्मी में एतद्देशी प्रभाव-स्वरूप हैं।

तिब्बती भाग की प्रमुख भाषा तिब्बती है। जैसा ऊपर कह चुके हैं तिब्बती में अच्छा खासा साहित्य है। इसके अलावा लद्दाखी आदि बहुतेरी बोलियाँ हैं। ब्रह्मी भाग की प्रमुख भाषा ब्रह्मी है तिब्बती-ब्रह्मी शाखा की १५६ बोलियाँ हैं और बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर। भारत और ब्रह्मदेश में इतनी बोलियाँ बोली जाती हैं, बाहर की तो कितनी ज्यादा होंगी। इस बोली-बाहुल्य का कारण यही है कि इनका क्षेत्र पहाड़ी प्रदेश है जहाँ आदान-प्रदान के साधन बहुत कम हैं।

चीनी भाषा-समूह की मुख्य भाषा **मन्दारी** है। यह पीकिंग के आसपास बोली जाती है और इसी मे विस्तृत साहित्य है। यही राजभाषा है। इसमें कोई शब्द सघोष व्यंजन से नहीं आरंभ होता और सभी शब्द किसी अनुनासिक व्यंजन (न् ङ्, ञ्) में अन्त होते हैं। मन्दारी के अलावा फ़ूकियन और कैंटन की बोलियाँ भी मार्के की हैं।

अनामी को कुछ विद्वान चीनी परिवार से अलग रखते हैं, और उसे थाई भाषासमूह और आस्ट्री-एशियाई परिवार के बीच की अवस्था का मानते हैं। पर चीनी परिवार के मुख्य लक्षण अनामी में सर्वत्र पाए जाते हैं। चीनी लिपि में लिखे उसके आदि ग्रंथ, १५वीं सदी तक के मिलते हैं। दो सदियों के बाद यूरोपीय प्रभाव के कारण रोमन लिपि का इस्तेमाल होने लगा। सब बातों को ध्यान में रखकर अनामी को चीनी परिवार की ही एक शाखा मानना अधिक युक्तिसंगत है।

काकेशी परिवार

काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती भूभाग मे दो छोटे-छोटे भाषासमूह ऐसे हैं जो पड़ोस के सामी उराल-अल्ताई या आर्य, किसी के अन्तर्गत नहीं हो सकते। ये हैं काकेशस पर्वत पर के **उत्तरी काकेशी** और **दक्खिनी काकेशी**। पहले की बोलियों के भाषी कोई पाँच लाख और दूसरे के पन्द्रह लाख के करीब हैं। उत्तरी और दक्खिनी शाखाओं मे परस्पर काफी भेद है। उत्तरी शाखा मे व्यंजनों का बाहुल्य और स्वरों की कमी है। दोनों में

पदरचना की बेहद जटिलता है। इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि **अवर** बोली में संज्ञा की तीस विभक्तियाँ हैं, और चेचेन में संज्ञा के छः लिंग माने जाते हैं। क्रिया की प्रतिक्रया मे इतनी जटिलता है कि धातु की खोज कर पाना टेढी खीर है, कौन मालूम कर सकता है कि अर, उर, अइसर उन्द, अन्द, आ, इन रूपों में धातु अइ (बनाना) है। उत्तरी काकेशी मे न कोई निजी साहित्य है न लिपि। दक्खिनी शाखा की प्रमुख बोली **जार्जी** है। इसमें १० वीं सदी से इधर बराबर साहित्य मिलता है। इसकी लिपि भी स्वतन्त्र है।

विविध समुदाय

ऊपर कई भाषा-परिवारो का वर्णन हो चुका है। भारतवर्ष में बोली जाने वाली भाषाओं के परिवारो (आर्य, द्राविड़ और आस्ट्री-एशियाई) का वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा। पर इनके अलावा कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन भाषाएँ ऐसी हैं जो इनमें से किसी भी परिवार के अन्तर्गत नहीं होती। इनका भी यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्राचीन भाषाएँ (क) **सुमेरी**, (ख) **मितानी**, **कोस्सी**, **वन्नी**, **एलामाइट**, **हिट्टाइट-कप्पडोसी** और (ग) **एत्रुस्कन** हैं, तथा अर्वाचीन (प) **जापानी**, (फ) **कोरियाई**, (ब) **ऐनू** (भ) **हाइपर-बोरी** और (म) **बास्क**।

(क) **सुमेरी**—इसके लेख ई० पू० ४००० तक के मिलते हैं। यह सामी से भिन्न है और अक्कदी (सामी की एक शाखा) जिसका विचार ऊपर कर चुके हैं उससे बिल्कुल अलग है। सुमेरी बोलने वाले सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए, बेबल के शासक थे और फारस की खाड़ी तक फैले हुए थे। कुछ विद्वान सिन्ध के तट पर की सभ्यता जो मोहन जदाड़ों और हड़प्पा की सामग्री से प्रकाश में आई है, उसका भी सम्बन्ध सुमेरी बोलने वालों से जोड़ते हैं। इन्होंने अपने बाद आने वाले असीरी लोगों के पास काफी सामग्री अपने साहित्य और भाषा सम्बन्धी छोड़ी है। असीरी भाषा मे लिखे सुमेरी के कोष और व्याकरण तथा असीरी अनुवाद समेत सुमेरी के कई ग्रंथ अब भी मिलते हैं। ईसा के पूर्व कई हजार वर्ष तक इन लोगों की फलती फूलती सभ्यता थी। ई० पू० ३०० तक जब अक्कदी सुमेरी को दूर भगा रही थी, तब तक भी सुमेरी, धर्म और साहित्य की भाषा रही। पर कालचक्र ने इसे हटा दिया। पदरचना के हिसाब से इसे योगात्मक कहना चाहिए। इसीलिये इसे उराल अल्ताई परिवार में सम्मलित करते हैं, पर इस सम्बन्ध के लिये आवश्यक प्रमाण नहीं हैं।

(ख) **मितानी** आदि—मितानी के केवल कुछ व्यक्तियों के नाम तथा एक धार्मिक पुस्तक मिलती है। यह शायद दक्खिनी काकेशी से कुछ संबद्ध है और फ़राद के उत्तरी तट पर बोली जाती थी। **कोस्सी** के कुछ नाम ही मिलते हैं, तथा **वन्नी** के कुछ ई० पू० ८वीं ६वीं सदी के लेख। **एलामाइट** के २६०० ई० पू० तक के लेख मिलते हैं। **हिट्टाइट-कप्पडोसी** बोलियाँ, काले सागर के दक्खिन की ओर कप्प-दोशिया प्रदेश में बोली जाती थीं। इनकी कई पुस्तकें लेख आदि मिलते हैं। इनकी ध्वनि-संबंधी और शब्दावली की समानता ऊपर की सभी प्राचीन भाषाओं से तथा सामी और आर्यपरिवार की भाषाओं से दिखती है। पर पदरचना की समानता आर्य-परिवार से विशेष है।

(ग) **एत्रुस्कन**—रोम के उत्थान के पूर्व यह भाषा इटली के उत्तरी और मध्य प्रदेश में बोली जाती थी। इसके कुछ लेख तथा एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसका सम्बन्ध मध्यसागर के साइप्रस, क्रीट आदि द्वीपों तथा उस सागर के किनारे वाले एशिया के भाग की पुरानी भाषाओं से निश्चित है। आर्य परिवार से यह बिल्कुल अलग है।

(घ) **जापानी**—जापानी भाषा में बहुत अच्छा साहित्य है, और ८वीं सदी तक पुराना है। लिपि चीनी से सबद्ध है। यह छः करोड़ जनता की भाषा है। टोकियो नगरी १६वीं सदी में राजधानी बनी, तभी से वहाँ की बोली को महत्त्व मिला। लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा में काफी अन्तर है, और उच्च वर्ग और नीच वर्ग में भी भेद है। पदरचना में यह प्रत्यय जोड़ने वाली श्लेष की ओर झुकने वाली भाषा है। बहुवचन को बहुधा अभ्यास करके व्यक्त करते हैं। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम है। ध्वनिसमूह जटिल-सा है। कोरियाई भाषा से कुछ सम्बन्ध मालूम पड़ता है। इसको उराल-अल्ताई अथवा सुमेरी से संबद्ध करने के उद्योग निष्फल साबित हुए हैं। वर्तमान संसार की प्रमुख भाषाओं में गणना पाने पर भी जापानी का अभी तक किसी भी परिवार से ठीक-ठीक युक्तिसंगत संबंध नहीं जोड़ा जा सका है।

(ङ) **कोरियाई**—यह कोरिया में बोली जाती है और इसके बोलने वालों की जनसंख्या दो करोड़ के क़रीब है। इसका भी संबंध अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। सदियों तक चीनी प्रभुत्व के रहने के कारण इसमें चीनी

शब्दों की बहुतायत है। १५वीं सदी तक यह चीनी लिपि में लिखी जाती थी। उस समय इसकी अपनी लिपि बनी जो सस्कृत (देवनागरी) पर आश्रित है। यह भी प्रत्ययप्रधान श्लिष्ट भाषा है और जापानी से कुछ मिलती-जुलती है।

(ब) ऐनू—इसमे तीन बोलियाँ हैं। बोलने वालों की संख्या बीस-पच्चीस हजार है। साहित्य बिल्कुल नहीं है। जापान के उत्तर में स्थित दो-तीन द्वीपों में इसके बोलने वाले रहते हैं। यह भी योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है।

(भ) हाइपर-बोरी—ये बोलियाँ साइबेरिया के उत्तर-पूर्व कोने मे तथा उसके पडोस के दो एक द्वीपों में बोली जाती हैं। कई बोलियाँ हैं जो परस्पर असंबद्ध सी दिखती हैं।

(म) बास्क—आर्य भाषाओं से घिरी हुई यह अनार्य-भाषा यूरोप मे पिरेनीज पहाड़ के आस-पास बोली जाती है। इसके एक लाख चालीस हजार बोलने वाले फ्राँस में और छियासठ हजार स्पेन में हैं। इसमें कई (कम से कम आठ) बोलियाँ हैं। ८वीं सदी तक पुराने नाम मिलते हैं, और १६वीं सदी से इधर थोड़ा बहुत साहित्य। आकृति अन्तयोगात्मक अश्लिष्ट है। ध्वनि-सामग्री प्रचुर है, और वाक्य-विन्यास जटिल। इस भाषा का सबध भी किसी प्रचलित भाषा-परिवार से नहीं जुड़ता।

अगले अध्याय में आर्येतर भारतीय भाषा-परिवारों का विवरण दिया जायगा।

———

तेईसवाँ अध्याय

आर्येतर भारतीय परिवार

पूर्ववर्ती अध्यायों में संसार की उन भाषाओं का थोड़ा सा विवरण दिया गया है, जो अपने देश की नहीं हैं। अपने यहाँ आर्य, द्राविड़, मुंडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती-चीनी परिवारों की भाषाएँ भारतीयों द्वारा बोली जाती हैं। आबादी की १६३१ की रिपोर्ट के अनुसार भारत और ब्रह्मदेश (तब तक ब्रह्मा को अंगरेज सरकार ने हमसे जुदा नहीं किया था) दोनों मे मिलाकर एशिया के अन्य देशों, तथा अफ्रीका और यूरोप के महाद्वीपों की भाषाओं के बोलने वाले केवल ६½ लाख से भी कम थे। और ये अधिकतर, भारतीय नहीं, भारत में शासन, व्यवसाय आदि तरह-तरह के कामों के लिये टिके हुए विदेशी ही थे।

तिब्बती-चीनी भाषाएँ बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ के कुछ ऊपर है। इन भाषाओं का अस्तित्व प्रायः ब्रह्मदेश और तिब्बत भूटान में है। ऊपर चीनी परिवार की भाषाओं का विचार करते समय इनका उल्लेख किया जा चुका है। भारत मे इस शाखा की भाषाएँ जहाँ-तहाँ आसाम के उत्तरी और पूर्वी भाग मे बोली जाती हैं, इनके बोलने वाले जंगलों और पहाड़ों पर रहते हैं। इनकी बोलियो का अध्ययन हाजसन आदि विदेशी विद्वानों ने किया है। नागा बोलियाँ प्रमुख हैं। विशेष विवरण ग्रियर्सन साहब के सर्वे में मिलेगा।

ऊपर प्रशात महासागर की भाषाओं का विचार करते समय **मलाया-पॉलीनेशिया** भाषाओं का उल्लेख आया है। इनका हिंदी-चीन की **मोन-ख्मेर** और भारत की **खासी** और **मुडा** भाषाओं से संबंध हैं। मोन-ख्मेर जाति किसी समय हिंदी-चीन को जीत कर उस पर राज्य करती थी। अब तो थाई देश, ब्रह्मदेश और भारत के कुछ जंगली भागों में ही इनके बोलने वाले, आदि निवासियों के रूप मे, रहते हैं भारत में केवल आसाम के पूर्वी प्रदेश मे इनके बोलने वाले पाए जाते हैं। और आसाम में ही मोन-ख्मेर भाषाओं से

सबद्ध खासी, खासी पहाड़ियों पर, बोली जाती है। यह चारो ओर से तिब्बती-चीनी से घिरी हुई है। सदियो से यह मोन-ख्मेर भाषाओं से दूर पड़ गई है। तब भी इसकी शब्दावली और वाक्यविन्यास दोनों की मोन ख्मेर से गहरी समानता है। मोन-ख्मेर और खासी के अलावा, अपने देश के एक विस्तृत भाग के जगली प्रदेशो में मुंडा भाषाभाषी रहते हैं। इन भाषाओ का थोड़ा अधिक विवरण देना ज़रूरी है—न केवल इस नजर से कि इनके बोलने वाले काफ़ी बड़े भूभाग मे फैले हुए हैं, बल्कि इस विचार से भी कि इनका इस देश की अन्य प्रमुख (आर्य, द्राविड़) और अप्रमुख (तिब्बती-चीनी) भाषाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। मोन-ख्मेर, खासी और मुंडा शाखाओं को मिलाकर आस्ट्री-एशियाई परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या अपने देश में क़रीब ५३$\frac{1}{2}$ लाख है। जनसख्या, साहित्य, सभ्यता आदि के हिसाब से आर्य (२५$\frac{3}{4}$ करोड़) और द्राविड (७$\frac{1}{4}$ करोड़) से इनका कोई मुक़ाबिला नहीं।

मुंडा

नाम—मुंडा शब्द इस भाषा-परिवार की एक भाषा मुडारी का है और उसका अर्थ है 'मुखिया, जिर्मीदार,। मैक्समूलर ने पहले पहल इन भाषाओं को द्राविड़ परिवार से भिन्न समझा और उन्होंने इनको मुंडा नाम दिया। इसके पूर्व इनको कोल कहते थे। पर यह शब्द अनुपयुक्त है, क्योंकि कोल जाति के अन्तर्गत ओराओं भी हैं जो द्राविडी भाषा बोलते हैं। इसके अलावा सस्कृत मे कोल शब्द का अर्थ 'सुअर' है जिसका प्रयोग अपने ही निर्जी देशवासियो के प्रति करना अनुन्वित भी है। सथाली का काल्हा (लोहार) हिंदी के कोरी, कलार, कलवार, करबल, आदि इसी से सबद्ध हैं। कन्नड़ मे कल्लर का अर्थ 'चोर' है।

क्षेत्र—मुंडा भाषाएँ विशेष रूप से छोटा नागपुर में बोली जाती हैं। इसके अलावा मध्यभारत, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ जिलों में, मद्रास के कुछ भाग में, तथा पच्छिमी बगाल और बिहार के पहाड़ी और जगली प्रदेशों में भी मुंडा भाषा-भाषी रहते हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई में बिहार से लेकर शिमला पहाड़ी तक बराबर ये लोग पाए जाते हैं। मध्यप्रात और मद्रास में इनके चारो ओर द्राविड़ भाषाएँ हैं और उत्तर भारत मे आर्य। ऐसा अनुमान है कि आदि मुंडा भाषाभाषी भारत मे सर्वत्र फैले थे। बाद को आने वाले द्राविड़ और आर्य जनसमुदायों ने इनको खदेड भगाया

और इन्होंने जगलो और पहाड़ो की शरण ली । हताश हो इन्होंने ऐसे पेशे अपनाए जिनका सभ्य समाज से संघर्ष न था । और इनमें से जो जनगण तेज और सरकश थे, उन्होंने डाका चोरी आदि करके बसर करना आरभ किया । मुंडा जाति की ही शाखा 'शबर' थी जिसका उल्लेख रामायण, कादंबरी आदि ग्रंथों में मिलता है ।

प्रभाव---मुंडा भाषाएँ आकृति मे योगात्मक अश्लिष्ट हैं । इन की कुछ विशेषताओं का प्रभाव आर्य और द्राविड़ भाषाओं पर स्पष्ट है । तिब्बती चीनी पर पड़े हुए प्रभाव का उल्लेख ऊपर आ चुका है । मुंडा में क्रियारूपों का बाहुल्य है । भोजपुरी, मगही और मैथिली, इन बिहारी बोलियों मे क्रिया की जटिलता, मुंडा के ही प्रभाव का परिणाम जान पड़ती है । उत्तम-पुरुष-वाची सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप, एक वक्ता के साथ वाच्य (मध्यमपुरुष) को शामिल करके और एक उसको न शामिल करके, भी मुंडा के प्रभाव से आए जान पड़ते हैं । जैसे हिन्दी की बोली मालवी मे *हम हाट जायँगे* और *अपन हाट जायँगे* मे भेद है और वह यह कि पहले वाक्य मे हाट जाने वालों में जिस से बात कही जा रही है वह शामिल नहीं और दूसरे मे वह शामिल है । कोडियों में चीजों को गिनना भी मुंडा भाषाओं का ही स्पष्ट प्रभाव है ।

भाषाएँ—संथाली और मुंडारी भाषाओं का थोड़ा बहुत अध्ययन किया जा चुका है । इनके अलावा हो, कुकूँ, सवर आदि बोलियाँ भी हैं । शिमला की तरफ कनावरी बोली जाती है । संथाली मुंडारी आदि चार-पाँच को मिलाकर सामान्य नाम खेरवारी देते हैं । मुंडा की कुल सात बोलियाँ हैं, और समस्त आस्ट्री परिवार की इस देश मे उन्नीस ।

ध्वनिसमूह—मुंडा मे स्वर तथा सघोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन मौजूद हैं । महाप्राणत्व की मात्रा आर्य-भाषाओं की अपेक्षा अधिक मालूम पड़ती है क्योंकि आर्य-भाषाओं के ऐसे शब्द जिनमें महाप्राण हैं, यदि वे मुंडा में ले लिए गए हैं तो वे ही यहाँ अल्पप्राण हो गए हैं हिन्दी के सभी स्वर स्पर्श वर्ण (पाँचो वर्ग), *य र ल व, ड़, स ह* मुंडा में पाए जाते हैं, पर इनके अलावा एक प्रकार के अर्धव्यंजन *क, च, त, प* भी हैं जिनका उच्चारण अपने व्यंजनों से भिन्न है । इनके उच्चारण में पहले अन्दर को सांस खींची जाती है, तब स्पर्श होता है और फिर स्फोट । इस स्फोट में साँस कभी-कभी नासिका-विवर से भी निकल जाती है । संथाली के किसी

शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं आता। द्व्यक्षर शब्दों में यदि अंताक्षर दीर्घ और उसके पहले वाला ह्रस्व हो तो बलाघात अंतिम अक्षर पर ही होता है, नही तो उसके पहले वाले पर।

व्याकरण —संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नहीं दिखाई पड़ता। शब्दार्थ प्रकरण के अनुकूल जान पडता है। सम्बन्ध-तत्व का बोध अधिकतर अन्तयोग और मध्य-योग से होता है, तथा अभ्यास का भी सहारा लिया जाता है। उपसर्ग भी जोड़े जाते हैं। उदाहरणार्थ—अ(प्रेरणार्थक) को *सैन* (जाना) मे जोड़ कर *असैन* (ले जाना), इसी प्रकार *अ-नुँ* (पिलाना) -*प*-(समूहवाचक) जोड़कर *मझी* (मुखिया) से *मपंझी* (मुखियागण), अथवा -*प*-(परस्परवाचक) जोड़कर *दल्* (मारना) से *दपल* (आपस में मारना- पीटना),-*क*-(समभिहारार्थक) जोड़कर *आल्* (लिखना) से *अकाल* (खूब लिखना)। मुंडा के शब्द एक एक वस्तु और भाव का बोध कराने के लिये पर्याप्त हैं परन्तु सामान्य भाव का बोध कराने वाले शब्दों की कमी है।

प्रकरण से ही पदविभाग का पता चलता है। जरूरत के अनुरूप, एक ही शब्द-रूप सज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है। विभक्तियो का बोध परसर्गों से कराया जाता है। लिग का बोध मूल शब्द में पुरुपवाचक या स्त्रीवाचक शब्द जोड़कर कराया जाता है, जैसे—*आंडिया कूल* (बाघ), *एंगा कूल* (बाघिन)। *कोड़ा* (लडका), *कूड़ी* (लड़की) आदि शब्दों मे लिग-भेद दिखाई पड़ता है, पर ऐसे प्रयोगों की नितात कमी है और स्पष्ट है कि यह आर्य- भाषाओ का प्रभाव है। चेतन और अचेतन का भेद अवश्य उपस्थित है।

इन भाषाओं मे तीन वचन होते हैं। खेरवारी द्विवचन का प्रत्यय *कीन* या *कीड* है और बहुवचन का-*को* या *कू*, जैसे—*हाड़* (आदमी), *हाड-कीन* (दो आदमी) *हाड़-को* (कई आदमी)। परसर्ग काफी हैं—*तै* (को, मे, करणवाचक से), *रे* (मे, बीच मे), *लगित लगत* (लिए), *खान खाच* (से अपादानवाचक), *ठान ठाच* (निकट)। संबंध वाचक परसर्ग चेतन सबंधी होने पर *रैन* और अचेतन होने पर *अक*, *अङ*, *रेअक*, *रेअङ* आदि होता है और हिन्दी के विपरीत सबद्ध के अनुसार न बदल कर संबधी के अनुसार बदलता है।

संथाली के संख्यावाची शब्द मिट् (१), बारेआ (२), पैआ (३) पोनेआ (४), माड़ा (५), तुरूइ (६), एआए (७), इड़ाल (८), आरै (९), गैल (१०), इसि (२०) हैं। ऊपर की संख्याएँ बीसियों से गिनी जाती हैं (पोन इसि—८०, पै इसि—६०)। दस और बीस के बीच में खन (अधिक) या कम (न्यून) को जोड़कर काम चलाया जाता है, जैसे—गैल खन पोनेआ (१४), बरेआ कम बरिसि (१८)।

पुरुषवाचक सर्वनामों मे भी द्विवचन और बहुवचन के हम और अपन के वजन के दो-दो रूप हैं। आदरवाचक (आप आदि) और संबंधवाचक (जो जिस आदि) के वजन के कोई सर्वनाम मुंडा भाषाओं मे नही मिलते।

क्रिया ऐसी कोई अलग चीज़ नही। वही शब्द जो एक जगह संज्ञारूप आया है अन्यत्र क्रियारूप हो सकता है। मरङ (बड़ा), हाड़ अ मरङ अ (आदमी बड़ा है), हैं (हाँ) और उसमें केत परसर्ग जोड़कर हैं केत अ (हाँ कहा)। यह अ किसी क्रिया या व्यापार की भावात्मकता का बोधक है, और कुछ नही। क्रिया के रूप प्रत्यय जोड़कर सिद्ध होते हैं। किन्तु जब तक यह अ न जुड़े तब तक क्रिया का वास्तविक अस्तित्व नही प्रकट होता। उदाहरण के लिए, दल् केत (मारा) का अर्थ दल् केत-अ से सिद्ध होगा। संशयात्मक क्रियाओं मे यह अ नहीं जुड़ता, जैसे, खजुक-अलो-ए-दग (यदि पानी न बरसे) मे यह अ नही जोड़ा गया। सहायक क्रिया के रूप, क्रिया-रूपों और भावात्मक अ के बीच में डाल दिए जाते हैं। धातु का अभ्यास दो तरह किया जाता है, (क) पूरी धातु को दुबारा लाकर, या (ख) धातु के प्रथम दो वर्णों को दुहरा कर। प्रथम का अभिप्राय उस धातु द्वारा निर्दिष्ट क्रिया का बार बार करना और दूसरे का उसी क्रिया को खूब करना होता है, जैसे दल् (मारना) से दल-दल् (बार बार मारना) और ददल् (खूब मारना)। विशेषकर स्वर से आरम्भ होने वाली धातुओं मे या बह्वक्षर धातुओं में -क- बीच मे जोड़कर समभिहार (पौनःपुन्य या भृशार्थ) का बोध कराया जाता है, जैसे—अगु (ले जाना), अकगु (बार बार ले जाना या खूब ले जाना)। परस्पर क्रिया का बोध -प- को बीच मे जोड़कर और प्रेरणार्थक का अंत मे -ओची लगाकर किया जाता है। इन प्रक्रियाओं के अलावा इन भाषाओं में क्रिया का एक विशेष रूप होता है जिससे हिन्दी के सुन रक्खो, ले रक्खो आदि प्रयोगों का अभिप्राय प्रकट होता है, अर्थात् ऐसी क्रिया जिनका भविष्य मे कुछ काम पडे, जैसे—अंजम-कक्-मा (सुन रक्खो)।

पुरुष के अनुसार क्रिया मे रूप-विभिन्नता नही होती। पर चेतन पदार्थो के विषय में पुरुषवाची सर्वनाम अत मे जोड़ दिए जाते हैं। क्रिया-रूप में प्रत्यय जोड़ कर उन सभी कालो और वृत्तियो का बोध कराया जाता है जो प्राय: सस्कृत और हिन्दी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई प्रयोग हैं।

मुडा भाषाओं मे अव्यय स्वतत्र शब्द हैं जिनका अलग ही अर्थ है, जैसे **मैन-खन** (लेकिन) का तात्विक अर्थ है 'यदि तुम कहो'।

मुडा भाषाओं का द्राविड़ी भाषाओं से मौलिक अंतर है। द्राविड़ी मे अर्ध-व्यंजन-सी कोई चीज नही। सज्ञाओ का विभाग मुडा मे चेतन-अचेतन का होता है, द्राविड़ी में विवेकी-अविवेकी का। मुडा में गिनती वीस के क्रम से होती है। द्राविड़ में आर्य की तरह दस के क्रम से। मुडा मे तीन वचन होते है, द्राविड़ी में दो। मुडा में मध्यविन्यस्त प्रत्यय होते हैं, द्राविड़ी में नही।

द्राविड़ी

नाम—भारत मे क्या जनसख्या और क्या साहित्य सभी बातो के विचार से द्राविड़ी भाषाओ का यदि गौणस्थान है तो केवल आर्य भाषाओं से। **द्रविड़** शब्द संस्कृत द्रविड का रूपातर है। इसी शब्द का पालिरूप दमिळ महावंस मे तथा यही जैन प्राकृत ग्रथो में मिलता है। वराहमिहिर ने द्रमिड़ शब्द का प्रयोग किया है। ग्रीक ग्रथों में डमरिक, डिमिरिक शब्द मिलते हैं। **तमिल** शब्द **द्रविड़** का ही अन्य रूप है।

सबंध—मुडा भाषाओं से द्राविड़ भाषाओं की विभिन्नता ऊपर दिखाई गई है। आर्य भाषाओं से भी ये प्राय: हर एक बात मे भिन्न हैं। इनकी अश्लिष्ट योगात्मक अवस्था है। उराल-अल्ताई भाषाओं मे जैसी स्वर-अनुरूपता मिलती है वैसी यहाँ भी दिखाई पड़ती है। इसको मुख्यरूप से ध्यान मे रखकर कुछ विद्वानो ने इनका उराल-अल्ताई से परिवार-सबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। मोहन जदाडो की खुदाई के बाद तो द्राविड़ी सुमेरी और मोहनजदाड़ो की सभ्यता को एक सूत्र में बाँधने की भी कोशिश हुई है। और यह भी प्रयत्न हुआ है कि आस्ट्रेलिया की आस्ट्री भाषाओ से इनका सबंध जोडा जाय। इस अतिम वाद को उपस्थित करने वाले विद्वानों का विचार है कि प्रागैतिहासिक काल में *लेमुरी* महाद्वीप मौजूद था जो आज भारतीय महासागर के नीचे पड़ गया है। और इसी पर इस भाषासमुदाय

के बोलने वालों के पूर्वज रहते थे। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मडागास्कर द्वीप से लेकर प्रशान्त महासागर के द्वीपों तक की भाषाओं का एक ही सम्बन्ध समझ में आ सकता है। ऐसी दशा में उराल-अल्ताई या सुमेरी से द्राविड़ का कोई भी सबंध नहीं ठहर सकेगा और यह विचार कि आर्यों की तरह द्राविड़ जनसमुदाय भी भारत में पश्चिमोत्तर दिशा से आए और ब्राहुई भाषा भाषी उनकी अंतिम शाखा हैं, यह भी युक्तिसंगत न रहेगा। पर द्राविड़ी का आस्ट्री से सम्बन्ध होना स्वयं बालू की भित्ति पर खड़ा है क्योंकि जैसा ऊपर दिखा चुके हैं दोनों में काफी भिन्नता है।

भाषाएँ—द्राविड़ी की कुल १४ भाषाएँ हैं। भाषा-विज्ञानी इनको चार वर्गों में बाँटते हैं —(क) द्राविड (ख) मध्यवर्ती (ग) आन्ध्र (तेलगू) और (घ) पश्चिमोत्तरी (ब्राहुई)। नीचे हर एक वर्ग की जन संख्या दी जाती है----

वर्ग	जन संख्या
(क) द्राविड़	४ करोड़ १५ लाख
(ख) मध्यवर्ती	३६ लाख
(ग) आन्ध्र	२ करोड़ ६४ लाख
(घ) पश्चिमोत्तरी	२० लाख

इनका अवातर वर्गीकरण इस तरह किया जाता है—

- द्राविड़
  - तामिल
    - तामिल
    - मलयालम
  - कन्नड़
  - तुळु
  - कोडगु
  - टोडा
    - टोडा
    - कोटा
- मध्यवर्ती
  - गोंडी
  - कुरुख (ओराओं)
    - कुरुख
    - माल्टो
  - कूई (कंधी)
  - कोलामी
- आन्ध्र
  - तेलगू
- पश्चिमोत्तरी
  - ब्राहुई

तामिल—यह मद्रास प्रान्त के दक्खिन-पूर्वी भाग में और सिंहल (लंका) के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर मे तेलगू और पच्छिम में कन्नड़ और मलयालम हैं। समस्त द्राविड़ी भाषाओं में यह प्रमुख है। इसका साहित्य ८वीं सदी तक का मिलता है। बोलियो मे परस्पर समानता बहुत अधिक है। स्टैंडर्ड भाषा के दो रूप हैं, शेन और कोडुन। शेन सभ्य समझी जाती है। कोडुन प्रायः बोलचाल की है। तामिल की मणिप्रवाल नाम की एक साहित्यिक शैली है जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है और साथ ही साथ तामिल शब्द भी खूबसूरती से पिरोए हुए हैं। तामिल साहित्य बहुत उच्चकोटि का है और बंगाली, हिन्दी, मराठी आदि आर्य-भाषाओं का समकक्ष है।

मलयालम—तामिल की ही एक शाखा समझी जाती है यह तामिल से ९वीं सदी में अलग हुई। इसका क्षेत्र भारत का दक्खिन पच्छिमी कोना है। लक्षद्वीप मे भी यह भाषा बोली जाती है। शब्दावली संस्कृतप्रचुर है, पर इस भाषा के मुसल्मान भाषी (मोपला) इस संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग नहीं करते। ट्रावंकोर और कोचिन राज्यों की संरक्षा में मलयालम साहित्य खूब फूला-फला और उन्नत हुआ है और प्राचीनता मे १२वीं सदी तक जाता है।

कन्नड़—मैसूर की भाषा है। इसमे भी अच्छा खासा साहित्य है। लिपि तेलगू से मिलती है, पर भाषा तामिल से। पद्य की भाषा मे कृत्रिमता अधिक है। कई बोलियाँ हैं। इसके लेख ५वीं सदी तक के पुराने मिलते हैं। समस्त द्राविड़ी भाषाओं मे यही सब से पुराने हैं।

तुळु का क्षेत्र बहुत परिमित है। भाषा सुथरी हुई है पर कोई साहित्य नहीं। कोडगु, कन्नड़ और तुळु के बीच की है। टोडा और कोटा नीलगिरी पहाड पर रहने वाले जगली लोगों की बोलियाँ हैं।

मध्यवर्ती समुदाय की भाषाएँ प्रायः जङ्गली जातियों की हैं। ये मध्य-भारत में, तथा बरार से लेकर उड़ीसा और बिहार तक फैली हुई हैं। बंगाल के राजमहल जिले मे भी एक जगह गंगातट पर इनके बोलने वालों का निवास है। इन बोलियों मे कोई साहित्य नहीं। इनके बोलने वाले प्रायः सब के सब द्विभाषाभाषी होते हैं क्योंकि आसपास के आर्य भाषा-भाषियों से निरन्तर सम्पर्क रहता है। आर्य-भाषाओं की छाप इतनी गहरी पड़ रही है कि इनमें से कुछ

छोटी-छोटी टोलियों की बोलियाँ मर-सी रही हैं और संभव है कि आगे पीछे समाप्त ही हो जाय।

गोंड़ी—यह मध्यवर्ती वर्ग में सब से बड़ी है। गोंड हिंदी प्रान्त में पाए जाते हैं। कुरुख (ओराओ) को मूलरूप से कर्णाट प्रान्त का बताया जाता है जो बाद को बिहार उड़ीसा में छा गई। इसी की एक बोली माल्टो है। कुरुख भाषा-भाषियों का निवासस्थान वही है जो मुंडा का है। दोनों परस्पर एक दूसरे की भाषा समझते-बूझते हैं, और कुछ जन-समुदाय एक छोड़कर दूसरी बोलने लगे हैं। कुई (कन्धी) का तेलगू से संबंध है। इसके बोलने वाले उड़ीसा के जंगलों में रहते हैं। कोलामी का क्षेत्र बरार के पश्चिमी जिलों में है, और संबध तेलगू से। यहाँ वह आर्यपरिवार की भीली भाषा से सम्पर्क में है और लुप्त-सी हो रही है।

आंध्र प्रान्त की भाषा तेलगू बड़े महत्व की है। वर्तमान हैदराबाद रियासत के प्रायः आधे भाग की जनता की भी यही भाषा है। तेलगू भाषा-भाषी बड़े वीर और सभ्य रहे हैं। मुग़ल राज्यकाल मे बराबर यह उत्तर भारत मे सैनिकरूप से आते रहे। हिन्दी में *तिलंगा* शब्द सैनिक का पर्यायवाची है। द्राविडी भाषाओं मे तेलगू बोलने वालों की संख्या सब से अधिक है। इस भाषा का साहित्य १२वी सदी तक का मिलता है। आधुनिक साहित्य भी बहुत अच्छा और तामिल की टक्कर का है। सस्कृत से बहुतेरे शब्द तेलगू में स्वाभाविक रीति से ले लिए गए हैं। इस शब्दावली के कारण बंगाली, हिंदी आदि आर्य भाषाओ से इसका अन्य द्राविड़ी भाषाओ की अपेक्षा घनिष्ठ सबध है। भाषा में बडा माधुर्य है, इसके मुकाबिले में तामिल कर्ण-कटु मालूम देती है।

बलोचिस्तान के बीच में चारों ओर से ईरानी भाषाओं से और एक कोने में सिंधी से घिरी हुई द्राविड़ी परिवार की ब्राहुई भाषा है। इसके बोलने वाले सभी मुसल्मान हैं, और मातृभाषा की विभिन्नता से शादी ब्याह आदि सामाजिक व्यवहार में कोई अंतर नहीं पडता। परिणामस्वरूप ब्राहुई भाषा-भाषी ईरानी भाषा (बलोची या पश्तो) भी मातृ-भाषा सरीखी बोलते हैं। इस भाषा का इस परिस्थति मे टिका रह जाना अचरज की ही बात है।

लक्षण—द्राविड़ी परिवार की भाषाओं के उच्चारण में शब्द के अंतिम व्यंजन के उपरात एक अतिलघु अकार जोड़ दिया जाता है। तामिल में क,

-श, त,-प,-ड़ के उपरान्त अतिलघु उकार सुन पड़ता है। कन्नड़ और तेलगू में सभी शब्द स्वरांत होते हैं और अतिम व्यंजन के बाद-उ बोला जाता है। पर बोलचाल की तेलगू और कन्नड़ में यह उ नहीं सुनाई पड़ता, जैसे, साहित्यिक ते० *गुर्रमु* (घोड़ा), बोलचाल वाली में *गुर्रम्*। इन भाषाओं में उराल अल्ताई भाषाओं की सी स्वर-अनुरूपता भी पाई जाती है। सभी भाषाओं में और विशेषकर तामिल में यह प्रवृत्ति है कि किसी शब्द के आदि में सघोष व्यंजन नहीं आ सकता, और शब्द के मध्य में आने वाला अकेला व्यंजन या अनुनासिक व्यंजन के बाद आने वाला व्यंजन सघोष होना चाहिये। इसी प्रवृत्ति से सं० *दंत* तामिल में *तंदम्* हो जाता है। यही प्रवृत्ति तिब्बती-चीनी में भी पाई जाती है।

संज्ञाओं का विभाग विवेकी और अविवेकी में किया जाता है अथवा इन्हीं को उच्च-जातीय और नीच-जातीय कह सकते हैं। जरूरत होने पर पुंलिंग-स्त्रीलिंग का भेद नर और मादह के बोधक शब्दों को जोड़कर दिखाया जाता है। अन्यपुरुषवाची सर्वनामों में ही पुं० स्त्री० भेद पाया जाता है और ये विशेषणों तथा संज्ञाओं में लिंग-भेद करने के लिए जोड़े जाते हैं। ब्राहुई में यह लिंगभेद नही पाया जाता।

दो वचन होते हैं। विभक्तियाँ परसर्ग जोड़कर बनती हैं। पर ये परसर्ग संज्ञा के विकारी रूपों के अनंतर आते हैं, अविकारी के बाद नहीं। विशेषणों के रूप नहीं चलते। गिनती आर्य भाषाओं की तरह दस पर निर्भर है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में जो सोलह पर निर्भर (रुपए आने की) गिनती पाई जाती है, वह भी द्राविड़-स्रोत की है।

उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम में *हम* और *अपन* के वजन के दो रूप बहुवचन में होते हैं। सम्बन्धवाची सर्वनाम नहीं होता। कुरुख के ये सर्वनाम हैं—*ऍन्* (मैं), *एम्* (हम), *नीन्* (तू), *नीम्* (तुम), *तान्* (स्वयं एकवचन), *ताम्* (स्वयं बहुवचन)।

बहुत से शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों होते हैं, जैसे, ता० *कोन* (राजा), *कोन-एन* (मैं राजा हूँ)। कर्मवाच्य के अलग रूप नहीं होते। सहायक क्रिया से उनका बोध कराया जाता है। क्रिया के रूपों में पुरुष का बोध कराने के लिये पुरुषवाची सर्वनाम जोड़े जाते हैं। काल होते हैं, निश्चित और अनिश्चित; निश्चित भूत और निश्चित भविष्य तथा अनिश्चित वर्तमान या

अनिश्चित भविष्य। क्रिया के निषेधात्मक रूप भावात्मक से भिन्न होते हैं। तिडन्त रूपों की जगह कृदंत रूपों का अधिक प्रयोग होता है।

प्रभाव—भारत मे आर्यों के आने के समय यहाँ मुंडा और द्राविड़ पहले से ही बसे हुए थे। प्रोफ़ेसर चटर्जी के मत के अनुसार मुडा जाति के लोग कश्मीर तक फैले हुए थे। यह कश्मीर के और भी पच्छिम में बोली जाने वाले बुरुशस्की को आस्ट्री परिवार का समझते हैं। शिमला की पहाड़ी पर तक मुडा की एक शाखा तो वर्तमान है ही। इसी प्रकार प्रकार द्राविड़ भाषाओं का भी इस देश में आर्यों के प्रवेश के पहले प्रचार था। जब आर्य इनके सम्पर्क में आए होंगे तो स्वाभाविक ही है कि उनकी भाषा पर इनका प्रभाव पड़ा होगा। दुर्भाग्य से द्राविड़ी के बहुत पुराने लेख या ग्रंथ नहीं मिलते, नहीं तो परस्पर सम्पर्क के परिणाम का अध्ययन अधिक स्पष्ट हो जाता। तब भी भाषाविज्ञानियों का अनुमान है कि भारतीय आर्य शाखा में मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व और र और ल का व्यत्यय द्राविड़ी प्रभाव के ही कारण से है। परसगों का अस्तित्व और सो भी संज्ञा और सर्वनाम के विकारी रूप के बाद द्राविड़ प्रभाव को ही जतलाता है। हिंदी आदि भाषाओं के चेतन पदार्थवाची कर्म का अचेतन कर्म से भेद (*राधा ने कृष्ण को सराहा पर राधा ने मुरली चुराई*) भी द्राविड़ प्रभाव के कारण समझा जाता है। अन्य आर्यभाषाओं की तुलना मे भारतीय शाखा मे कृदत रूपो का तिडन्त की अपेक्षा अधिकाधिक प्रयोग भी इसी का द्योतक है। यह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ह्विटनी ने ऋग्वेद की क्रियाओं की तुलना भगवद्गीता की क्रियाओं से की है और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भगवद्गीता में तिडन्त रूपो का प्रयोग ऋग्वेद की अपेक्षा दसवा हिस्सा ही रह गया है। इसी प्रकार वर्तमान आर्य भाषाओं का सहायक क्रियावाला कर्मवाच्य तथा भविष्यकाल के रूप भी द्राविड़ी प्रभाव के ही परिणाम मालूम पड़ते हैं। शब्दावली का जो परस्पर आदान-प्रदान हुआ है, वह स्पष्ट ही है।

अगले अध्याय मे आर्य-भाषाओं का विवेचन किया जायगा।

चौबीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार

इस परिवार की भाषाएँ मुख्य रूप से हमारे देश के अधिकाश मे, ईरान में, आर्मीनिया में, प्रायः सारे यूरोप महाद्वीप मे, सकल अमरीका महाद्वीप में तथा अफ्रीका के दक्खिन-पच्छिमी कोने में और आस्ट्रेलिया मे बोली जाती हैं। बोलने वालों की संख्या, क्षेत्रविस्तार, साहित्य आदि सभी बातों को देखते हुए इस परिवार का ससार के भाषापरिवारों मे सर्व-प्रमुख स्थान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इसी परिवार की कुछ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भाषाविज्ञान का आविर्भाव हुआ।

नाम—इस परिवार का नाम सबसे पहले **इंडोजर्मनिक** पड़ा। पिछले दो सौ वर्षों से जर्मन विद्वान बराबर इस विज्ञान के अध्ययन में लगे रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट देखा कि ये परस्पर संबद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशा में भारत (हिन्द) में बोली जाती हैं और दूसरे, पच्छिम छोर पर जर्मनी में (ब्रिटेन आदि जर्मनी के पच्छिम वाले देशों में अगरेजी, डच आदि भाषाएँ जर्मनी शाखा की ही हैं)। स्वाभाविक ही था कि उन्होंने इनका नाम इं० ज० रख दिया। पर आयर्लैंड और वेल्ज मे बोली जाने वाली केल्टी शाखा की भाषाएँ जर्मनी शाखा की नहीं थी इसलिए इं० ज० नाम अनुपयुक्त समझा गया और इंडो-केल्टिक सुझाया गया। यह नाम बिल्कुल न चल सका। परिवार की मुख्य भाषा सस्कृत के कारण **सस्कृतिक** भी सोचा गया, पर इस निश्चय के कारण कि सस्कृत सभी का आदिस्रोत नहीं है, यह छोड दिया गया। इंजीली सम्प्रदाय के अनुसार सामी, हामी के वजन पर हजरत नोह के तीसरे बेटे जैफ के नाम पर **जैफाइट** भी रखने का विचार हुआ, पर यह भी आगे न बढ सका। इनके अलावा दो नाम और पेश किए गए, **आर्य** और **इंडोयूरोपियन**। इग्लैंड, फ्रास आदि देशों के विद्वानों ने इ० यू० नाम पसद किया और इसी का व्यवहार करते हैं। उनका कहना है कि भारत और यूरोप इन्ही दो महादेशों मे ये भाषाएँ गौरव को पहुँचीं इसलिए यह नाम

ठीक है। पर जर्मनी वाले अब भी इं० ज० शब्द का ही प्रयोग करते हैं; उनका विश्वास है कि इं० ज० नाम का बहिष्कार उस नाम की अनुपयुक्तता के कारण इतना नहीं हुआ है जितना जर्मनी नाम तक के द्वेष के कारण। आर्य शब्द के व्यवहार के विरुद्ध यूरोप के विद्वान दो तर्क उपस्थित करते हैं। (१) इस नाम से इस परिवार की भाषाओं और उनके बोलने वालों की जाति का समकक्षत्व होता है अर्थात् यह भ्रम होता है कि इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आर्यजाति के हैं। (२) आर्य शब्द का व्यवहार इस परिवार की शाखा हिंद ईरानी के लिए अधिक उचित है क्योंकि इन दोनों देशों वाले अपने को आर्य कहते हैं और इस शब्द का निरंतर प्रयोग अपने साहित्य में पाते हैं। पहला तर्क बिल्कुल लचर है। यदि सामी हामी आदि भाषाओं के नामों से सामी आदि जातियों के विषय में भ्रम नहीं पैदा होता तो आर्य नाम से ही क्यों होने लगा? दूसरे तर्क में कुछ सार है। अवश्य ही भारत और ईरान में आर्य शब्द, परम्परा से मौजूद है और हम उसका गौरव भी मानते हैं। ईरान ने तो इस गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण फ़ारस शब्द को त्याग कर और *ईरान<अइराण<आर्याणाम्* को प्रयोग में लाकर दे दिया है। पर हिंद-ईरानी के लिये आर्य शब्द का प्रयोग बहुत उचित नहीं। अन्य शाखाओं के नाम उन देशों के नाम पर रक्खे गए हैं जिनमें वे मुख्य रूप से उपस्थित हैं। इसलिये जब तक भारत और ईरान को प्राचीन आर्य देश न स्वीकार किया जाय, तब तक इस नाम के बारे में क्यों दूसरी नीति बर्ती जाय? यूरोप में भी आर्य शब्द का गौरव माना गया है। हिटलर उसी का दम भरता था। जर्मनी में प्राचीन आर्य चिह्नों (स्वस्तिक आदि) की पूजा होती रही। इसके अलावा इंडोयूरोपियन नाम बड़ा भारी है। आर्य छोटा है और उच्चारण-सुगम, सामी हामी, चीनी, बांटू, आदि की तरह। इसीलिये जेस्पर्सन ने भी इसे पसन्द किया है। हमारी समझ में हमें सम्पूर्ण परिवार के लिये आर्य, हिंद-ईरानी शाखा के लिए हिं० ई० और ईरानी के लिये ईरानी तथा भारतीय के लिए भारतीय या भारतीय आर्य शब्दों का यथा-समय व्यवहार करना चाहिए। साथ ही साथ हमें यूरोपीय विद्वानों द्वारा किए गए आर्य, इं० यू० और इ० ज० नामों के प्रयोग और अर्थ पर भी ध्यान रखना चाहिए।

आदिम भाषा

इस परिवार की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन कर

के, यह कल्पना की जाती है कि इन भाषाओं का मूल स्रोत कोई आदिभाषा रही होगी। संस्कृत, अवेस्ती, ग्रीक और लैटिन के सब से पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओं का जो स्वरूप मिलता है उससे ही इस आदिभाषा की कल्पना हो सकी है। इन भाषाओं की परस्पर तुलना की गई, और फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि आदिम आर्य-भाषा में अमुक-अमुक ध्वनियाँ रही होंगी, अमुक-अमुक सन्धि-नियम रहे होंगे, संज्ञा सर्वनाम आदि के रूप इस प्रकार चलते होंगे, क्रिया के ये रूप रहे होंगे, इत्यादि। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

संस्कृत *पितर्*, ग्रीक *पतेर*, लैटिन *पतेर*, अगरेजी *फ़ॉदर*, अथवा सं० *प्र*, ग्री० *प्रो*, लै० *प्रो*, गाथी *फ्र*, या सं० *नपात्*, लै० *नेपोस*, अं० *नेफ़्यू* आदि शब्दों को देखकर यह अनुमान किया गया कि आदिम भाषा में *प्* ध्वनि रही होगी। इन उदाहरणों से मालूम होता है कि सं० *प्*=ग्री० *प्*=लै० *प्*=जर्मन समूह वाली भाषाओं में *फ़्*। यही ध्वनि-नियम बना। पर शीघ्र ही देखा गया कि, सं० *स्पश*, लै० *स्पेकिओ* से ही सम्बद्ध प्राचीन जर्मन भाषा में *स्पेहोन्* शब्द है और अंगरेजी में *स्पाइ*। निश्चित किया हुआ ध्वनि-नियम गड़बड़ा गया क्योंकि इन जर्मनी भाषाओं के शब्दों में सं० *प्*, *फ़्* के समकक्ष न मिलकर *प्* मिली, और उसमें संशोधन की जरूरत पड़ी। इसी तरह स० *भ्* (*भरामि*),=ग्री० *फ्* (*फ़ेरो*),=लै० *फ़्* (*फ़ेरो*)=अं० *ब्* (*बेयर*) की बराबरी सिद्ध हुई, और आदिम भाषा में *भ्* के अस्तित्व का अनुमान किया गया पर स० *बन्ध्*, और अ० *बाइंड* की तुलना से सं० *ब्*, अ० *ब्* के बराबर मालूम पड़ी यद्यपि अन्य उदाहरणों से सं० *भ्* की बराबरी अं० *ब्* से और सं० *ब्* की बराबरी अ० *प्* के साथ सिद्ध होती थी। कुछ और उदाहरणों की समीक्षा करके अन्तिम निश्चय यह हुआ कि अंगरेजी आदि जर्मनी भाषाओं की *ब्* आदिम की *भ्* के ही बराबर है, जहाँ संस्कृत की *ब* अं० की *ब्* के बराबर दिखाई देती है, वहाँ निश्चय ही आदिम भाषा में *भ्* रही होगी जो बाद को संस्कृत के निजी नियमों के कारण इस में *ब्* हो गई, इसी से सं० *बन्ध्* के आदिम भाषा के स्वरूप **भेन्ध्* की कल्पना हुई। इसी तरह पहले इस आदिम भाषा में *अ*, *इ*, *उ* (ह्रस्व) और *आ*, *ई*, *ऊ*, (दीर्घ) मूलस्वरों की कल्पना की गई थी, पर बाद को यह निष्कर्ष निकला कि सं० और अवेस्ती में के *अ* के समकक्ष लै० ग्री० में तीन स्वर *अ*, *एॅ*, *ओॅ* मिलते

हैं। वे तीनों आदिम भाषा में रहे होंगे जो हिं० ई० में एक रूप (अ) मे पाए जाते हैं। इस प्रकार परस्पर तुलना से निर्धारित आदि भाषा का स्वरूप कल्पित ही है, अनुमान सिद्ध; इसके बारे मे निश्चयपूर्वक यह कह देना कि उस आदिभाषा में फलाँ शब्द की जोडी का फलाँ रूप था, यह कहना असगत है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन से हम अनुमान करते हैं कि अमुक रूप रहा होगा। परन्तु इतना निश्चित-प्राय है कि यह आदिम भाषा अवश्य वर्तमान थी और इसी की शाखाओं के रूप में हमें प्राचीन और अर्वाचीन भाषाएँ प्राप्त हैं।

ध्वनियाँ—प्राचीन भाषाओं की तुलना-स्वरूप जो आदिम भाषा निश्चित की गई है, उसकी नीचे लिखी ध्वनियाँ थीं।

कवर्ग—(१)	क्'	ख्'	ग्'	घ्'		
(२)	क़्	ख़्	ग़्	घ़्		
(३)	क्व्	ख्व्	ग्व्	घ्व्		
तवर्ग—	त्	थ्	द्	ध्		
पवर्ग—	प्	फ्	ब्	भ्		
ऊष्म—		स्				
अन्तःस्थ (व्यजन)	य् र्	ल्	व्	न्	म्	
,, (स्वर)	इ ऋ	ऌ	उ	न̥	म̥	
स्वर (मूल ह्रस्व)	अ	ऍ	ऑ			
,, (मूल दीर्घ)	आ	ए	ओ			
,, (मिश्र ह्रस्व)	अइ	अऋ	अऌ	अउ	अन̥	अम̥
	ऍइ	ऍऋ	ऍऌ	ऍउ	ऍन̥	ऍम̥
	ऑइ	ऑऋ	ऑऌ	ऑउ	ऑन̥	ऑम̥
,, (मिश्र दीर्घ)	आइ	आऋ	आऌ	आउ	आन̥	आम̥
	एइ	एऋ	एऌ	एउ	एन̥	एम̥
	ओइ	ओऋ	ओऌ	ओउ	ओन̥	ओम̥
,, उदासीन	अ (ə)					

प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालुस्थान की गौण सहायता से किया जाता था और संभवतः क्य् ख्य् ग्य् घ्य् सा रहा होगा। द्वितीय श्रेणी का उच्चारण वस्तुतः कण्ठ्य था जो अपने (वर्तमान हिन्दी के) कवर्ग के उच्चारण से भिन्न था और अरबी क़् आदि के समान। तृतीय श्रेणी के उच्चारण में ओठो की गौण सहायता ली जाती थी, इन के उच्चारण मे कवर्ग ध्वनि मुख्य और व् ध्वनि बहुत ही अल्प और गौण रहती थी। ऊष्म स् यदि दो स्वरों के बीच में आती थी तो उसका उच्चारण सघोष (ज़) होता था। अनुनासिक ध्वनियाँ व्यजनरूप मे म् और न् ही थीं, पर अनुमान किया जाता है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग वर्णों के पूर्व न् का उच्चारण ञ् और बाक़ी दो के पूर्व ङ् होता होगा। यही न् और म्, शब्दों में विशेष स्थान पर आने की अवस्था में स्वर-रूप न̥ म̥ हो जाते थे। इसी प्रकार य् र् ल् व् भी शब्द में अपनी स्थिति के अनुकूल स्वरूप (इ उ ऋ ऌ) धारण कर लेते थे। आदिम भाषा के म̥, न̥ की जगह सस्कृत में अ मिलता है। आदिम भाषा मे ये अन्तःस्थ वर्ण तीन प्रकार से प्रयोग मे आते थे—

(क) व्यजनरूप—(१) जब अन्तःस्थ वर्ण शब्द के आदि मे किसी स्वर या स्वररूप से प्रयुक्त हुए अन्तःस्थ वर्ण के पूर्व आता था, या (२) दो स्वरों के बीच में होता था, या (३) किसी व्यजन और स्वर के बीच में आता था, या (४) स्वर और उदासीन स्वर के बीच में आता था।

(ख) मिश्रस्वर के द्वितीय भाग के रूप मे, यह अवस्था तब होती थी जब अन्तःस्थ वर्ण स्वर और व्यजन के बीच में आता था।

(ग) स्वररूप—(१) जब शब्द के आदि में, किसी व्यजन के पूर्व आता था या (२) जब वह दो व्यजनों के बीच में आता था। इनके अलावा (३) कुछ विशेष परिस्थितियों में शब्द के आदि वाला अन्तःस्थ वर्ण उसके बाद मे स्वर होने पर भी, स्वय स्वर हो जाता था।

संस्कृत मे अन्तःस्थ वर्णों की यह तीन तरह की स्थिति प्रायः वैसी ही बनी हुई मिलती है, जैसी आदिम आर्य भाषा मे थी, उदाहरणार्थ—(क) यज्, युवा, इयाज, मध्य (ख) एति, वेद, गौः, अवोचम् (ग) इदम्, दिक्,

उक्तम्, श्रतम्, ऋक्षः, मृतम्, वृकः (ज० वुल्फ), पृथुः (ग्री० प्लतुस्) शतम्, (लै० कन्टुम्), गतम्, मतिः (गा० मुनस्), हतम्।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि इ, उ, ऋ, लृ मूल रूप से स्वर न थे किन्तु स्वर-स्थानीय अन्तःस्थ वर्ण।

उदासीन स्वर का ठीक उच्चारण आदिम भाषा में क्या था इसका पता नहीं। यूरोप के विद्वान् इसको श्वा (Schwa) कहते हैं। संस्कृत और अवेस्ती मे इसको हम -इ- रूप में पाते हैं (*पिता, जनिता*)। यही उदासीन स्वर, यदि स्वर रूप से प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण और तदनन्तर प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण दोनों के बाद आता था, तो यह उदासीन स्वर और इसके पहले वाला अन्तःस्थ दोनों मिलकर दीर्घ अन्तःस्थ स्वर हो जाता था जिसके हमें संस्कृत में ई, ऊ, ॠ रूप मिलते हैं, और दीर्घ म्̥ न्̥ के स्थान पर आ मिलता है।

आदिम भाषा में दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे, पर दो या अधिक मूलस्वर (अ, आ, ऍ, ए, ऑ ओ) एक साथ नही। अन्तःस्थ वर्ण (स्वर या व्यंजन के रूप से) अन्य व्यंजनों या स्वरों के साथ मे आ सकते थे। सानुनासिक स्वरों (अँ, आँ, इँ आदि) का अभाव था। समीकरण आदि सन्धि-नियम भी अस्तित्व में थे। सामान्यतः दो व्यंजनो के सयोग में, यदि दूसरा सघोष हो तो दोनों सघोष और यदि दूसरा अघोष हो तो दोनो अघोष हो जाते थे।

पदरचना—आदिम आर्य भाषा के पद में तीन अंश हो सकते थे—धातु, पूर्वप्रत्यय, परप्रत्यय (सुप् तिङ्)। इन अंशों में से धातु तो प्रतिपद में अवश्य होती थी, और बहुधा परप्रत्यय भी परन्तु पूर्वप्रत्यय एक या अनेक सख्या में धातु और परप्रत्यय के बीच में रह सकते थे। उदाहरणार्थ *दिश्* (दिशा), भुक् (खाने वाला) में केवल धात्वंश है और वैयाकरणों ने ऐसे पदों में धातु के साथ सुप् प्रत्यय के अस्तित्व की कल्पना की है और फिर उसके तत्कालीन लोप की; *सरित्*, *विद्वस्*, *मनस्* आदि मे दो अश हैं धातु और पूर्वप्रत्यय, इनमे भी परप्रत्यय के अस्तित्व और लोप की कल्पना करनी पड़ी है। *दिशः*, *भुजौ* आदि में धातु और परप्रत्यय मौजूद हैं, और *स्वप्नः*, *मनसा*, *गम्यमानम्* आदि मे तीनों अश। आदिम भाषा में उपसर्ग अर्थात् शब्द के आरभ में धातु से पूर्व जुड़ने वाले अंश नहीं होते थे, संस्कृत

अवेस्ती ग्रीक और आर्मीनी भाषाओं में पाया जाने वाला अ-(*अगच्छत्* *अगमत्* आदि वाला) अन्य शाखाओं में नहीं मिलता, इसलिए आदिम भाषा में उसका होना निश्चित नहीं है। संस्कृत *प्र परा* आदि उपसर्ग संज्ञा वाले शब्द वस्तुतः स्वतन्त्र पद थे और प्राचीन (वैदिक) संस्कृत में उनकी स्थिति क्रिया से दूर भी रह सकती थी। आदिम आर्यभाषाओं में मध्य-विन्यस्त-प्रत्यय भी प्रायः नही थे। केवल रुधादि गण में धातु की ध्वनियों के बीच में कुछ मध्यविन्यस्त प्रत्यय सा दीखता है (*जैसे रुध्=रुणध्*)। सारांश यह कि आदिम भाषा के पद में बहुधा धातु और परप्रत्यय दो अंश होते थे, और यदि उन दो के बीच में कुछ आ सकता था तो पूर्वप्रत्यय, एक या अनेक।

पद के इन तीन अंशो में से कोई भी एकाक्षर या अनेकाक्षर हो सकता था, किंतु किसी भी अंश मे एक से अधिक मूलस्वर(*अ ए ऑ, आ ए ओ*) नही हो सकते थे। हाँ एक ही अंश मे एक मूलस्वर के साथ उदासीन स्वर या अन्तःस्थ स्वर रह सकता था। धातु का सादा रूप या अभ्यास-प्राप्त रूप पदों में आता था। अभ्यास करने में पूरी धातु या उसका थोडा अंश दुहराया जाता था। इसके अलावा धातु के स्वरक्रम के अनुरूप कई रूप हो सकते थे, उदाहरणार्थ संस्कृत के *कृत,करति, कारयति* इन तीन पदो मे से पहले में धातु का स्वर केवल अन्तःस्थ, (*ऋ*) है मूल नहीं, दूसरे में ह्रस्व मूलस्वर है और उसके साथ अन्तःस्थ, और तीसरे मे दीर्घ मूलस्वर और उसके साथ अन्तःस्थ। धातु का कौन रूप पद में प्रयोग में आएगा, इस बात का निर्णय उसके बाद आने वाले पूर्वप्रत्यय को देख कर किया जाता है। उदाहरणार्थ कर्तृवाचकतृच् (*-तर्*) प्रत्यय के पूर्व धातु का पूर्ण रूप आता था।(*कर्ता, नेता, श्रोता*) किंतु *निष्ठा-क्त* (*-तो*) प्रत्यय के पूर्व धातु का संक्षिप्त रूप (*कृत, नीत, श्रुत*)। पद के तीन अंशों में से उसी अंश में कुछ विकार हो सकता था जो परप्रत्यय के तुरंत पहले हो, उसके पूर्व के अंश स्थिर रहते थे, उदाहरणार्थ *जनि-ता, जनिता-रम, जनि-त्रा, जनि-तुः* आदि में *जनि-* स्थिर है, विकार केवल *-तृच्* प्रत्यय मे हो सका है जो परप्रत्यय के पूर्व है। इसी प्रकार *जिगमिषुः-जिगमिषव , जिगमिषुणा* आदि रूप भी उदाहरण हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने पूर्वप्रत्यय के दो विभाग किए हैं, कृत् और तद्धित। कृत् केवल वे पूर्वप्रत्यय हैं जो धातु के अनन्तर ही आते हैं और तद्धित वे जो कृदन्त आदि सिद्ध रूपों के बाद। जिनको यहाँ परप्रत्यय की संज्ञा दी गई है उन्हे संस्कृत वैयाकरण सुप् तिङ कहते हैं। इनमें से सुप् कृदन्त या तद्धितान्त

शब्दों के बाद और तिङ् (क्रियार्थ) धातु के अनन्तर आए हैं। परप्रत्यय आदिम भाषा में विभिन्न रूप का होता था, कोई केवल एक स्वर, कोई केवल एक व्यंजन, कोई केवल अन्तःस्थ, कोई एकाक्षर या द्वयक्षर या कोई केवल शून्य।

संज्ञा के बाद लगने वाले परप्रत्यय क्रिया वाले परप्रत्ययों से बिल्कुल भिन्न पाए गए हैं, इससे सिद्ध होता है कि आदिम आर्यभाषा में संज्ञा और क्रिया में मौलिक भेद था। संज्ञा और क्रिया दोनों मे तीन वचन (एक, द्वि, बहु) थे। क्रिया मे तीन पुरुषों का भेद था। आदिम भाषा में संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं और तीन लिंग। नपुसकलिंग का भेद केवल प्रथमा, द्वितीया और संबोधन विभक्ति मे था, अन्यत्र उसके रूप पुलिंग के ही होते थे। आदिम भाषा की क्रिया में काल की विचारधारा गौण थी, क्रिया किस प्रकार की गई और उसका फल कैसा था और किसको मिला इत्यादि बातों का ज़्यादा ध्यान था।

संज्ञा (विशेषण और सर्वनाम सहित) और क्रिया के अलावा आदिम भाषा में क्रिया-विशेषण, उपसर्ग और समुच्चयादि-बोधक अव्यय थे। इन सब के रूप स्थिर मिलते हैं। पर अनुमान है कि ये सब भी पहले विकारी होंगे धीरे-धीरे अविकारी हो गए। वैदिक संस्कृत मे *स्वस्तये*, *स्वस्तिना* आदि रूप मिलते हैं, उत्तरकालीन संस्कृत में *स्वस्ति* अव्यय हो गया; वैदिक संस्कृत में तुमन्त शब्द की विभक्तियाँ होती थीं (*गन्तवे* आदि), उत्तरकालीन मे वह अव्यय रूप ही मिलता है। आदिम भाषा के पद पर सामान्य नजर डालने से भी इतना पता चल जाता है कि उसमें अर्थतत्व और सम्बन्धतत्व का पूरा घाल-मेल था, अधिकांश शब्दों में दोनों को अलग करके रख देना टेढ़ी खीर है। इससे सिद्ध है कि आदिम आर्यभाषा श्लिष्ट योगात्मक अवस्था की थी।

आदिम आर्यभाषा मे तीन बातें और थीं, समास, स्वर क्रम और सुर। सुर के अलावा बलाघात का भी अनुमान किया जाता है। सुर पद के किसी भी (धातु, पूर्वप्रत्यय या परप्रत्यय) अश में हो सकता था। दो या अधिक पदों का समास कर के अन्तिम पद को छोड़ कर बाक़ी के पदों से परप्रत्यय का अंश उड़ा दिया जाता था। पदरचना में स्वर-क्रम बड़ी सहायता करता था। आदिम आर्यभाषा के तीन मूल (अ, ऍ, ऑ ह्रस्व और दीर्घ *आ*, ए, *ओ*) के स्थान पर संस्कृत में केवल अकार (ह्रस्व और दीर्घ) मिलता है, इससे स्वरक्रम समझने में कठिनाई पड़ती है। पर संस्कृत मे स्वयं गुण और वृद्धि के रूप में एक प्रकार का स्वरक्रम मौजूद है। आदिम भाषा में स्वरक्रम

के मुख्य स्वर थे एँ ओं। ग्रीक और लैटिन में तीनों मूलस्वर पाए जाते हैं। ग्रीक पदों में एँ वर्तमानसूचक और ओं भूतकाल-सूचक है। आदिम भाषा में मूलस्वर वर्तमानसूचक पदों में और शून्य (मूल-स्वर-राहित्य) बहुधा भूत-काल वाची पदों में रहता था, *बिभर्ति भृतः* उदाहरण हैं। स्वरक्रम के अनुसार ही श्र (*क्'लु) के ये विभिन्न रूप मिलते हैं—

आदिम	संस्कृत	आदिम	संस्कृत
*क्'लेउ-	श्रो-(त्र)	*क्'लोव-	
*क्'लव्-	श्रव्-(अः)	*क्'लोउ-	
*क'लेउ-	(अ-) श्रौ-(षीत्)	*क्'लोव्-	
*क्'लेव्	(अ-) श्राव्-(इ)	*क्'लु-	श्रु-(त)
*क्'लोउ-	(श) श्रो-(थ)	*क्'लव्	*(शु-) श्रवुः

आदिम भाषा का पद स्वय अपना सम्बन्ध अन्य पदों से सूचित कर देता था, इसलिए समास के अलावा अन्यत्र पदक्रम का महत्व नहीं के बराबर था। ऋग्वेद में नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया बहुत स्थलों पर आई है, ग्रीक भाषा में भी नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन ही की क्रिया के लगाने का नियम है। इस से जान पड़ता है कि ऐसे स्थलों पर बहुवचन केवल एक समूह का ही द्योतक होता था।

सिंहावलोकन करने से आदिम आर्यभाषा में, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था, परप्रत्ययों का बाहुल्य और उनके द्वारा संबंध-तत्त्व का बोधन, पद के तीन अंश, धातु का अभ्यास, उपसर्ग और मध्य-प्रत्यय का अभाव, समास, स्वर-क्रम और सुर, ये मुख्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मूल निवासस्थान—वर्तमान और प्राचीन आर्यभाषाओं की विज्ञानी तुलना से ही आदिम आर्यभाषा की पुनः रचना हुई है। अनुमान है कि उस समय जब वह सुसगठित भाषा के रूप में थी और उसकी बोलियों में परस्पर मार्के के कोई भेदक लक्षण नहीं पैदा हुए थे तब आर्यभाषा-भाषी किसी एक स्थान पर रहते थे। यह स्थान कौन था इस सवाल को हल करने के लिए अनेक विद्वानों ने विविध वाद उपस्थित किए हैं। भारतीय आर्य-ग्रन्थों में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य कहीं बाहर से आए। भारतीय आर्यों की कल्पना मे अपने देश के अलावा स्वर्ग, पाताल, देवलोक आदि का अस्तित्व अवश्य था। देवताओं का निवास मेरु पर्वत पर था, वहाँ प्रकाश और सुख का सर्वदा अस्तित्व और अन्धकार तथा दुःख का नितान्त

अभाव रहता था। भारतीय आर्य प्राचीनता के पुजारी थे, उनको पितरों पर उतनी ही श्रद्धा थी जितनी देवों पर। सभव है कि इस देवभूमि और पितृ-भूमि की कल्पना में आर्यों के आदि देश की झलक हो। भारतीय विचार-धारा के अनुसार आर्यों के आदि देश का प्रतिबिम्ब संभवतः उनकी आदि सृष्टि की कल्पना में भी छिपा हुआ हो। कहते हैं कि मनुष्य का प्रथम सृजन त्रिविष्टप (तिब्बत) मे हुआ। जो हो, मेरु पर्वत का हमें पता नहीं, तिब्बत मालूम है। वैदिक संहिताओं में पुरानी ऋचाओं में सप्तसिन्धु प्रदेश का और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन ऋचाओं मे और पूरब के प्रदेशों का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर सर्वश्री अविनाशचन्द्र दास और सम्पूर्णानन्द ने भारत के ही उत्तरी भाग को आर्यों का आदि देश माना है। स्वर्गीय लोक-मान्य बाल गगाधर तिलक ने कुछ ऋचाओं के भारी-भारी दिन और रात तथा उषाकाल के वर्णन के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश को आर्यों का आदि देश ठहराया था।

आदिम आर्यभाषा, संस्कृत, अवेस्ती (तथा प्राचीन फारसी), ग्रीक, जर्मनी, लैटिन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तोखारी और हिट्टाइट इन सभी भाषाओं का आदि स्रोत समझी जाती है। इसलिए आदि आर्य भाषा-भाषियों के तथा उनके मूलस्थान के विषय में विचार करते समय इन सब का ध्यान रखना चाहिए न कि केवल भारतीय आर्यों का। इन सबको उचित महत्त्व देकर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने कुछ सुझाव पेश किए हैं। आज से प्रायः सौ साल पहले मैक्समूलर ने मध्य एशिया को मूल स्थान माना था। पर उनकी धारणा के विरोध मे तुरन्त ही वाद उपस्थित किए जाने लगे और एशिया में नहीं बल्कि यूरोप मे ही कहीं मूलस्थान माना जाने लगा। यूरोप के पूर्वी हिस्से का कोई प्रदेश (हंगेरी और रूस के बीच का प्रदेश, पूर्वी या दक्खिनी रूस, उत्तरी जर्मनी, स्कैंडीनेविया, पोलैंड, लिथुएनिया आदि) आर्यों का आदिदेश था यह वाद बहुत दिनों से चला आ रहा है। अपने देश को आर्य-मूलस्थान साबित कर देने से देश-प्रेम और स्वजाति प्रेम की कुछ अनुचित अधिकता भी किसी-किसी वाद की तह में दिखाई पड़ती है। इतिहास मे आर्य जाति का आविर्भाव अन्यों (मिश्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, चीनी आदि) की अपेक्षा अर्वाचीन है। अनुमान है कि आदिम आर्यों का प्रथम संपर्क उत्तरी मेसोपोटैमिया की तत्कालीन सभ्य जातियों से, ईसा के पूर्व तेईसवीं या बाईसवीं सदी में हुआ; ईसा पूर्व २००० वर्ष के

आस-पास उनकी स्थिति मेसोपोटैमिया मे पाई जाती है। प्रायः १४०० ई० पू० के बोग़ाजकोई लेख में आर्यों का प्रथम सर्वथा स्पष्ट उल्लेख है। इस मे मितानी जाति के शासक वर्ग *मयन्नि* (सं० *मर्य*), तथा इन्दर (इन्द्र), *मित्तर* (*मित्र*), उरुवन (वरुण), अरुन (अरुण) और *नासातिय* (*नासत्य*) देवताओं का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि एशिया माइनर मे उस समय आर्य जाति की कोई शाखा उपस्थित थी और इसी से प्रसिद्ध विद्वान सर्जी के इस वाद को कि एशिया माइनर ही आर्यजाति का मूल-निवासस्थान था बहुत कुछ बल मिलता है। आदिम आर्य भाषा के शब्दो की सुमेरी आदि अन्य भाषाओं की तुलना और परस्पर आदान-प्रदान से यह निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि हमें आदि देश की खोज यूरोप में न करके कहीं एशिया में ही करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ब्रैंडेंस्टाइन के वाद को श्रेय दिया है। ब्रैंडेस्टाइन का मत है कि उराल पर्वत का दक्खिनी प्रदेश ही आदिम आर्यों का मूल-निवासस्थान था।

वीराः—इस मूलनिवासस्थान पर रहने वाले सुसगठित आर्यों को भाषाविज्ञानियों ने **वीरोस्* नाम दिया है। स० *वीर*, लै० *उईर*, जर्म० *वेर*, प्राचीन आइरी *फर*, ये सब शब्द एक ही मूल-शब्द के उत्तरकालीन रूप हैं। ये वीर संभवतः अपना आदि निवासस्थान छोड़ने के पूर्व एक ही जाति के थे; गोत्र आदि के रूप में इनकी टोलिया रही होंगी। उराल पर्वत के दक्खिन में विशाल मैदान हैं, यहीं पर अश्व जगलों में पाया गया। वीरों ने उसे शिक्षा देकर पालतू बनाया और यही उनके वाहन का साधन बना। अनुमान है कि यहीं पर वीरो की एक शाखा जो बाद को ईरान और भारत के आर्यों के पूर्वज के रूप में इतिहास में आई, रहती रही और शेष वीर पच्छिम की ओर जाकर पोलैंड में पहले पहल बस गए। पर यह भी सभव है कि ईरानी और भारतीयों के पूर्वज आर्य, तथा हिट्टाइट शाखा के पूर्वज दक्खिन में काकेशस पहाड़ और मेसोपोटैमिया पहुँचे और वहा से ईरान। और ईरान से एक शाखा भारत के सप्तसिंधु प्रदेश में आ गई। यह सब ईसा पूर्व २५००—२००० में हुआ होगा, ऐसा अनुमान है।

वीरों की सब से बड़ी खूबी अश्व था। इसके महत्त्व का जो वर्णन ऋचाओं में है वह गाय का नहीं। इसको लेकर जब वीर पच्छिम और दक्खिन की ओर बढ़े होंगे तब उनके सामने अन्य जातियों का ठहरना असभव हो गया होगा। मेसोपोटैमिया आदि में उस समय बैल (*उक्षा*), ऊँट और गदहे का इस्तेमाल था। ये घोडे के मुक़ाबिले मे ठहर नहीं सके।

ब्रैंडेस्टाइन महोदय का मत है कि वीर सूखी चट्टानों वाली पहाड़ियों पर रहते थे। वहां हरे भरे जंगल नहीं थे; थे केवल कुछ गुल्म और बांझ आदि वृक्ष। जंगली रीछ, ऊदबिलाव, भेड़िया, लोमड़ी, खरगोश, चूहा आदि कुछ जानवरों से वीर लोग अभिज्ञ थे। पालतू जानवरों में घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ता, सुअर और गाय से परिचय था। गाय उन्हें सुमेरी जाति से मिली। सुमेरी में गाय के लिये गुद् शब्द है। इसी से आर्य *ग्वोउस् शब्द का संबंध है। कुछ चिड़ियों और मछली आदि जल-जंतुओं को भी जानते थे। पूरब वाली शाखा अपने नए निवासस्थान में ई० पू० १५०० तक भली प्रकार बस गई थी। पच्छिम वाली शाखा पोलैंड में बसी और उसके कुछ समुदाय बल्कान पहाड़ियों पर होते हुए ग्रीस पहुँचे और यहाँ तथा आस-पास के देशों में वे ई० पू० १००० तक अच्छी तरह बसे पाए जाते हैं।

वीरों के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि पशुपालन और शिकार इनकी जीविका के मुख्य साधन थे। खेती बारी इन्होंने दक्खिन के प्रदेशों में आकर इन प्रदेशों के तत्कालीन मनुष्यों से सीखी। तभी इन्हें गाय और बैल का महत्व मालूम हुआ। इनके मूलस्थान में फलों के वृक्ष भी न थे। फलों का अधिकाधिक प्रयोग भी इन्होंने इन्हीं जातियों से सीखा। वीरों में समाज का संगठन पितृ-प्रधान था। बहु-विवाह की प्रथा न थी। कई कुल मिलकर गोत्र बनता था। इनका दिमाग़ ऊँचे दर्जे का था। संगठन अच्छा था। स्त्री पुरुष के परस्पर व्यवहार में यथेष्ट संयम था। स्त्री जाति का समुचित आदर था। कन्या का विवाह पिता, बड़े भाई आदि की इच्छा और आज्ञा से होता था; स्वेच्छा से नहीं। धर्म के क्षेत्र में, इनको अलक्षित दैवी सत्ता पर विश्वास था और इसकी विविध देवशक्तियों के रूप में कल्पना की गई थी। पृथ्वीलोक के परे द्यौलोक दैवी शक्तियों का निवासस्थान था। द्यौः पिता, सविता, पृथिवी, उषा आदि देवताओं की संख्या परिमित ही थी, मिस्री और सुमेरी जातियों की तरह इनके देवी-देवता बहुतेरे न थे। स्पष्ट ही है कि इस तरह के सुसंगठित और संयमी, शरीर, मन और आत्मा के हृष्ट-पुष्ट वीर जहा भी गए वहां अपनी शक्ति की स्थापना कर सके और अपनी वाणी का प्रभुत्व अन्य वाणियों पर स्थापित कर सके।

आदिम की शाखाएँ

आदिम आर्यभाषा की शाखाएँ कब फूट निकलीं इसका निर्णय कर पाना

असभव है। अनुमान है कि संगठित अवस्था मे भी इसकी बोलियाँ रही होंगी। भिन्न भिन्न बोलियों वाली टोलियाँ (गोत्र) मूलस्थान से, अलग अलग कोई किसी समय, कोई कुछ बाद, कोई उसके भी बाद चल निकली होंगी। मूलस्थान से हट आने पर अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क से इनकी भाषा में विकार की गति किसी-किसी स्थिति में प्रबल और किसी में क्षीण रही होगी। जब इस नजर से हम आर्य भाषाओं पर विचार करते हैं तो संस्कृत आदिम भाषा के सब से अधिक निकट मालूम पड़ती है। यद्यपि तीन मूल स्वर (अ, ऍ, ऑ) इस में एक रूप (अ) में मिलते हैं और म न के स्थान पर भी अ पाया जाता है तब भी अन्य ध्वनियों की और पदरचना की आदिम भाषा से पर्याप्त समानता क़ायम रही है। आधुनिक आर्य भाषाओं का विवेचन करने से हमें पता चलता है कि सभी शाखाओं में विकास की एक ही गति नहीं रही है। उदाहरणार्थ फ़ारसी, विभक्तियों और लिंगभेद की दृष्टि से बहुत कुछ आदिम भाषा से दूर हट आई है, अपेक्षाकृत जर्मन भाषा नजदीक है। लिथुऐनी में अभी कुछ बरस पहले तक द्विवचन मौजूद था, यद्यपि अन्य सभी भाषाओं में वह कभी का समाप्त हो चुका।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लाइखर ने आदिम भाषा से, शाखाओं की दूरी के अनुपात से, कब कौन शाखा अलग हुई इसका हिसाब लगाया था। उनका अनुमान था कि स्लावी-जर्मनी भाषाएँ एक तरफ़ अलग हुईं और दूसरी ओर ईरानी-हिंदी-ग्रीक-इटाली-केल्टी। पहली की बाद को दो शाखाएं हुईं, और दूसरी की एक ओर ईरानी-हिंदी शाखा जा पड़ी और दूसरी ओर ग्रीक आदि अलग-अलग हो गईं। वर्तमान भाषाओं की स्थिति देखकर इस प्रकार निश्चयपूर्वक कह देना नितात असगत है क्योंकि यदि शाखाएं बिना अन्य भाषाओ के सम्पर्क में आए हुए स्वतन्त्र रूप से विकसित होती तब तो ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक होता, परतु भाषा के विकास की परिस्थिति बड़ी जटिल होती है। कितने ही भीतरी और बाहरी कारण आकर उपस्थित हो जाते हैं जो अनुमान के क्षेत्र को बिल्कुल संकुचित कर देते हैं।

पदरचना के हिसाब से हिट्टाइट, आदिम आर्यभाषा के निकट है पर ध्वनि-समूह, वाक्य-विन्यास और शब्दावली की दृष्टि से उस से दूर है। समय की नजर से वह आदिम आर्य से अन्यों की अपेक्षा निकट है; तब भी अंतर बहुत अधिक है, इसी कारण से विद्वानो का मत है कि हिट्टाइट आदिम की समकक्ष रही होगी, सन्तान नहीं।

आर्य भाषाओं की परस्पर तुलना करके, पहले उनको दो समूहों में बाँटा जाता है, एक का नाम केन्टुम् और दूसरे का सतम्। ऊपर (पृ० २२६ पर) आदिम भाषा की ध्वनियों पर विचार करते समय हम ने देखा है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालव्य गौण सहायता से होता था। ये कवर्ग ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में तो स्पर्श वर्ण रह गई हैं, लेकिन अन्य कुछ में संघर्षी या स्पर्श संघर्षी हो गई हैं। केन्टुम् (centum) एक भाषा-समूह की प्रतिनिधि भाषा लैटिन का शब्द है और सतम् दूसरे समूह की प्रतिनिधि ईरानी का। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	केल्टी	जर्मनी	स्लावी	बाल्टी	ईरानी	भार०
*क्ʹमताम्	हेकटोन	केन्टुम्	कैन्ट	ह'ड्र'ड	सुतो	शितस्	सतम्	शतम्
*क'लवास्	क्लेओस	इन्क्लुतुस्	क्लु-		स्लोवो		स्रवः	श्रवः
*वोइको'स्	ओइकोस्	वीकुस्		वीह्स्	विसि	विएश्	वीस्	वेश
*गो'नु	गोनु	गेनु		नी			जानू	जानु
*गं'नोस्	गंनास्	गेनुस्		किन्			ज़नु-	जनुः
*व'घ'	ओखास्		हिन्	अर-वैन् वेगन्	वेजॉ	वेजु	वजैति	वहति

केन्टुम् और सतम् समूहों का परस्पर एक और भेदक लक्षण है। आदिम भाषा के कवर्ग की तृतीय श्रेणी के उच्चारण मे ओठो की गौण सहायता ली जाती थी। इस गौण सहायता का अवशेष केन्टुम् भाषाओं में अब भी मौजूद है पर सतम् भाषाओं मे इसका लोप हो गया है। उदाहरण के लिए नीचे कुछ शब्दों को देखा जाय।

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	जर्मनी	भारतीय	ईरानी
*क्वोतेरोस्	पोतेरोस्		व्हेदर्	कतरः	
*क्विद्	ति	क्विद्	व्हिट्	चिद्	
*ग्वी वोस्	विओस्	वीव ास्	किउस्	जीवः	जीवो
*घ्वोर्मास्	थेमोस	फार्मस्	वार्म	घर्मः	गर्म (गरम)
*स्नेइघ्व	निफ	निवम्	स्नइव्स्	स्निग्ध	

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी ऐस्कोली ने १८७० ई० मे केन्टुम् और सतम् भाषाओ का विभेद स्पष्ट रूप से विद्वन्मडली के सामने रक्खा था। कुछ समय तक केन्टुम् पच्छिमी शाखा और सतम् पूर्वी शाखा समझी जाती रही पर बीसवीं सदी के आरभ मे तोखारी निकल पडी जो मध्य एशिया की होते

हुए अर्थात् पूरब में स्थिति रखते हुए भी केन्टुम् शाखा की है क्योंकि उसमे कवर्ग की प्रथम श्रेणी सघर्षी वर्णों मे परिणत नही पाई जाती है, यद्यपि तृतीय श्रेणी के कवर्ग से विकसित ध्वनियों मे ओष्ट्य् उच्चारण का अभाव है। इसलिए पूर्वी और पच्छिमी शाखाएँ समझना असगत है। इस द्विधा विभाग के अनुसार केल्टी, जर्मनी, इटाली, ग्रीक, हिट्टाइट और तोखारी केन्टुम् भाषाएँ है तथा अल्बेनी, स्लावी, बाल्टी, आर्मानी और हिंद-ईरानी सतम् हैं।

यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं कहीं कही जा सकती कि केन्टुम् और सतम् का भेद आदिम भाषा मे बोली-स्वरूप मौजूद था या नहीं। और यदि था भी तो आज जो शाखाएँ इनके अंतर्गत हैं उन्हीं के मूलरूपों (विशिष्ट बोलियों)मे ही था या और कही। आरभ से ही यह द्विधा विभाग मान लेना असगत बात होगी। उदाहरणार्थ जर्मनी और आर्मीनी दोनो शाखाओं मे आदिम ब, द्, ग् का क्रमशः प्, त्, क् रूप पाया जाता है पर इससे दोनों मे आदि काल के किसी सबंध की कल्पना कर बैठना निर्मूल है। अगले अध्याय मे केल्टी आदि शाखाओं का विवेचन किया जायगा।

पच्चीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार की शाखाएं

केल्टी

इस शाखा की भाषाएँ आज से दो हजार साल पहले आयलैंड, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस के कुछ भाग, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, जर्मनी, स्पेन, इटली, ग्रीस आदि यूरोप के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती थीं। पर अब ये आयलैंड, स्काटलैंड, और इंग्लैंड के वेल्ज और कार्नवाल प्रदेशों में ही पाई जाती हैं। आयलैंड मे जब तक अगरेजों का प्रभुत्व रहा तब तक अगरेजी सर्वेसर्वा रही, पर देश की स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश की अपनी भाषा आइरी (गैली) भी फिर काम में आने लगी है। गैली का साहित्य ई० पाँचवी सदी तक का पाया जाता है।

केल्टी में आदिम क्व् कहीं प् रूप मे (*पेंक्वे <पम्प्) और कहीं क् रूप में (कोइक्) पाया जाता है।

केल्टी की इटाली शाखा से काफ़ी समानता है, प्रायः उसी प्रकार की जैसी भारतीय और ईरानी की परस्पर है। मुख्य समानताएँ ये हैं—

(क) ओकारान्त पुलिंग और नपु० संज्ञाओं की षष्ठी (सम्बन्ध-) विभक्ति का प्रत्यय-ई।

(ख) क्रियार्थक संज्ञा का प्रत्यय-शन् (tion)।

(ग) कर्मवाच्य की प्रक्रिया।

केल्टी के तीन वर्ग माने जाते हैं—

(क) गौली (Gaulish)

(ख) गोइडेली (Goidelic)

(ग) ब्राथानी (Brythonic)

गोइडेली के अन्तर्गत आइरी, स्काटी और गैली हैं तथा ब्राथानी की वेल्श, ब्रेटन और कार्निश।

गौली और ब्राथानी में आदिम आर्य का क़्-प् में (*पेंक्वे>पम्प) किन्तु गोइडेली में क़् (*पेंक्वे>कोइक्क) में परिणत हो गया है।

इटाली

इस शाखा की प्राचीन भाषाओं में से लैटिन अब भी वर्तमान है। इसी से रोमांस भाषाएँ (स्पेनी, पुर्तगाली आदि) निकली हैं। पर लैटिन की समकक्ष अन्य प्राचीन भाषाएँ इस शाखा मे रही होंगी। कुछ लेखों से पता चलता है कि ओस्की और उम्ब्री भाषाएँ ईसवी पहली सदी तक वर्तमान थी। इन दोनों में आदिम क्' क्व >प् हो जाता है, लैटिन में क़ रहता है (सं० अश्वः, लै० ऍकुउस्,ओ० ऍपो)।

लैटिन रोम की भाषा थी और रोमन साम्राज्य के साथ-साथ सारे यूरोप में फैली। इसके लेख २५० ई० पू० तक के मिलते हैं। यह साम्राज्य कई सदियों तक कायम रहा। उस समृद्धिकाल में कुछ देशों में वहाँ की देशी भाषाओं को परास्त कर के यही वहाँ की भाषा बन बैठी। साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर केन्द्रसे सम्पर्क शिथिल पड़ गया और इन विभिन्न देशोंकी लैटिन भाषाओंने अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाओं की सत्ता प्राप्त कर ली। पर साहित्यिक लैटिन बराबर साहित्य और धर्मकृत्यों में, संस्कृत की भाँति, काम में लाई जाती रही और आज भी रोमन-कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। लैटिन मे ग्रीक की तरह का रूप-बाहुल्य नहीं है, पर प्राचीनता की प्रचुर सामग्री तब भी मौजूद है।

रोमांस शब्द का वास्तविक अर्थ है रोम की। अन्य भाषाओं की तरह साहित्यिक लैटिन और बोलचाल की लैटिन में आरंभ से ही अन्तर पड़ गया था। ईसवी प्रथम शती के अन्त तक तो साहित्यक भाषा अपना प्रभुत्व जमाए रही पर बाद में बोलचाल की भाषा को वह दबाए न रख सकी। धार्मिक क्रान्ति और बर्बरों के आक्रमणों ने भी साहित्यिक लैटिन को क्षति पहुँचाई। विभिन्न प्रदेशोंकी बोलचाल की लैटिन उन-उन प्रदेशों मे खूब जम गई और ८वीं शती ई० तक साहित्यिक लैटिन का पराजय सम्पूर्ण हो गया। इसी समय से इटाली अथवा रोमांस भाषाओं का आविर्भाव माना जाता है। इन में लैटिन के पूर्व बोली जाने वाली भाषाओं के अवशिष्ट चिह्न नगण्य हैं।

शब्दों के आदि के व्यंजन प्राय. अक्षुण्ण रह गए हैं पर मध्य के व्यजनों में काफी परिवर्तन और विकास हुआ है। उदाहरणार्थ सभी रोमास भाषाओं में -ब-का परिणाम -व्- हो गया है। प्रायः शब्दों के अन्त्य -म्-न् का सर्वत्र ह्रास है।

पदरचना मे दो बाते मुख्य हैं—(क) संज्ञा और क्रिया के रूपो मे विकार और (ख) संयोग से वियोग की ओर प्रवृत्ति। सभी भाषाओं से नपुंसक लिंग दूर हो गया है। सज्ञा और विशेषण के एकवचन में एक ही विभक्ति रह गई है। क्रिया के रूपों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है।

वाक्य मे पदो के स्थान का महत्त्व बढ गया है और कर्त्ता-क्रिया कर्म यह क्रम प्रायः निश्चित हो गया है। अव्ययों की सख्या बढ़ गई है तथा क्रियाओं के अधिक-कालों और क्रिया-विशेषणों एवं उपसर्गो की अधिकता से भाषाओं मे एक विशेष निश्चितार्थत्व आ गया है।

नीचे लिखी आधुनिक भाषाओं का विकास लैटिन से ही हुआ है।

इटाली—इटली, सिसिली, और कार्सिका में बोली जाती है। वर्तमान इटली राज्य की राजभाषा है। ६६४ ई० तक के लेख मिलते हैं।

रुमानी—रुमानिया, ट्रासिल्वेनिया और ग्रीस के कुछ प्रदेश में बोली जाती है। इस पर स्लावी और तुर्की का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। साहित्य १६वीं सदी से आरम्भ होता है।

प्रोवेंशल—फ्रास के दक्खिनी हिस्से मे ११वीं-१३वीं सदी में बोली जाती थी और अब भी एक छोटे से प्रदेश में वर्तमान है। गठन मे इटाली और फ्रेंच के बीच की है। ११वीं सदी तक का साहित्य मिलता है।

फ्रेंच—फ्रास की भाषा है। ८४२ ई० तक पुराने लेख मिलते हैं। पेरिस की बोली ही राजभाषा बनी और राजनीतिक प्रभाव के कारण पिछली सदी तक समस्त यूरोप की आधुनिक सस्कृति की भाषा बनी रही।

पुर्तगाली—पुर्तगाल की भाषा है। १२वीं सदी तक का पुराना साहित्य है।

स्पेनी—स्पेन की भाषा है। इसका भी साहित्य १२वीं सदी तक का मिलता है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की एक विशिष्ट भाषा सेफार्डी है। इसका ढाँचा स्पेनी है पर अन्य बहुतेरी बाते सामी।

इटली, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रास आदि के साम्राज्य के साथ-साथ इन देशों की भाषाएँ अमरीका और अफ्रीका के इन देशों के उपनिवेशो में जाकर फैली हैं।

ग्रीक

इस शाखा के अन्तर्गत प्राचीनकाल में ही बहुत सी बोलियाँ थीं। इनमे ई० पू० ७वीं ८वीं सदी तक के लेख मिलते हैं। होमर के महाकाव्य इलियड और ओडेसी तो ई० पू० १००० के माने जाते हैं प्राचीन बोलियों मे ऐटिक और डोरिक प्रधान थीं। जो बोली कई बोलियों के क्षेत्र में सर्वसामान्य भाषा की सत्ता प्राप्त कर सकी उसे कोइनी (Koine) कहते थे। ऐटिक सर्वसामान्य भाषा के रूप में ई० पू० चौथी सदी से आगे बराबर काम मे लाई जाने लगी। परिणाम-स्वरूप अन्य बोलियाँ मर-मरा गई। आधुनिक ग्रीक इसी ऐटिक से विकसित हुई है और ग्रीस में तथा पास के समुद्रों के द्वीपो मे और आस-पास के देशों में यत्र-तत्र बोली जाती है।

ग्रीक और संस्कृत की तुलना करने पर बहुतेरे समान लक्षण पाए जाते हैं। ग्रीक में मूल स्वर संरक्षित पाए जाते हैं, संस्कृत में मूल व्यंजन। दोनों में सुर है। संस्कृत में विभक्ति-रूप सम्पूर्ण पाए जाते हैं, ग्रीक मे खंडित। दोनों में अव्ययों का बाहुल्य है। समास और द्विवचन दोनों मे हैं। दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद हैं। लकारों की समृद्धि संस्कृत मे अधिक है पर ग्रीक मे निष्ठा, तुमन्त, पूर्वकालिक क्रिया आदि की।

प्राचीन इतिहास से थ्रेशी, फ्रिजी और मैसेडोनी भाषाओं का भी पता चलता है। ये ग्रीक और आर्मीनी के बीच की रही होगी। फ्रिजी आर्मीनी के सन्निकट समझी जाती है।

जर्मनी

इस नाम के अंतर्गत अंगरेजी, जर्मन, डच आदि, वर्तमान पच्छिमी यूरोप की कई भाषाएँ आती हैं। 'जर्मनी' शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग केल्टों द्वारा मिला है जो प्रायः ई० पू० पहली सदी का है और अनुमान है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'पड़ोसी' के अर्थ मे किया है। इनके एक ओर केल्ट और दूसरी ओर स्लाव जाति के लोग थे। निश्चय है कि ईसा के दो चार सदी पूर्व ही इस शाखा में विभिन्न बोलियाँ हो गई थीं। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। ट्यूटन शब्द से जर्मन, इंगलिश आदि सभी

जातियों का बोध होता है। जर्मनी के उत्तरी भाग की भाषा के कुछ लेख रूनी लिपि में खुदे हुए ई० तीसरी सदी के मिलते हैं। यह लिपि इनकी निजी थी और ग्रीक और रोमन से भिन्न। इसके अलावा गाथी बोली में बिशप उल्फिलस (३११-३८१ ई०) कृत इंजील का अनुवाद भी मिलता है। यही इस शाखा की सब से पुरानी सामग्री है। इस प्राचीन सामग्री के आधार पर, आरंभ से ही इस शाखा की अतर्गत भाषाओं के तीन समूह हो जाते हैं, उत्तरी, पूर्वी और पच्छिमी।

उत्तरी समूह की प्राचीन नार्स या प्राचीन स्कैंडीनेवी के लेख तीसरी सदी से ८वीं सदी तक के मिलते हैं। ११वीं सदी से दो शाखाएँ फूट निकली मालूम होती हैं, (क) पच्छिमी स्कैंडीनेवी जिसमे आइसलैंड की भाषा आइसलैंडी और नार्वे की भाषा नार्वेजी है और (ख) पूर्वी स्कैंडीनेवी जिसमें स्वीडेन की भाषा स्वीडी और डेनमार्क की डेनी आती हैं। आइसलैंडी के एड्डा नाम के गीत (१२००-१३५० ई० के) संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

पूर्वी समूह की प्राचीन बोली गाथी का उल्लेख हो चुका है। इसके अलावा कई और थीं। ये सब अब केवल साहित्य में ही मिलती हैं। पच्छिमी समूह के अंतर्गत तीन शाखाए हैं, (क) इगलिश-फ्रीज़ी (ख) जर्मन और (ग) डच।

इंगलिश-फ्रीजी के अंतर्गत दो भाषाए हैं, अगरेज़ी और फ्रीजी। फ्रीज़ी बोलने वाले लोग हालैंड में और जर्मनी के उत्तर-पच्छिमी भाग मे रहते हैं। इनकी बोली के ग्रंथ १३वीं सदी तक के पुराने मिलते हैं। फ्रीजी गठन में अन्य जर्मनी भाषाओं की अपेक्षा अंगरेजी से सर्व-निकट है।

अगरेजी का नाम इंगलिश इसके बोलने वाले ऐंगेल (Angel) जाति के कारण पड़ा। सैक्सन, जूट आदि अन्य सहकारी जातियों के साथ इन्होंने ब्रिटेन पर ५वीं ६ठी सदी में धावा किया और यहाँ के निवासियों को परास्त करके उन पर अपनी भाषा का आरोप किया। अंगरेजी भाषा के सर्वप्रथम लेख, धर्म-ग्रंथों की टीका के रूप मे ७वीं सदी तक के मिलते हैं। गठन आदि विकास के अनुकूल, अगरेजी के तीन काल निर्धारित किए जाते हैं—(क) प्राचीन, प्रायः ११वीं सदी के अत तक, (ख) मध्य, १५वीं, सदी तक और (ग) आधुनिक प्रायः १५०० ई० से इधर। अगरेजी की ही कई बोलियाँ हैं (Put उत्तरी पट् दक्खिनी पुट्), पर १६वीं सदी से ही लन्दन और उसके

आस-पास की बोली को राजभाषा का श्रेय मिलता रहा है और आज यही प्रमुख है। अंगरेजी आज बीस पच्चीस करोड़ मनुष्यों की बोली है, ब्रिटिश साम्राज्य और अमरीका साम्राज्य के साथ साथ यह सब तरफ फैली है। इग्लैंड की और अमरीका की भाषाओं मे विशेष अंतर है, प्रायः इतना कि बोली से ही, बोलने वाला अमरीका निवासी है या इग्लैंड का रहने वाला यह बात जानी जा सकती है। अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में फैलने के कारण इगलिश के विभिन्न रूपान्तर हो गए हैं। चीनी मनुष्य की अगरेजी को हमारे साहब लोग पिडगिन इंगलिश और हमारी को बाबू इगलिश कहते हैं। आधुनिक अगरेजी गठन म सीधी सादी है और प्रायः अयोगावस्था आकृति की ओर जा पड़ी है। उसके सीखने में जो कठिनाई है वह इस कारण से कि उसका अक्षर-विन्यास बड़ा दोष-पूर्ण है, लिखते कुछ हैं और पढ़ते कुछ। इस दोष को मिटाने का कुछ प्रयास अमरीका में हुआ है पर बहुत सफल नही हो पाया। अपने प्रसार के कारण अगरेजी आज ससार की प्रमुख भाषा मानी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राजनीति में अब इसका सर्वत्र प्रयोग होता है और इस क्षेत्र मे इसने पिछले तीस चालीस साल में फ्रेंच को हटा भगाया है।

जर्मन—इस समूह की बोलियो का विभाग हाइ (उच्च) जर्मन और लोड (निम्न) जर्मन के रूप में ८वीं सदी के आरंभ से ही मिलता है। हाइ बोलिया दक्खिनी और पर्वतीय प्रदेश की हैं और लोड उत्तरी की जो अपेक्षाकृत ऊँचाई में कम है। यह विभाग व्यञ्जनों के एक भेदक विकास के कारण किया जाता है। प्राचीन जर्मन के प्, ट्, क् यदि दो स्वरों के मध्य मे या शब्द के अत मे किसी स्वर के बाद स्थित हों तो जर्मन मे उनके स्थान पर क्रम से फ़् (फ़्फ) स् (स्स्) और ह् ह् (ख़् ch) हो जाते हैं। लोड जर्मन (और अंगरेजी जो इस विकास के पूर्व ही यहाँ से ब्रिटेन जा पड़ी थी, उस) में यह नही होता।

उदाहरणार्थ—

हाइ जर्मन	श्लाफ़न	लासन्	त्साइशे (ख़े)न्
इंगलिश	स्लीप	लेट	टोकेन्

इसी प्रकार प्राचीन जर्मन के शब्द के आदि मे या किसी व्यञ्जन के उपरान्त स्थित प्, ट्, क् के स्थान पर हाइ जर्मन में क्रम से फ्, त्स् (ज्) और क्ख़्

हो जाते है, यह विकास भी लोउ जर्मन और अगरेज़ी मे नही मिलता। उदाहरणार्थ

हाइ जर्मन	फ़ुंड्	त्सेह् न्	गा० क्रिउ की
इगलिश	पॉउंड्	टेन्	नी (क्नी)

जर्मन भाषाओं के व्यजनो के इस विकास को द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन कहते है। पहला ध्वनि परिवर्तन कई सदी पहले हो चुका था। इसका उल्लेख आगे किया जायगा। प्रायः ११०० ई० तक की हाई जर्मन को प्राचीन काल की तब से १५५० ई० वाली तक को मध्यकाल की, और इधर वाली को आधुनिक कहते हैं। आधुनिक काल मे ही साहित्यिक और राजकीय जर्मन का विकास हुआ है। आधुनिक जर्मन भाषा भाषियो की सख्या ८ करोड़ से ऊपर है। जर्मनी के अलावा पास पड़ोस के चेकोस्लोवैकिया, स्विटजरलैंड, बेल्जियम आदि राज्यों मे जर्मन भाषा-भाषी बहुत लोग हैं। जर्मन भाषा मे विज्ञान और दर्शन संबधी बड़ा ऊँचा साहित्य है। इसकी तुलना ससार मे कोई साहित्य नहीं कर सकता। जर्मन लोग अपनी भाषा को डाइटशे कहते है जिसका अर्थ है 'जन भाषा'।

डच भाषा मुख्य रूप से हालैंड की भाषा है और इधर १६वीं सदी से लगा कर आज तक बराबर इसकी उन्नति होती आई है। बेल्जियम की भाषा इस से बहुत मिलती जुलती है।

जर्मनी शाखा की सभी भाषाओं पर सामूहिक रूप से विचार करने पर पता चलता है कि ये सभी, आर्य परिवार की अन्य शाखाओं की भाँति, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था से अयोगात्मक होती जा रही हैं, कोई कम, कोई ज्यादा। जर्मन की अपेक्षा अगरेजी ज्यादा अयोगात्मक हो गई हैं। सभी मे बलाघात महत्त्वपूर्ण स्थिति को पहुँच गया है। आदिम आर्य मे सुर था, इस शाखा मे इसका अवशेष केवल स्वीडी मे पाया जाता है। अन्यत्र सब भाषाओं मे बलाघात है और सो भी प्रत्यय पर नहीं धात्वंश पर।

जर्मनी शाखा का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण उसके कुछ ध्वनि-नियमों के रूप मे है। इन नियमों मे सर्व प्रमुख ग्रिम-नियम है। सन् १८१९ मे याकोब ग्रिम नामक विद्वान ने डोइटशेस ग्रामाटिक नाम का जर्मन भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया। तीन साल बाद १८२२ मे उन्होने इस पुस्तक का दूसरा सस्करण निकाला। इस संस्करण में उन्होंने जर्मन भाषा सबन्धी चन्द ऐसे

नियम स्पष्ट और विशद रूप से विद्वानो के सामने रक्खे जिनसे जर्मन भाषा के विकास के समझने में बड़ी आसानी हुई। इन नियमो का सकेत कई साल पूर्व प्रसिद्ध डेनी विद्वान रास्क ने भी किया था। पर इनका स्पष्ट अभिधान ग्रिम ने ही किया, इसलिये ये ग्रिम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ग्रिम-नियम के अनुसार जर्मनी शाखा में ये परिवर्तन हुए—

(क) आदिम आर्य भाषा के क्, त्, प् के स्थान पर क्रम से ख़् (ह्), थ्, फ़्।
(ख) „ „ ग्, द्, ब् „ „ क्, त्, प्
(ग) „ „ घ्, ध्, भ् „ „ ग्, द्, ब्

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अगरेजी
*क'रद्	श्रद्-(धा)	कर्द्-	कोर्-द्	हैर्तों	हॉर्ट्
*त्रे'यस्	त्रि	त्रेइस्	त्रेस्	थ्रीस्	थ्री
*पोद्	पाद्	पोउस्	पेस्	फ़ोटुस्	फुट
*गे'नोस्	जनुः	गेनोस्	गेनुस्	कुनि	किन्
*देकं	दश	डेक	डेकेम्	तेहुन्	टेन्
*स्लेउब्			लूब्रिकुस	स्लिउपान्	स्लिप्
*घ'नूस्	हंसः	ख़ेन् (ख़ान्)	आन्सेर	गन्स्	गूज़्
*मेधु	मधु	मे.थु	*मेदू (केल्टी)		मीड्
*मेरो	भरा-मि	फेरो	फेरो	बैरान्	बेयर्

ग्रिम द्वारा प्रतिपादित इस ध्वनि-नियम से जर्मनी शाखा के शब्दों में के अधिकाश व्यंजनों का समाधान हो गया, पर ग्रिम ने स्वयं अनुभव किया था कि तब भी बहुतेरे अपवाद रह जाते हैं। इन में से एक अपवाद यह था कि जहाँ अधिकाश आदिम ब्, द् की जगह इस शाखा में क्रम से प्, त् मिलते हैं, वहाँ गाथी बिउद, बिन्दान्, दाम्स् आदि शब्दों में आदिम ब् और द् की जगह ब्, द् ही पाये जाते हैं, प्, त् नहीं। इस अपवाद का समाधान हर्मन ग्रासमन नामक, संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान ने किया। इन्होंने प्रतिपादित किया कि संस्कृत और ग्रीक के एक स्वकीय नियम के अनुसार, यदि आदिम भाषा मे धातु के आदि और अन्त दोनो स्थानों पर महाप्राण ध्वनि

थी तो इन दो भाषाओं में,एक महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण कर दी जाती थी। इस प्रकार गाथी *बिउद* (सं० बोध्-) *विन्दान्* (सं० वन्ध्-) और *दान्स्* (सं० दभ्-)के आदिम भाषाके रूप *भेउध-*, *भेन्ध्-* और *धोभ्* की कल्पना की गई। संस्कृत और ग्रीक दोनों, आदिम भाषा की सर्वप्राचीन प्रतिनिधि हैं, इस बात से यह भी विचार उठा कि संभव है कि आदिम भाषा की ही दो अवस्थाएँ रही हों, (१) जब धातु में दो महाप्राण रह सकते थे। और (२) जब धातु में एक ही महाप्राण संभव था। ग्रासमन द्वारा प्रतिपादित इस विवेचन को ग्रासमन्-नियम कहा जाता है।

ग्रिम-नियम के अनुसार आदिम क, त्, प् की जगह जर्मनी शाखा में ख़् (ह्), थ़्, फ़् मिलना चाहिए, पर कुछ शब्दों में क्रम से ग़्, द़्, व़् मिलते हैं। इस अपवाद का समाधान कार्लवर्नर ने किया, और इसलिए इस ध्वनि नियम को वर्नर नियम कहते हैं। इसके अनुसार, आदिम आर्य क्, त्, प् यदि शब्द के आद्यक्षर हो तो जर्मनी शाखा में अवश्य ख़् थ़् फ़् हो जाते हैं। पर शब्द के बीच में या अन्त में आने पर ये तभी ख़् थ़् फ़् परिवर्तित होते हैं जब आदिम आर्य शब्द में इनके अनन्तर पूर्व स्वरों पर सुर हो अन्यथा(अर्थात् सुर सान्तर पूर्व अथवा बाद में होने पर) इनके स्थान पर ग् द् व् (वास्तव में ग़् द़् व़्) हो जाते हैं। उदाहरणार्थ

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अंगरेजी
युव्̥न्कोस्	*युवशः*		*युवॅन्कुस्*	*युङ्ग्-स्*	*यंग्*
क्̥मतो'म्	*शत'म्*	*हेकतोन्*	*केनटुम्*	*हुन्द*	*हंड्रेड्*
लेइप्	*लिम्पा'मि*	*लिपरेओ*	*लिप्पुस्*	*बि-लीव्*	*बेलीफ़ान्* (*लीव*)
सेप्त̥न	*सप्त*	*हेप्त*	*सेप्टेम्*	*सिबुन्*	*सेवेन्*

अनुमान है कि ऐसे उदाहरणों में विकास का क्रम क् त् प् 7ख़् थ़् फ़्, 7घ्, ध्, भ्, 7ग़्, द़्, व़्, 7ग्, द्, व्, रहा होगा।

ग्रिम आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित इस विकास को ही जर्मनी शाखा का प्रथम ध्वनि परिवर्तन कहते हैं। द्वितीय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम परिवर्तन ईसवी सन् की पूर्व की सदियों में हो चुका था, द्वितीय प्रायः ६०० ई० से आरम्भ होकर ८०० तक पूरा हुआ।

तोखारी

इस सदी के आरम्भ में कुछ जर्मन विद्वानों ने मध्य एशिया के तुर्फ़ान प्रदेश में अनुसन्धान किया था। अन्य सामग्री के साथ-साथ उन्हे भारतीय लिपि में लिखे कुछ ऐसे ग्रन्थ मिले, जिनकी भाषा अब तक की ज्ञात भाषाओं से भिन्न थी। पढ़ने पर यह आर्य परिवार के केंटुम वर्ग की साबित हुई। इस पर उराल-अल्ताई भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। स्वरों की जटिलता कम हो गई है और स्वर-मात्रा छोड़ दी गई है। सन्धि के कुछ नियम संस्कृत के से हैं। सर्वनाम और संख्यावाची शब्द निश्चित रूप से आर्य हैं। आठ विभक्तियाँ हैं। क्रिया के रूपों में जटिलता है। शक जाति की एक शाखा की यह भाषा थी। इस शाखा ने ई० पू० दूसरी सदी में मध्य एशिया में साम्राज्य स्थापित किया था।

अल्बेनी

इसके लेख १५ वी सदी ई० से पुराने नही मिलते। बहुत दिनों तक इसको स्वतन्त्र शाखा की सत्ता नहीं दी गई थी। पर ध्वनि समूह और गठन दोनों से इसको स्वतन्त्र सत्ता देनी पड़ी। यह ऐड्रियाटिक सागर के पूरब वाले पहाड़ी प्रदेश की भाषा है और बोलने वाले केवल क़रीब १५ लाख हैं। शब्द-समूह अधिकतर विदेशी, ग्रीक लैटिन आदि, भाषाओं से उधार लिया हुआ है।

हिट्टाइट

बोगाजकोई मे कीलाक्षर लेखों मे एक भाषा ऐसी मिली है जो पदरचना की दृष्टि से निश्चय ही आर्य परिवार की है। संज्ञा की छः विभक्तियाँ, शतृ रूपों के समान रूप, सर्वनामों की समानता और क्रिया के पुरुषों और वचनों में रूप-विभिन्नता सभी बाते आर्य होने की पोषक हैं। शब्दावली अवश्य अधिकाश में मेल नही खाती और ध्वनि-सामंजस्य की भी चूल कहीं कही नहीं बैठती पर इस भेद का कारण यही हो सकता है कि यह भाषा विषम परिस्थिति मे पड़ गई थी। हिट्टाइट केन्टुम वर्ग की भाषा है। हिट्टाइट जाति का उल्लेख ऊपर किया गया है।

बाल्टी

बाल्टी शाखा के अन्तर्गत तीन भाषाएँ हैं प्रशियाई, लिथुएनी और लेटी। प्रशियाई अब जीवित भाषा नहीं हैं, पहले यह प्रशिया नाम के जर्मनी के एक प्रदेश में बोली जाती थी। वहाँ अब जर्मन बोली जाती है। प्रशियाई साहित्य

में १५ वीं १६ वीं सदी की कुछ पुस्तकें हैं। इन्हीं से हमें इस भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है।

लिथुएनी का भी साहित्य १६ वीं सदी से पुराना नहीं मिलता पर इसका विकास इतने धीरे धीरे हुआ है कि इसके विविध रूपों की तुलना चौथी सदी की गाथी से कर सकते हैं। इसमें ग्रीक की तरह सुर अब भी विद्यमान है। द्विवचन के रूप भी हैं। यह लिथुएनिया राज्य की भाषा है जिसने पिछले महासमर में स्वतन्त्रता प्राप्त की थी और अब रूसी (सोविएत) राष्ट्रसंघ मे शामिल हो गया है।

लेट्टी लैट्विया राज्य की भाषा है। यह भी रूस से जा मिला है। इसका भी साहित्य १६ वीं सदी के पहले का नहीं मिलता। यह भाषा लिथुएनी की अपेक्षा अधिक विकसित है।

स्लावी

बाल्टी और स्लावी शाखाओं में परस्पर काफी समानता है, विशेषकर संज्ञा के रूपों की और शब्दावली की। इसलिए कभी-कभी दोनों शाखाओं को मिला कर बाल्टो-स्लावी कहते हैं। भाषाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से इन सब में लिथुएनी ही प्रमुख है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्लावी शाखा के तीन विभाग किए जाते हैं, दक्खिनी, पूर्वी और पश्चिमी। दक्खिनी विभाग के अन्तर्गत बल्गेरिया की भाषा बल्गेरी, और यूगो-स्लाविया की सर्बो-क्रोटी हैं। बल्गेरी में ६ वीं सदी का इंजील का अनुवाद मौजूद है। स्लावी शाखा का यही सब से प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन बल्गेरी में तीनों वचन मिलते हैं। आधुनिक बल्गेरी प्रायः अयोगावस्था की है और शब्दावली में बहुतेरे शब्द तुर्की, ग्रीक, रुमानी आदि भाषाओं से आ गए हैं। बल्गेरीभाषियों की संख्या कोई ३० लाख है। सर्बोक्रोटी का साहित्य इधर पिछली सदी में ही बना है। बोलने वालों की संख्या करीब एक करोड़ के है।

पूर्वी विभाग का साहित्य ११ वीं सदी तक का मिलता है। इसके अन्तर्गत कई भाषाएं हैं। ये प्रायः १२ वीं सदी तक एकरूप थीं। ये सब रूसी भाषाएं हैं और उस महादेश के विभाग के अनुसार लघुरूसी, श्वेतरूसी, और महारूसी कहलाती हैं। लघुरूसी (या रुथेनी) प्रायः तीन करोड़ जनता की भाषा है और दक्खिनी रूस (उक्रेन) मे बोली जाती है। श्वेतरूसी श्वेतरूस नाम के अर्थात पश्चिमतम प्रदेशों में बोली जाती है। महारूसी को कभी-कभी केवल

रूसी कहते हैं। यह रूस के प्रधान नगर मास्को से फैली और अब संसार की प्रमुख भाषाओं में से है। बोलने वालों की संख्या दस करोड़ से ऊपर है। इसने १८ वीं सदी से समस्त रूस की सामान्य और राजकीय भाषा होना आरंभ किया।

पच्छिमी विभाग के अन्तर्गत चेकोस्लोवाकिया की भाषा चेक और पोलैंड की पोली हैं। चेक के बोलने वाले क़रीब अस्सी-नब्वे लाख हैं, पोली के करीब दो करोड़। चेक का साहित्य १३ वीं सदी से और पोली का १४ वीं से आरंभ होता है।

आर्मीनी

आर्मीनी भाषा-भाषियों की संख्या कोई पचास लाख है। आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, ५ वीं सदी ई० तक ईरान का ही युवराज आर्मीनिया का राजा होता था। इस भाषा में दो हजार से ज्यादा फ़ार्सी शब्द हैं, अरबी काकेशी आदि के भी हैं पर इतने अधिक नहीं। इन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक आर्मीनी ईरानी की केवल शाखा मात्र समझी जाती रही। पर गम्भीर अध्ययन के फल-स्वरूप इसकी सत्ता स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्थापित हो गई है। सभवतः इसकी स्थिति ग्रीक और हिन्द-ईरानी के बीच की है। मेसोपोटैमिया के और काकेशस पर्वत के दक्खिनी भाग और काले सागर के दक्खिनी किनारे के बीच में स्थित प्रदेश की यह भाषा है। आर्मीनी भाषा का सब से पहला ग्रन्थ इंजील के शुभ सवाद (गॉस्पेल) का ६वी सदी मे किया हुआ अनुवाद है। इस पुस्तक की भाषा ६ वी से भी दो-तीन सदी पूर्व की मानी जाती है। बोलियों मे सर्व-प्रमुख स्तम्बूल की बोली है।

बाक़ी बची हिन्द-ईरानी। इसका विवेचन अगले अध्याय मे किया जायगा।

छब्बीसवां अध्याय

हिंद-ईरानी शाखा

आर्य-परिवार की यह शाखा कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इसी में आर्य-जाति का प्राचीनतम साहित्य मिलता है। ऋग्वेद संहिता को विविध विद्वान् ।३००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रखते हैं। अवेस्ता ७०० ई० पू० का ग्रन्थ समझा जाता है। इन दो के मुकाबिले में केवल ग्रीक भाषा वाले, होमर के महाकाव्य (ई० पू० १०००) ही ठहर सकते हैं। अन्य शाखाओं में साहित्य-निर्माण बहुत बाद को शुरू हुआ। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा के आर्य मेसोपोटैमिया होते हुए पूरब की ओर बढ़े। ई० पू० १४०० के बोगाज-कोई लेख में कई आर्य गोत्रों का उल्लेख पाया जाता है। प्रायः १८०० ई० पू० तक मर्यन्नि, हर्रि, मन्द और कस्सि नाम के गोत्रो ने बाबेरु राज्य पर आधिपत्य प्राप्त करके कई सदियों तक शासन किया। कुछ गोत्र मेसोपोटैमिया में न ठहर कर और आगे बढते हुए ईरान आए। इन मे परशु और मद गोत्र मुख्य थे। शक गोत्र वाले और आगे बढ़ते हुए मध्य एशिया और दक्खिनी रूस पहुँचे। इनके अलावा भृगु, भरत, मद्र, कुरु आदि गोत्र ईरान से आकर सप्तसिन्धु प्रदेश में बस गए।

हिन्द-ईरानी शाखा मे परस्पर कुछ ऐसे समान लक्षण हैं जिनके कारण हम इस शाखा की भाषाओं को अन्य आर्य भाषाओं से अलग कर सकते हैं।

(१) दोनों समुदायो में तीन मूल स्वरों की जगह एक अकार ही मिलता है।

(२) दोनों में उदासीन स्वर की जगह इकार है।

(३) अन्तःस्थ र् (ऋ) ल् (ऌ) का हिन्द-ईरानी मे अभेद मिलता है; कभी आदिम र् (ऋ) के स्थान पर ल् (ऌ), यथा लै० रुनूकरै सं० लुञ्चामि, और कभी ल् (ऌ) की जगह र् (ऋ), यथा लै० लुपुस् ग्री० लुक सं० वृकः अव० वह्को। विद्वानों का विचार है कि आदिम के यह दोनों अन्तःस्थ हिं० ई० में एकरूप (र्, ऋ) हो गए और बाद को जो ल् (ऌ) मिलता है वह इस से परकालीन परिवर्तन हुआ।

(४) इ, उ, र् और क् के बाद आने वाला स् इस शाखा में श् हो गया।

और यही बाद को भारतीय में ष् में परिणत हुआ (स० *वक्ष्यामि* अव० *वख्श्या*, सं० *उक्षा* गा० *ओक्स*, सं० *पितृषु* ग्री० *पत्रसि*, सं० *स्नुषा*, प्रा० अगरेजी *स्नोरु*) ।

(५) आदिम के प्रथम श्रेणी के कण्ठ्य स्पर्श हिन्द-ईरानी मे क्' ख्' ग्' घ्' से श्' श्ह्' ज्' ज्ह्' मे परिणत हुए। बाद को ईरानी मे ये स्, ज़, ज्ह् के रूप मे मिलते हैं और भारतीय में श् ज् ह् के रूप मे ।

(६) ओष्ठ्य गौण सहायता वाले कण्ठ्य हिं० ई० मे गौणत्व-विहीन पाए जाते हैं और यदि इनकी स्थिति इ, ए स्वरो के पूर्व थी तो ये च् छ् ज् झ् मे परिणत हो गए हैं ।

ध्वनि-सबधी इन भेदक लक्षणों के अतिरिक्त पद-रचना सबंधी दो बातें उल्लेखनीय हैं,

(७) एक तो स्वरान्त सज्ञाओ के बहुवचन का परप्रत्यय *-नाम्* और दूसरे,

(८) लोट् (आज्ञा) लकार के अन्यपुरुष मे परप्रत्यय *-तु*,*-न्तु* ।

ईरानी और भारतीय की प्राचीन अवस्थाओ मे इतना साम्य है कि एक मे थोड़े से आवश्यक परिवर्तन कर देने से ही तुरन्त दूसरी में रूपान्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ डा० वटकृष्ण घोष द्वारा अनुवादित, यस्ना (१०८) का संस्कृत रूपातर देखे—

अव० *यो यथा पु.थ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएँ ता मश्यो* ।
स० *यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्य.*
अव० *.फ्रा आव्यो तनुब्यो हओमो वीसइते बएॅशजाइ* ॥
सं० *प्र आभ्यस्तनूभ्यः सोमो विशते भेषजाय* ॥

ईरानी और भारतीय उपशाखाओ के मुख्य भेदक लक्षण ये हैं।

(१) स्वर की मात्रा कहीं-कही टीक नहीं बैठती, जैसे, स० *ऋतुम* अव० *रतूम्* ।

(२) अवेस्ती मे स्वर-समुदायो का बाहुल्य पाया जाता है, स० *ए ओ* की जगह *अए अओ* और *ऐ औ* की जगह *आइ आउ* ।

(३) अवेस्ती मे स्वर का अग्रागम (सं० *रिणक्ति* अव० *इरनख्ति*) और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर प्रभाव (सं० *भरति* अव० *बरइति*) अधिक पाया जाता है ।

(४) ऋकार के स्थान पर अवेस्ती में अर मिलता है, या र, या अ।

(५) अघोष अल्पप्राण (क्, त्, प्) अवेस्ती में संघर्षी (ख़्, थ्, फ़्) हो जाते हैं (क्रतु—ख़्तुश्, सत्यः-हइथ्यो, स्वप्नः—ख़्वफ़्नम्) और महाप्राण भी कभी-कभी (सखा—हख़, गाथा-गाथा, कफ़म्—कफ़म्)।

(६) सघोष महाप्राण (घ्, ध्, भ्) अल्पप्राण (ग्, द्, ब्) में परिणत पाए जाते हैं (जंघा—जंग, धारयत्- दारयत्, भूमिः—बूमि)।

(७) शब्द के आदि का स्, ह् (सिन्धु—हिन्दु, सप्ताह—हफ़्ता) हो जाता है।

(८) ईरानी में ज़् ज़्ह् कायम रह गए, भारतीय में इनकी जगह ज् और ह् हो गया है (जानुः—ज़ानू, दहति दज़्हैति)।

(६) संस्कृत की पंचमी विभक्ति एकवचन का प्रत्यय (-आत्) जो केवल अकारान्त संज्ञाओं में मिलता है, अवेस्ती में सब संज्ञाओं में मिलता है (क्षत्रात्—ख़्शथ्रात्, विशः—वीसत्, द्विषतः—त्विश्यन्तत्)।

(१०) भारतीय शाखा में टवर्ग ध्वनियाँ हैं, ईरानी में बिल्कुल नहीं।

(११) भारतीय में लट् (वर्तमान) लकार के उत्तम पुरुष एकवचन में -मि प्रत्यय का सर्वंकष प्रयोग मिलता है, ईरानी में केवल प्राचीन फ़ारसी में, सो भी जहाँ-तहाँ ही (सं० भरामि, अव० बरा, प्रा० फ़ारसी बरामिय)।

ईरानी

हिन्द-ईरानी की उप-शाखा ईरानी में काफ़ी प्राचीन साहित्य रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य है कि इन के ग्रंथ दो बार जला डाले गए, एक बार सिकंदर द्वारा ३२३ ई० पू० में और दूसरी बार अरब विजेताओं द्वारा ६५१ ई० में। प्राचीन चीजों में जो बचे हैं वे हैं पारसियों के धर्मग्रंथ स्वरूप अवेस्ता और हख़मानी बादशाहों के छठी सदी ई० पू० के शिलालेख। इन्हीं में प्रसिद्ध शाहंशाह दारा के, बहिस्तून पहाड़ी की चट्टानों पर खुदाए हुए, संसार-प्रसिद्ध प्राचीन फ़ारसी के लेख हैं। ईरानी की दो उपशाखाएं प्राचीन काल से ही मिलती हैं, (क) परशी (फ़ारसी) और (ख) अवेस्ती। पहली पच्छिम भाग की और दूसरी पूरब की है।

फ़ारसी—इसमें हख़मानी बादशाहों के लेख मिलते हैं। ये कीलाक्षरों में खुदे हुए हैं। इसी भाषा का कई सदी बाद वाला रूप पहलवी है। इसमें

अवेस्ता की टीका है। इसकी एक शैली में सामी शब्दों का आधिक्य है जिसे हुज्वारेश कहते हैं, दूसरी में सामी शब्दों का नितांत अभाव है जिसे पाजन्द या पार्सी कहते हैं। आधुनिक फारसी का साहित्य ई० ९ वीं सदी से मिलता है। आकृति में यह बहुत अयोगात्मक हो गई है और सीधी सादी है, सीखने में सरल, सुनने में मधुर। भारतवर्ष में अङ्गरेजी आधिपत्य के पूर्व कई सदियों तक यह राजभाषा रही। इसी कारण इसके बहुतेरे शब्द भारतीय भाषाओं मे, विशेष कर सिन्धी, लहँदी, पंजाबी और उर्दू शैली मे घुस आए हैं। फ़ारसी में स्वयं अरबी भाषा के एक तिहाई के क़रीब शब्द हैं, और बहुतेरे फ्रेंच के भी।

अवेस्ती—पारसी धर्म की मूल पुस्तक का नाम अवेस्ता है। इसकी भाषा को अवेस्ती कहते हैं। इस पुस्तक की टीका जेन्द (पहलवी) मे है, इसलिए भाषा को कभी-कभी ज़ेन्द और मूल पुस्तक को जेन्दावेस्ता कहते हैं, अवेस्ता में अधिकांश में वैदिक संहिताओं की तरह सूक्त हैं। इसमे भी भाषा और भाव की नजर से कई श्रेणियाँ हो सकती हैं, प्रचीन-तम अंश गाथाएँ हैं जिनका काल ई० पू० ७वीं सदी तक जाता है। पर अवेस्ता के कुछ अर्वाचीन अंश ईसवी सन् के बाद की दो एक सदियों के भी मालूम पड़ते हैं। पारसी धर्म के प्रचारक जरथुश्त्र थे और देवता अहुर मजदा। भाषा की दृष्टि से अवेस्ता प्राचीन फारसी से मिलती-जुलती है, पर बोली का भेद काफी है। प्राचीन ईरानी की यही सामग्री है, अवेस्ता और प्राचीन फारसी के लेख।

मध्यकालीन ईरानी की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें कोई चालीस साल पूर्व मध्य-एशिया (तुर्किस्तान) मे प्राप्त हुई थीं। इनमें से दो तीन ईसाई धर्म की हैं, शेष बौद्ध धर्म की। प्रायः ये सब ८वीं सदी की हैं, केवल एक ईसवी सन् के प्रारंभ के आस-पास की है। जिस भाषा मे ये हैं उसको पश्चिमोत्तर प्रदेश की ईरानी मान सकते हैं। भाषा का नाम सोग्दी है, यह एक समय मंचूरिया तक फैली हुई थी।

आधुनिक ईरानी मे फारसी के अलावा, पश्तो, बलोची और पामीरी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुर्दी आदि और बोलियाँ भी हैं। पश्तो अफगानिस्तान की और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा है। कुल बोलने वाले कोई ५० लाख होंगे, जिसमे सोलह-सत्रह लाख भारतीय भाग मे हैं। इसमे फ़ारसी के अनुकरण पर लिखा हुआ १६वीं सदी के इधर का

साहित्य है। ग्रामगीत प्रसिद्ध हैं। बलोची बलोचिस्तान और सिन्ध के पश्चिमी हिस्से की भाषा है। इसमें कोई विशेष साहित्य नही। पामीरी की तराई मे और हिन्दूकुश पर्वत पर सर्वत्र अधिकाश मे ईरानी बोलियाँ पाई जाती हैं। इस बोली-समूह को पामीरी कहते हैं। गठन मे ये कैस्पियन सागर के आस-पास बोली जाने वाली ईरानी बोलियों से मिलती हैं। इनके पड़ोस में भारतीय आर्य बोलियों के बोलने वाले पूरब और दक्खिन की ओर हैं।

दर्दी

हिन्दू ईरानी शाखा की एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ हैं। इनका क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पजाब के बीच मे पड़ता है। इधर पिछले तीस-चालीस साल मे इन भाषाओं को ध्यानपूर्वक देखा गया है। गठन मे ये ईरानी और भारतीय आर्य के बीच की हैं, ईरानी की अपेक्षा भारतीय के अधिक निकट। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा की जब प्रशाखाएँ होने लगीं तब, सब से पहले इन दर्द भाषाओं के मूल भाषा-भाषी अलग होकर पूरब की ओर फैले। बाद को जब भारतीय आर्यभाषा के मूल भाषी इधर बढ़े तब दर्दी उत्तर की ओर सीमित रह गये। अपने पुराण ग्रथों में दरद (दराद) जाति का उल्लेख मिलता है। इन्हीं को पिशाच संज्ञा भी दी गई है। भारतीय वैयाकरण इनकी भाषा को स्वदेशी समझते आए हैं। पैशाची प्रकृति का विवरण प्राकृत व्याकरणों में बराबर मिलता है और इसका साहित्य भी भारतीय वाङ्मय मे सदा समाविष्ट होता रहा है।

दर्दी भाषाओं के कई समूह हैं, खोवार, काफिरी और दर्दी विशिष्ट। समस्त दर्दी भाषाओं के बोलने वालों की संख्या १५ लाख है। खोवार समूह की प्रमुख बोली चित्राली है। दर्दी विशिष्ट समूह की कश्मीरी और शीना उल्लेखनीय हैं। कश्मीर प्रदेश संस्कृत साहित्य का केन्द्र रहा है। कश्मीरी मे साहित्य-निर्माण १४वीं सदी से आरंभ होता है। लाल देह (लल्ला) की कविताएँ प्रसिद्ध हैं। तब से बराबर साहित्य बनता आया है। दर्दी की अन्य किसी भाषा में कोई साहित्य नही।

दर्दी भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि व्याकरण के प्राचीन लक्षण इसमे अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं।

भारतीय आर्य

हिन्द ईरानी की इस उप-शाखा को विवरण की सुविधा के लिए तीन भागों मे बॉटा जाता है, प्राचीन युग, मध्य युग और वर्तमान युग। मोटे तौर से प्रथम का समय प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पू० तक, मध्य युग का ई० पू० ५०० से १००० ई० तक और वर्तमान का १००० ई० से इधर का मानना ठीक मालूम होता है। इन तीनों का अलग-अलग विवेचन करना उचित होगा।

प्राचीन युग

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भारतवर्ष मे आर्यों के आगमन का समय, १५०० ई० पू० के आस-पास कूता जाता है। आर्य यहाँ विभिन्न टोलियों में आकर बसते गए और यहाँ के द्रविड़, मुडा आदि मूल निवासियों के सघर्ष से भाषा, रहन-सहन आदि में आवश्यक परिवर्तन करते रहे। प्राचीन युग की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण ऋग्वेद सहिता मे मिलता है।

आदिम आर्य-भाषा से ऋग्वेदीय भाषा की तुलना करने से पता चलता है कि भारतीय शाखा के स्वरों में घोर परिवर्तन हो गया है। तीन मूल स्वरों के स्थान पर एक होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ और मिश्र स्वरों की सख्या बहुत कम हो गई है। म न स्वरो के स्थान पर अ और अ (श्वा) के स्थान पर इ पाया जाता है। लृकार का प्रयोग बहुत सीमित हो गया है। व्यजनों मे कवर्ग की एक ही श्रेणी का रह जाना, चवर्ग और टवर्ग का आविर्भाव, तथा श, ष्, ह् का आगमन भी महत्त्व का है।

ऋग्वेदसहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ-तहाँ बोली-भेद है। प्रथम मंडल और दशम मडल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ बाद की है। ब्राह्मण ग्रथों, प्राचीन उपनिषदों और सूत्र ग्रथों की भाषा क्रमशः विकसित हुई जान पड़ती है। पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा (छन्दस्) और साधारण पढ़े लिखे जन की भाषा (भाषा) मे काफी अन्तर पड़ गया था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। बुद्ध भगवान् के समय तक उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य और मध्यदेशीय, ये तीन भाग भाषा के विभेदों के कारण हो गए थे।

प्राचीन युग के अन्तर्गत वैदिक और लौकिक दोनों भाग आते हैं। संस्कृत शब्द से कभी कभी दोनो भागों का और कभी केवल लौकिक का

बोध कराया जाता है। दोनों में अन्तर की मात्रा अधिक नहीं है। बोली भेद को मिटाने का सब से सफल उद्योग पाणिनि का साबित हुआ। इन्होंने उदीच्य भाग की भाषा को प्रश्रय दिया। इनके समय में संस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा थी। संस्कृत यह काम कई सदी बाद तक करती रही। प्राच्य प्रभाव के कारण कुछ सदियों तक संस्कृत का प्रभाव सीमित हो गया परन्तु मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर संस्कृत भाषा ने फिर अपना आधिपत्य जमा लिया। संस्कृत का प्रथम शिलालेख रुद्रदाम का गिरनार वाला है जिसकी तिथि ई० १५० है। अब से बराबर प्राकृतों के प्रश्रय पाने तक संस्कृत हिन्दू राज्यों की राजभाषा रही। प्रायः १२वीं सदी तक इसको राज-दर्बारों से विशेष प्रश्रय मिलता रहा।

संस्कृत का प्रभाव बराबर उत्तरकालीन मध्ययुग की भाषाओं पर पड़ता रहा है। क्या प्राकृतें, क्या आधुनिक भाषाएँ सभी, संस्कृतकोष से अनायास शब्द लेती आई हैं। भारत से बाहर, चीन, तिब्बत, हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया और जापान तक इसका प्रभाव फैला है। यूरोप में जो प्रभाव लैटिन का, और अफ्रीका तथा एशिया के पच्छिमी भाग में जो प्रभाव अरबी का पड़ा है, वही अथवा उससे भी अधिक संस्कृत का एशिया के बाकी हिस्से पर बराबर रहा है। भारतीय आर्य इसे देववाणी कहते हैं और आज भी यह तीस करोड़ हिन्दुओं की श्रद्धा की चीज है। बोलचाल की भाषा न होते हुए भी आज जो श्रेय इसे प्राप्त है, वह संसार की किसी भाषा को नहीं।

साहित्य की रक्षा के लिए प्राचीन युग में जो युक्तियाँ काम में लाई गईं, वे सभ्य संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। श्रुति की रक्षा के लिये पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया। भावगरिमा की रक्षा सूत्रशैली से की गई। इन साधनों के द्वारा प्राचीन से प्राचीन भाषा की यथातथ सरक्षा हो सकी।

प्राचीन युग में भी भारतीय-आर्य भाषा बराबर अन्य एतद्देशीय और विदेशी भाषाओं से जरूरत के अनुकूल शब्द लेती रही। इस बात की पुष्टि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अवेस्ती के शब्दकोषों की तुलना से होती है। उणादि-सूत्रों से जिन शब्दों की सिद्धि की गई है उनमें से कुछ अवश्य अन्य भाषाओं से लिए हुए हैं। इस युग में इस देश में आर्य के अतिरिक्त द्राविड़, मुंडा आदि परिवारों की भाषाएँ जीती जागती, सभ्य अवस्था में थीं। उनके

शब्दों का आर्य भाषा में आ जाना स्वाभाविक ही था। आर्य भाषा श्लिष्ट योगिक आकृति की थी, उस काल की यहाँ की अन्य भाषाएँ अश्लिष्ट थीं। इस बात का भी असर आर्य भाषाओं पर पड़ा और मध्य युग में हम उत्तरोत्तर श्लिष्ट अवस्था से हटने के प्रमाण पाते हैं। इसी प्रकार उच्चारण में भी प्रभाव पड़ने के सबूत मिलते हैं। किसी अन्य आर्य भाषा मे मूर्धन्य वर्ण नहीं मिलते, पर भारतीय आर्य में बराबर मिलते हैं और उत्तरोत्तर इनके अनुपात की वृद्धि होती जाती है। यह सच है कि ये मूर्धन्य ध्वनियाँ दन्त्य ध्वनियों से ही विकसित हुई हैं पर इस विकास में देश की परिस्थिति ने अवश्य सहायता की होगी।

मध्ययुग

जो परिवर्तन प्राचीन युग में होने आरंभ हुए थे वे इस युग में अधिक बढ़े। सामान्य तुलना से पता चलता है कि इस युग के प्रारभ में ही द्विवचन का और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था। विभक्तियों में षष्ठी और चतुर्थी का एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग, सज्ञा और सर्वनाम के परप्रत्यों में परस्पर व्यत्यय, सख्यावाची शब्दों में नपुंसक लिंग के रूपों की प्रमुखता और अन्यों का उत्तरोत्तर ह्रास, क्रिया के लकारों में लुट् (अनद्यतन भविष्य), लङ् (अनद्यतनभूत), लिट् (परोक्षभूत) और लृङ् (क्रियातिपत्ति) के रूपों का प्रायः सर्वांश में अभाव और विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् का सर्वथा एकीकरण, क्रिया के रूपों में गणविभेद की और सज्ञा के रूपों में व्यजनान्त की जटिलता की कमी, इत्यादि लक्षण मध्ययुग के आदिकाल की सामग्री मे भी मिलते हैं। ऐ, औ, ऋ, लृ का अभाव और ऍ ऒ (ह्रस्व) का आविर्भाव, प्रायः पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर ष् का नितान्त अभाव और प्राच्य देश म श्, ष्, स्, के स्थान पर श् तथा अन्यत्र इनकी जगह स्, विसर्ग का सर्वत्र अभाव, संयुक्त व्यजनों का प्रायः बहिष्कार और अनेक स्वरों की एकत्र स्थिति, ये ध्वनि-संबधी लक्षण भी मिलते हैं। शब्दावली में भी देशी शब्दों की संख्या बढ गई है।

मध्ययुग को तीन कालो में विभाजित किया जाता है, आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल प्रायः ईसवी सन् के प्रारभ तक, मध्य ५०० ई० तक और उत्तरकाल १००० ई० तक माना जाता है।

आदिकाल के अन्तर्गत पालि और अशोकी प्राकृत हैं। ऊपर प्राचीन युग मे ही बोली-भेद के कारण उदीच्य, मध्य-देशीय और प्राच्य क्षेत्रों का

उल्लेख किया गया है। प्राच्य क्षेत्र में अधिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। इतिहास से हमें पता चलता है कि बुद्ध भगवान् ने संस्कृतेतर भाषा में अपने आर्य-धर्म का प्रचार किया। महावीर स्वामी ने भी यही किया था। इसका मतलब यह हुआ कि इन महानुभावों के समय में प्राच्य भाग (अर्थात् वर्तमान अवध और बिहार प्रान्त) में संस्कृत की प्रतिष्ठा जनसाधारण में बहुत न थी और उनकी बोलचाल की भाषा संस्कृत से काफी भिन्न हो गई थी। कोई भी प्रचारक ऐसी ही भाषा को अपनाता है जो जन-साधारण की समझ में आती हो पर यह वह अवस्था थी जब संस्कृत और ये विभिन्न बोलियाँ परस्पर समझी जा सकती थीं।

पालि को सिंहलद्वीपी लोग मागधी कहते हैं। पालि के ग्रंथों में भाषा के लिए 'मागधी शब्द का ही प्रयोग हुआ है और पालि का टीका (अर्थकथा) से भिन्न मूलपाठ के अर्थ में। यूरोपीय विद्वानों ने पालि शब्द का व्यवहार किया है और यही श्रेयस्कर है क्योंकि मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत जिसका उल्लेख आगे किया जायगा उसके लिए सीमित रखना आवश्यक है। पालि शब्द का प्रारंभ में अशोकी प्राकृत के लिए भी प्रयोग किया गया था किन्तु अब यह हीनयान बौद्धधर्म के धर्म-ग्रंथों की भाषा के लिए ही काम में आता है।

पालि किस प्रान्त की भाषा थी, इस प्रश्न पर विद्वानों में परस्पर बहुत वाद-विवाद होता है। रीजडेविड का विचार था कि यह कोसल देश की भाषा थी, अन्यों ने इसे मगध देश की ठहराने की कोशिश की। गठन पर विचार करते हुए यह किसी पूर्वी प्रान्त की नहीं ठहरती। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पच्छिमी प्रदेश (मध्यदेश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान् ने किसी प्राच्य भाषा में उपदेश किया होगा तथापि उनके निर्वाण के सौ दो सौ साल बाद समस्त ग्रन्थों का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशी भाषा में हुआ जो संस्कृत के समकक्ष स्टैंडर्ड हो चुकी थी। गठन में पालि बुद्धकालीन नहीं ठहरती, काफी अर्वाचीन (ई० पू० तीसरी सदी की) जान पड़ती है। जब अशोकी प्राकृत से उसकी तुलना करते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पालि में बौद्धधर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएँ तथा काफ़ी कथा-साहित्य, काव्य, कोष, व्याकरण आदि हैं। वर्तमान-कालीन सिंहल, ब्रह्मदेश, थाईदेश आदि में

उसे वही गौरव प्राप्त है जो भारतवर्ष मे संस्कृत को। इस साहित्य में धम्मपद, जातक आदि अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है।

पालि भाषा के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि इसमें जहाँ-तहाँ बोली-भेद के उदाहरण हैं। एक ही शब्द के अनेक स्थलों पर अनेक रूप मिलते हैं। मूल में एक भाषा है। *स्* का सर्वत्र अस्तित्व और *श्* का अभाव तथा *र्* का अस्तित्व और *ल्* से भेद, आदि लक्षण इस बात को पुष्कल रूप से प्रमाणित करते हैं कि यह पच्छिमी भाषा है। त्रिपिटक के भी सभी अंश एक समय के लिखे नहीं मालूम पड़ते। शैली का काफी भेद है।

पालि ग्रन्थ भारत से सिंहल गए। पौराणिक गाथा के अनुकूल यह माना जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र इन बौद्ध ग्रन्थ को वहाँ ले गए। बाद को भी आदान-प्रदान होता रहा। बुद्धघोष के समय ५वीं (ई० सदी) मे भारत में केवल मूलग्रन्थों के ही रह जाने का पता चलता है। वह अर्थकथा सिंहल से लाए। वर्तमान युग मे हम भारतीयों को पालि का पुनः ज्ञान यूरोपीय विद्वानों की कृपा से मिला है।

पालि में कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जिनसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इसका विकास उत्तर-कालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियों से मानना अधिक उचित है। तृतीया बहुवचन में अकारान्त सज्ञाओं का *-एभि* प्रत्यय और प्रथमा ब० व० मे *-आस्* के विकल्प मे *आसः* धातु (यथा *गम्*) और धात्वादेश (यथा *अच्छ*) के प्रयोग मे भेद का अभाव; अडागम (*हसित्* = *अहसीत्*) का प्रायः अभाव, आदि बातें उदाहरण हैं। संस्कृत के *इह* के स्थान में पालि *इध* पाया जाता है जो वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।

अशोकी प्राकृत—प्रियदर्शी राजा अशोक ने अपने शासनकाल के विविध संवत्सरों मे स्थान-स्थान पर स्तम्भों, चट्टानों, गुफाओं आदि में 'धर्म' के प्रचार के लिए बहुतेरे लेख खुदवाए थे। इन लेखों मे 'अभिषेक से ८ वर्ष बाद, ९ वर्ष बाद, १० वर्ष बाद, आदि' शब्दों में उन लेखों का समय भी दिया हुआ है। भारत मे इस प्रकार विवाद-रहित तिथि पड़े हुए न इतने पुराने लेख हैं न पुस्तकें। इसलिए इन लेखों का अद्वितीय महत्व है। प्रायः ये सब के सब २६२-२५० ई० पू० के हैं और भारत की सभी दिशाओं और कोनों मे पाए जाते हैं। इनकी भाषा का समष्टिरूप से नाम अशोकी प्राकृत

है। इन लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इन में उत्तर-पच्छिमी (शाहबाजगढ़ी, मनसेहरा), पच्छिमी (गिरनार), मध्यदेशी, पूर्वी (कालसी धौली, जौगढ़) बोलियाँ हैं और दक्खिनी भी। अनुमान है कि राजधानी से अर्धमागधी के किसी रूप मे लेख सब प्रान्तों मे भेजा जाता था और प्रान्त की बोली के अनुकूल उसमें परिवर्तन कर लिए जाते थे। राजधानी से जितनी ही दूर लेख पाए गए हैं, परिवर्तन की मात्रा उतनी ही अधिक होती गई है। मध्यदेशी के कोई लेख नहीं मिलते, इससे अनुमान है कि उस समय मध्यदेश मे अर्धमागधी समझी जाती थी। गिरनार के लेख संस्कृत भाषा और शौरसेनी प्राकृत के, अन्यों की अपेक्षा, अधिक निकट हैं।

अशोक के लेखों के अलावा और भी लेख प्राकृतों मे लिखे हुए पाए गए हैं। प्रायः ये सभी मध्यकाल के गिने जाते हैं, केवल गोरखपुर जिले के सोहगौरा के लेख को प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी अशोक के पूर्व (ई० पू० चौथी सदी) का मानते हैं।

मध्ययुग के मध्यकाल के अन्तर्गत जैन प्राकृतें और महाराष्ट्री आदि साहित्यिक प्राकृतें आती हैं। इस काल में प्राचीन युग की भाषा से भेद की मात्रा, मध्ययुग के आदि काल से भी अधिक बढ़ गई है। सयुक्त व्यंजनों में केवल (क) अपने अपने अनुनासिक के बाद उस-उस वर्ग का स्पर्श वर्ण, (ख) अनुनासिक या ल् के अनन्तर ह् और (ग) व्यंजन की दीर्घ मात्रा (स्स्, त्त्, प्प् आदि) बाकी बचे हैं। दो स्वरों के बीच के स्पर्श का प्रायः लोप होना मध्यकाल की विशिष्टता है (*काकः > काओ, कति >कइ, पूपः > पूओ*)। प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि व्यंजन का यह ह्रास पहले अघोष से सघोष (*क् > ग्*) फिर सघोष से संघर्षी (*ग् > ग़्*) और तब लोप की अवस्थाओं के द्वारा आया है। इन संघर्षी ध्वनियों को व्यक्त करने का ब्राह्मी लिपि में कोई साधन नहीं था इसी कारण प्राचीन लेखों में इनका व्यक्तीकरण नहीं मिलता। विद्वानों का विचार है कि जैन ग्रन्थों मे जो लघु प्रयत्नतर यकार (य़्) मिलता है, यह *ग़्, ज़्, द़्* की संघर्षी अवस्था का ही द्योतक है। विभक्तियों में से चतुर्थी का प्रायः सर्वांश में लोप हो गया है, पचमी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसी प्रकार क्रिया में भी रूप-बाहुल्य कम होता जा रहा है।

जैन प्राकृतों मे प्रमुख आर्ष (अर्धमागधी) है। इसी मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अंग (११) और उपांग (१२) आदि ४५ आगम ग्रन्थ मिलते

हैं। जैन मत का प्रादुर्भाव उसी प्रदेश (कोसल, वाराणसी, मगध आदि जनपदों) में हुआ जहाँ बौद्ध मत का। कहा जाता है कि इनके धर्मग्रन्थ कई सौ वर्ष तक मौखिक रहे। प्रथम बार इनका संकलन चन्द्रगुप्त मौर्य के काल (चौथी सदी ई० पू०) में पाटलिपुत्र मे हुआ और इनका सम्पादन पाँचवीं सदी ई० में देवर्धिगणी ने किया। अन्य ग्रन्थों की निस्वत अंगों की भाषा पुरानी है, तब भी ई० पू० चौथी सदी की भाषा किसी में नहीं मिलती। गठन मे यह अर्धमागधी (शौरसेनी और मागधी के बीच की) जँचती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अन्य (कथा आदि) साहित्य महाराष्ट्री (जैन महाराष्ट्री) में है। दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी में है। इन दोनों का रूप आर्ष से पुराना नही है।

साहित्यिक प्राकृतो के नामों से प्रकट है कि ये विभिन्न प्रान्त की लोकों-भाषाएँ थीं जो समय के अनुकूल साहित्यिक पदवी को प्राप्त कर अब तक बची रह सकी। इनमें सब से पुरानी सामग्री शौरसेनी में मिलती है।

शौरसेनी—सस्कृत के नाटकों मे स्त्रीजन तथा मध्यम वर्ग के पुरुषों की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रान्त में हुआ वहाँ साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र में था। अनुमान है कि यह संस्कृत की समकक्ष स्टैंडर्ड भाषा थी। इसमें ई० प्रथम सदी के लिखे हुए अश्वघोषकृत सारिपुत्तपकरण आदि तीन रूपक पाए गए हैं। इनकी भाषा उत्तर-कालीन शौरसेनी से कुछ भिन्न है पर है शौरसेनी ही। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में पाया जाता है। दो स्वरों के बीच में, स०-त्-, -थ्, का शौ० मे -द्-, ध्- हो जाता है, और दो स्वरों के बीच की -द्-, -ध्- ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे, *गच्छति*>*गच्छदि*, *यथा*>*जधा*, *जलदः*>*जलदो*, *क्रोधः*>*कोधो*।

प्राकृतों में शौरसेनी के बाद महाराष्ट्री का नम्बर आता है। यह काव्य और विशेषकर गीति-काव्य की भाषा है। जो स्थिति ब्रजभाषा की इधर कई सदियों तक रही है, वही महाराष्ट्री की ईसवी सन् के आरंभ से कई सदियों तक रही। सस्कृत के नाटको में पद्य भाग यदि प्राकृत मे मिलता है तो महाराष्ट्री मे। इसका साहित्य बहुत ऊँचा है। हालकृत गाथासप्तशती (गाहा-सत्तसई) और प्रवरसेन के सेतुबन्ध (रावणवहो) काव्य के टक्कर की कोई चीज संस्कृत वाङ्मय में भी नहीं मिलती।

महाराष्ट्री में दो स्वरों के बीच में आनेवाले अल्पप्राण स्पर्शवर्ण का लोप और महाप्राण का ह् हो जाता था, तवर्ग का भी। ऊपर उद्धृत शब्दों के महा० रूप *गच्छइ, जहा, जलओ* और *कोहो* हैं। इस लक्षण के कारण कुछ यूरोपीय विद्वानों का विचार हुआ था कि यह काव्य की कृत्रिम भाषा रही होगी। पर निश्चय ही यह उनका भ्रम था। डा० ब्यूल ब्लाक ने मराठी का विकास महाराष्ट्री से होना साबित किया है। कालान्तर में सभी भारतीय आर्य-भाषाओं में स्वरद्वय के बीचवाले स्पर्श वर्ण गायब हो गए हैं। इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वैयाकरणों और नाटकों की शौरसेनी संभवतः उनकी महाराष्ट्री से, गठन में पुरानी है। डा० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा है जिसे विद्वान् दक्खिन ले गए।

मागधी—यह मगध जनपद की भाषा थी। नाटकों में नीच पात्रों की भाषा यही है। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहते और जानते हैं। पर इस मागधी प्राकृत से उसका कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं। मागधी के मुख्य लक्षण :—

(१) संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर *श्* (*सप्त>शत्त*)।

(२) र् की जगह *ल्* (*राजा>लाआ*)।

(३) अन्य प्राकृतों की *ज्* की जगह *य्* और ज्ज् की जगह *य्य्* (*यधा, याणादि, अय्य, मय्य, कय्य*)।

(४) *ण्ण* की जगह *ञ्ञ्* (*पुञ्ञ्, लञ्ञो*)।

(५) अकारान्त संज्ञा के प्रथमा एकवचन में -ो की जगह -े (*देवो>देवे*) आदि हैं। ये पालि में जहाँ-तहाँ अपवाद-स्वरूप मिलते हैं, लक्षण-रूप नहीं। मागधी प्राकृत में साहित्य नहीं मिलता, इसका अस्तित्व व्याकरणों और नाटकों में ही है।

अर्धमागधी—इस की स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच की मानी गई है। यह मुख्य रूप से जैन-आदि धार्मिक साहित्य में काम में आई है। अनुमान है कि बुद्ध भगवान् और महावीर स्वामी के समय में इसने यथेष्ट क्षमता प्राप्त कर ली थी। अशोक के लेखों की भी यही मूलभाषा समझी जाती है। इसमें मागधी के दो एक लक्षण, अकारान्त संज्ञा के प्र० एक० के एकारान्त रूप, जहाँ-तहाँ र् के स्थान पर *ल्* आदि मिलते हैं, पर इसमें *स्* हैं, *श्* नहीं।

पैशाची—इस प्राकृत मे किसी समय अच्छा खासा साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी में थी। यह अमूल्य ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसके सस्कृत भाषा में किए हुए दो सक्षिप्त अनुवादों, बृहत्कथामजरी और कथा-सरित्सागर, से ही बृहत्कथा के महत्व की सूचना मिलती है। पैशाची के लक्षण प्राकृत व्याकरणों मे पाए जाते हैं। मुख्य यह है कि संस्कृत शब्दों मे दो स्वरों के बीच में आनेवाले सघोष स्पर्श वर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे) अघोष (पहले, दूसरे) हो जाते हैं, जैसे *गगनं>गकनं, मेघो>मेखो, राजा>राचा, वारिदः> वारितो* आदि।

इन प्रधान प्राकृतों के अलावा नाटकों में जहाँ-तहाँ अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण और व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण मिलते हैं। मृच्छकटिक में शाकारी, ढक्की और अन्यत्र शाबरी और चांडाली पाई जाती हैं। आभीरिका और अवन्ती का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम दो मागधी के ही कोई भेद हैं। शाबरी और चाडाली नामों से जातिविशेष की भाषा का भास होता है पर ये भी मागधी की ही विशेष बोलियाँ थी। इसी तरह आभीरिका अहीर जाति की बोली रही होगी। अवन्ती उज्जैन की प्राकृत थी।

मध्ययुग के उत्तरकाल में ध्वनियों और व्याकरण का और भी ज्यादा विकास पाया जाता है। संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण जो व्यजन का द्वित्व (दीर्घत्व) आदिकाल से प्रारभ हुआ था और मध्यकाल में चरम सीमा को पहुँच चुका था, अब एकत्व (ह्रस्वत्व) की ओर चलने लगा (*त, क्त > त्त> त*) और प्रतिकारस्वरूप उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ होने लगा। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में पूर्णरूप से पाई जाती है पर इसका आरम्भ मध्ययुग के उत्तरकाल से ही हो गया था। प्रत्ययों की *ष्य् स्य>स्स्* की जगह-ह् (*मंतहो < मंतस्स < मन्त्रस्य, तहि < तस्सि < तस्मिन्*) मिलता है प्रत्ययों के-न,-ण,-म की जगह अनुस्वार भी आ गया (*राएँ < राजेण = राज्ञा, पुच्छउँ < पृच्छामि*) शब्द के अंत का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया (*सेवा > सेव, मानिनी > माणिणि*) और -ओ, -ए का उ, -इ (पुत्तो > पुत्तु, घरे > घरि)। सज्ञा और क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों मे निकटता आ गई (पुत्तु एक० व०, पुत्त ब० व०), इसी तरह षष्ठी और सप्तमी के एकवचन मे (ष० पुत्तह ए० व० पुत्तहँ ब० व०, स० पुत्तहिं)। प्रतिकार रूप परसर्गों का प्रयोग जारी हुआ। क्रिया मे भी प्रायः वर्तमान काल (लट्), सामान्य भविष्य (लृट्), आज्ञा

(लोट्) के ही रूप पाए जाते हैं, अन्य सब लकारों के रूप गायब हो गए। भूतकाल के लिए निष्ठा का आश्रय सर्वांश में लिया जाने लगा।

उत्तरकाल की भाषा को सामान्यरूप से अपभ्रंश नाम दिया गया है। कालिदास की विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (ई० ७वीं सदी) के समय से अपभ्रंश का काव्य में थोड़ा बहुत प्रयोग होने लगा था और यह हिंदी, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के पूर्व तक जारी रहा। विद्यापति ठक्कुर ने जहाँ मैथिली मे अपने अमरपदों की रचना की है, वहाँ साथ ही साथ कीर्तिलता सा सुन्दर ग्रथ अपभ्रश (अवहट्ट) में लिखा है। प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कंडेय ने अपभ्रंश का नागर, उपनागर और व्राचड में विभाग किया है। नागर गुजरात का, व्राचड सिन्ध का और उप- नागर इन दोनों के बीच के प्रदेश का समझा जाता है। इतना निश्चय सम- झना चाहिए कि जिन प्रान्तों में प्राकृतें बोली जाती थीं उनमें ही उत्तरकाल में उस-उस प्रान्तों के अपभ्रंशों का प्रयोग होने लगा। इन सब में शौरसेन अपभ्रंश का प्रयोग प्रायःसमस्त भागो में साहित्यिक रूप में पाया जाता है। इसमें बड़ा अच्छा साहित्य, विशेषकर चरितों और कथाओं के रूप मे है, जो धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहा है।

मध्ययुग के उत्तर-काल तक आते-आते प्राचीन युग की भाषा से यथेष्ट भेद पड़ गया था। प्राचीन युग में कुछ परिस्थितियों में दन्त्य व्यजन मूर्धन्य होने लगे थे, यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती बढ़ती मध्ययुग के उत्तरकाल में चरम सीमा को पहुँच गई। प्राचीन में सुर था, इसके स्थान पर बलाघात मध्ययुग के आदि काल में ही आ गया था। यह बलाघात प्रायः उपधा के अक्षर पर पड़ता था। मध्ययुग में आर्य-भाषाओं और बोलियों मे परस्पर शब्दों का आदान-प्रदान होता रहा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सख्यावाची शब्दों में मिलता है। द्राविड़ आदि अन्य देशी भाषाओं से भी शब्द निःसकोच लिए जाते रहे। जहाँ संस्कृत के भंडार से जब ज़रूरत हुई शब्द ले लिए गए और एक ही शब्द के तत्सम, अर्धतत्सम और तद्भव रूपों की प्रचुरता हो गई, वहाँ संस्कृत ने भी मध्ययुग की भाषाओं से वट, *नापित*, *पुत्तलिका*, *भट*, *भट्टारक*, *छात* आदि कुछ शब्द ग्रहण किए। विदेशी भाषाओं से भ आर्य-भाषाओं में बराबर थोड़े बहुत शब्द आते रहे हैं। और यहाँ की ध्वनियों की चूल बैठ जाने पर घुल मिल गए हैं। इस ध्वनि-चूल के कारण ही द्राविड़, मुंडा आदि देशी परिवारों से अथवा विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्दों को हम वास्तविक

आर्य शब्दों से भिन्न नहीं कर पाते। हैमचद्र ने देशी नाममाला में ऐसे शब्दों की सूची दी है। व्युत्पत्ति-विज्ञान के तत्त्वों का प्रयोग करके हम इनमें से कुछ को आर्य शब्दों से सम्बद्ध कर सके हैं पर बहुतेरे सचमुच आर्य नहीं है। यदि द्राविड़, मुंडा आदि के प्राचीन कोष होते तो सम्बन्ध खोजने में आसानी रहती। उनके अभाव में भी इस दिशा में प्रयत्न जारी है।

वर्तमान युग

भारतीय आर्य शाखा के वर्तमान युग का आरंभ प्रायः१००० ई० से माना जाता है। इस समय तक प्राचीन युग की श्लिष्ट अवस्था बदलते-बदलते श्लेष से काफ़ी दूर जा पड़ी थी और यह परिवर्तन बराबर जारी है। महत्ता की दृष्टि से आर्य परिवार की भाषाएँ हैं। इनके बोलनेवालों की सख्या वर्तमान भारत में २५$\frac{3}{8}$ करोड़ है और इसके बाद आनेवाले द्राविड़ परिवार की-७$\frac{1}{8}$ करोड़ है।

वर्तमान युग की भाषाओं में ध्वनियाँ प्रायः वही हैं जो मध्ययुग में थीं। प्राचीन युग के उधार लिये शब्दों में प्राचीन युग की विशेष ध्वनियाँ ऋ, ष, वर्तमान काल में लिखी अवश्य जाती हैं, पर इनका उच्चारण शुद्ध नहीं होता। ऋ का उच्चारण उत्तर भारत में *रि* (*रिशि*) और दक्खिन में *रु* (*रुशि*) होता है, और ष् का *श्*। इसी प्रकार ज्ञ संयुक्ताक्षर का उच्चारण प्रदेशभेद से *ग्यँ*, *ग्यँ* होता है, यद्यपि कुछ सुधारक *ज्यँ* भी बोलते हैं। पूर्वी प्रान्तों में ब व दोनों ब और ज य दोनों ज सुनाई पड़ते हैं। सस्कृत के संयुक्ताक्षर शिष्ट समाज के उच्चारण में ज्यादातर ठीक-ठीक उतर जाते हैं। इस युग में भारतीय भाषाओं में अरबी-फारसी से भी शब्द काफी तादाद में आ गए हैं और इनमें आई हुई विदेशी ध्वनियों (क़, ख़, ग़, ज, थ़, द़, फ़) के स्थान पर, प्रायः सब प्रदेशों में देशी ध्वनियों को लाकर उच्चारण किया जाता है, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पजाब और सयुक्त प्रान्त के पच्छिमी भाग में इन ध्वनियों को ठीक-ठीक बोलने की कोशिश शिष्ट समाज द्वारा की जाती है। पर देश में राष्ट्रीय भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ यह प्रवृत्ति निर्बल पड़ती जा रही है।

मध्ययुग तक तीन लिंग थे पर वर्तमान में नपुंसक का प्रायः ह्रास हो गया है, केवल गुजराती, मराठी, सिंहली तथा पश्चिमोत्तर हिमालय की भदरवाही और खाशी आदि कुछ बोलियों में उसकी थोड़ी बहुत निशानी बाकी है। लिंग के ह्रास का कारण शायद इस देश की पूर्ववर्ती भाषाओं

का प्रभाव है। तिब्बत ब्रह्मी समूह की भाषाओं में व्याकरणात्मक लिंग का अभाव ही शायद इस बात का कारण है कि बंगाली, असामी, और उड़िया से लिंग-भेद ग़ायब हो गया और नैपाली और विहारी मे थोड़ा-सा ही रह गया है। प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक का नया भेद जिसका अस्तित्व हिंदी, मराठी, गुजराती आदि में प्राणिवाचक कर्म के बाद परसर्ग लगाने से और अप्राणिवाचक कर्म के बाद न लगाने से सिद्ध होता है, वह भी मुंडा और द्राविड़ भाषाओं के प्रभाव का फल जान पड़ता है।

प्राचीनयुग मे संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं। मध्ययुग में इनमें बराबर कमी होती गई। वर्तमानयुग में केवल दो ही रह गईं, एक विकारी और दूसरी अविकारी। सर्वनाम में अवश्य (*मुझ, तुझ, उस, किस*) कुछ रूपों मे एक और विभक्ति बच रही है। साथ ही साथ परसर्गों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और सर्वनाम के (*मोर<मो+केर; मेरा, तेरा, हमारा, तुम्हारा*) कुछ रूपों में वह सर्वनाम के रूप के साथ जा मिला है। जहाँ प्राचीनयुग में किसी संज्ञा के १७ रूप थे, वहाँ वर्तमान मे तीन ही बचे हैं।

क्रिया में कर्मवाच्य के अलग रूप बिल्कुल गायब हो गए। *जा* सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया गया। क्रिया के अर्थों की बारीकी अब संयुक्त क्रियाओं द्वारा व्यक्त की जाती है। प्राचीनयुग की लकारों का प्रयोग उत्तरोत्तर घटता रहा। फलस्वरूप पुराने वर्तमान के रूप आजकल आज्ञार्थ काम में लाए जाते हैं और वर्तमान का बोध शतृ प्रत्यय वाले रूपों के साथ 'होना' सहायक क्रिया के रूपों को जोड़कर होता है। भूतकाल का बोध सर्वांश में निष्ठा के रूपों से और भविष्य का प्रायः कृत्य के रूपों से होता है। पुरुष-भेद भी प्रायः मिट सा रहा है (*करेगा, करेंगे, था, थी, थे, थीं*)। जान बीम्ज़ ने प्राचीनयुग की धातु क्रिया-रूपों की संख्या ५४० बताई है। और अवधी की एक बोली (लखीमपुरी) मे किसी भी धातु के रूप अब केवल तीस-पैंतीस से अधिक नहीं हैं।

इस प्रकार प्राचीनयुग की रूप-भेद की जटिलता बहुत कुछ समाप्त हो गई और हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाएँ उसी प्रकार श्लिष्ट अवस्था से अयोगावस्था की ओर बढ़ आई हैं, जिस प्रकार यूरोप में इनकी समकालीन अंगरेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि। भारतीय आर्यभाषाओं में परस्पर भेद की मात्रा भी प्रायः उतनी ही है जितनी यूरोपीय भाषाओं में परस्पर। भारत में

भेद और अलगाव मुख्य रूप से लिपि-भेद के कारण दिखाई पड़ता है, यूरोप में सौभाग्य से लिपि प्रायः एक है।

भारतीय आर्यशाखा के अन्तर्गत नीचे लिखी भाषाएँ हैं। कोष्ठक मे बोलनेवालों की सख्या (१६३१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार) दी गई है—

लहँदी (८६ लाख), सिन्धी (४० ला०), मराठी (२ क० ६ ला०), उडिया (१ क० १२ ला०), बिहारी (२ क० ७६ ला०), बंगाली (५ क० ३५ ला०), असामी (२० ला०), हिन्दी (७ क० ८४ ला०), राजस्थानी (१ क० ३६ ला०), गुजराती (१ क० ६ लाख), पंजाबी (१ क० ३६ ला०), भीली (२२ ला०), पहाडी (२८ ला०), हबूडी (जिप्सी), सिंहली। कुछ सामान्य लक्षणों के कारण भाषाविज्ञानी इनको समुदायों में बाँटते हैं। लहँदी सिन्धी का पश्चिमोत्तर समुदाय, मराठी का दक्खिनी, उड़िया बिहारी, बगाली, असामी का पूर्वी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पजाबी, भीली का पच्छिमी और पहाड़ी का अलग समुदाय बनता है। पूर्वी हिन्दी की स्थिति भाषा की गठन के हिसाब से पच्छिमी और पूर्वी समुदाय के बीच में पड़ती है। हबूड़ी और सिंहली इस देश के बाहर गई हुई भारतीय आर्य भाषाएँ हैं।

लहँदी—पंजाब के पच्छिमी हिस्से की तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पच्छिम की ओर बोली जाने वाली पश्तो से भेद करने के लिए इसको कभी-कभी हिन्दकी भी कहते हैं। यह केवल बोलचाल की भाषा है। कुछ भी उल्लेखनीय साहित्य नहीं है।

सिन्धी —सिन्ध प्रान्त की भाषा है। साहित्य अभी तक नाममात्र का है, उल्लेखनीय ग्रन्थ केवल 'शाहजो रिसालो' है व्राचड अपभ्रंश का एक लक्षण आदिम त्‌ द्‌ का ट॒ ड॒ हो जाना सिन्धी मे मिलता है (हि० *ताँबा* सि० *टामो*, हि० *देना* सि० *डिअणु*) । सिन्धी लिपि अरबी का एक सशोधित रूप है। शब्दावली में विदेशी शब्दो की मात्रा अधिक है।

मराठी—महाराष्ट्र प्रांत की भाषा है। अच्छा-खासा साहित्य है जिसमे उत्तर भारत की तरह सत साहित्य का अच्छा स्थान है। नामदेव और ज्ञानेश्वर की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। अन्य आर्यभाषाओं की अपेक्षा इसमे टवर्ग ध्वनियाँ अधिक हैं। च के अलावा च ध्वनि भी है जिसका उच्चारण

त्स होता है, इसी तरह ज के अलावा ज़। यह ज़ विदेशी ज़ से उच्चारण में भिन्न है।

पूर्वी समुदाय की भाषाओं मे कुछ सामान्य लक्षण हैं—भूतकाल की क्रिया में -ल, भविष्य में -ब और लिंग का प्रायः अभाव। अ का उच्चारण हिन्दी के पूरब से ही गोल होता-होता बंगाली में जाकर ओ हो गया है।

उड़िया—उड़ीसा प्रांत की भाषा है। इसका एक शिलालेख १२६६ ई० का मिला है। साहित्य कोई चार सौ साल पुराना है।

बिहारी—तीन (मैथिली, मगही, भोजपुरी) बोलियों का समूह है। ये बिहार प्रांत में बोली जाती हैं और भोजपुरी संयुक्तप्रांत की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरी में भी। मैथिली में अच्छा खासा साहित्य है और प्राचीन साहित्य की दृष्टि से इसका महत्त्व किसी भी अन्य आधुनिक भाषा से कम नहीं। विद्यापति की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

असामी—असाम प्रांत की भाषा है, इसका भी साहित्य पुराना है, कोई ६०० वर्ष तक का। शंकरदेव का नाम उल्लेखनीय है। इस असाम प्रांत को स्वतंत्र सत्ता मिल गई है इसलिये असामी का उद्धार हो रहा है। अभी तक वह बंगाली के बोझ से दबी थी।

बंगाली—बंगाल प्रान्त की भाषा है। साहित्यिक भाषा को साधुभाषा कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता है। पर उच्चारण अपना निजी है। इस कारण लिखित शब्द और बोले हुए शब्द मे बहुत अन्तर पड़ गया है (जैसे *लक्ष्मी—लोक्खीं*)। साहित्य की दृष्टि से बंगाली समस्त आधुनिक भाषाओं में सर्वोन्नत है। पुराने साहित्य में चंडीदास और वर्तमान में रवीन्द्रनाथ ठक्कुर उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी—भाषाविज्ञानी इस शब्द को एक अर्थ मे इस्तेमाल करते हैं, साहित्यिक दूसरे मे। यह बिहार, संयुक्त प्रान्त, हिन्दी मध्यप्रान्त, मध्य भारत हिमालय के पहाडी प्रान्त तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है और इस प्रकार १५ करोड़ जनता की उच्च भावनाओं के व्यक्तीकरण का साधन है। गठन की दृष्टि से इसकी दो उपशाखाएँ हैं, पच्छिमी और पूर्वी। पच्छिमी के अन्तर्गत बाँगड़ू, हिन्दुस्तानी, बुंदेली और ब्रज ये चार बोलियाँ हैं, और पूर्वी के अन्तर्गत दो, अवधी और छत्तीसगढी। ब्रज और अवधी में उच्चकोटि का पुराना साहित्य है। ब्रज मे सूरदास और अवधी में तुलसीदास अमर हैं। कबीर अद्वितीय हैं। हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं, हिन्दी (खड़ी बोली)

और उर्दू। उर्दू की लिपि अरबी का एक संशोधित रूप है, हिन्दी की देवनागरी जिसका विकास ब्राह्मी लिपि से स्पष्ट है। उर्दू में अरबी, फारसी आदि (एशियाई) विदेशी शब्दो की प्रचुरता है, हिन्दी मे देशी शब्दों की। उर्दू संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार किए हुए है, हिन्दी उनको हृदय से लगाए हुए है। उर्दू का छन्द और साहित्यिक भावना विदेशी हैं, फारसी की जूठन, पर हिन्दी की स्वदेशी।

राजस्थानी--इस में कई बोलियाँ है जिनमे मारवाड़ी और मेवाड़ी प्रमुख हैं। ये राजपूताना और मध्य भारत में बोली जाती हैं। चारण साहित्य अच्छा है। इन बोलियों में ण ल ध्वनियां का विशेष स्थान है, और दो स्वरों के बीच कील का उच्चारण ळ होता है। इसी तरह मराठी और गुजराती में भी ळ है।

गुजराती—गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ की भाषा है। गठन मे राजस्थानी और पच्छिमी हिन्दी से बहुत मिलती है, मराठी से कम। हिन्दी के ऐ औ की जगह यहाँ ए ओ मिलते हैं जो हिन्दी के ए ओ से जरा अधिक विवृत हैं। गुजराती का विकास नागर अपभ्रंश से स्पष्ट है। साहित्य अच्छा खासा है। पुराने साहित्य के ग्रंथकारों मे नरसिंह मेहता उल्लेखनीय हैं।

पंजाबी—पंजाब प्रान्त की भाषा है। साहित्य पुराना नहीं है, पर अब पंजाबीपन की भावना से उन्नति करने लगा है। लिपि गुरुमुखी है।

भीली—इसकी बोलियाँ राजपूताना, मध्य भारत, खानदेश आदि मे रहनेवाली कुछ जंगली जातियों की हैं। इनमें कोई साहित्य नहीं।

पहाड़ी—हिमालय के निचले भाग मे बोली जाती है। इसमे तीन बोली-समूह अन्तर्गत हैं, मध्य (७ हजार), पूर्वी (४ ला० १३ ह०), पच्छिमी (२३ ला० २६ ह०)। पच्छिमी बोलियाँ पच्छिम मे शिमला पहाड़ी तक बोली जाती हैं। मध्य में गढ़वाली और कुमाउनी है। कुमाउनी में थोड़ा-सा साहित्य है। पूर्वी बोली नेपाली है। इसे खशकुरा या गोर्खाली भी कहते हैं। इसमें इधर सौ साल में कुछ साहित्य हो गया है। नेपाल की यही राजभाषा भी है।

हबूड़ी—भारत से कुछ जातियाँ ईसवी सन् के सौ-दो-सौ बरस पहले या बाद को यहाँ से पच्छिम की ओर चल पड़ीं। ये लोग ईरान, आर्मीनिया, सीरिया, ग्रीस आदि सभी यूरोपीय देशों मे पच्छिम मे वेल्ज तक पाए जाते हैं। इनकी भाषा की गठन भारतीय आर्य है, यद्यपि शब्दावली में अन्य भाषाओं मे से बहुतेरे शब्द आ गए हैं। सैम्सेन ने वेल्ज के इन लोगों की

बोली का अच्छा अध्ययन किया है। इसमें संस्कृत के सघोष महाप्राण वर्णों की जगह अघोष मिलते हैं (*घ ध भ* की जगह *ख थ फ*)। जिप्सी लोग अपना अस्तित्व अलग ही रख सके हैं। इनका पेशा हाथ देखना और छोटी-मोटी चीजे बेचना है। वेल्ज के जिप्सी रोमानी कहलाते हैं। यह शब्द हिन्दी के डोम शब्द से सम्बद्ध है।

सिहली—सिहलद्वीप की, विशेषकर दक्खिनी भाग की भाषा है। यह भारत से ईसवी सन् के पूर्व किसी समय, शायद सौ-दो सौ बरस पूर्व, गई। इसमें महाप्राण वर्ण अल्पप्राण हो गए हैं। इसमें *श ष स* की जगह *स* है, सो भी *ह* मे विकसित हो रहा है। अनुमान है कि सिंहली किसी पच्छिमी प्रांत(गुजरात काठियावाड़) से सिंहल गई। इसके दो एक लक्षण मराठी से मिलते हैं। सिंहली के आदिरूप को एळु कहते हैं। सिंहलद्वीप से भाषा मालद्वीप भी गई।

भारत में इस प्रकार कई भाषाएँ बोली जाती हैं। अंतर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए अभी तक अँगरेजी इस्तेमाल होती रही है। पर स्वतंत्रता प्राप्त करते ही भारत अब अँगरेजी से ऊब उठा है। प्रातीय भाषाएँ अपने-अपने प्रांत मे अपना स्वभाव-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर रही हैं। उसमें जो देर हो रही है वह या तो प्रान्तों और रियासतों की सीमाओं के भाषाओं की सीमाओं से भिन्न होने के कारण या कुछ नेताओ की अनौचित्य तक पहुँचने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कारण है। पर विश्वास है कि शीघ्र ही लोकमत के अनुकूल अँगरेजी का वहिष्कार और भारतीय भाषाओं का सिंहासनारोहण हो जायगा। जल्द ही प्रान्तीय भाषाएँ उच्चतम शिक्षा तक के लिए माध्यम बन जायँगी।

अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी का स्थान निश्चित और सर्वसम्मत रहा है। इसके दो साहित्यिक रूप (हिन्दी और उर्दू) इधर प्रचलित रहे हैं पर हिन्दी रूप दिन-दिन आशातीत विस्तार पाता रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से उर्दू उतनी उन्नति और विस्तार नहीं पा सकी है और उसकी बाज़ी हारती सी दिखाई पड़ती थी। मुट्ठी भर राष्ट्रीयतावादी मुसल्मानों को सन्तोष देने के लिए इधर कई साल से महात्मा गान्धी की प्रेरणा से कुछ लोग हिन्दी और उर्दू के बीच की एक शैली का प्रचार कर रहे हैं। वे इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं। पर यह हिन्दुस्तानी भी हिन्दुओं की लेखनी से प्रायः हल्की हिन्दी और मुसल्मानों के क़लम के जोर से हल्की पुल्की उर्दू का ही रूप ले पाई।

न इसकी शैली निखर पाई और न इसमें किसी उत्तम ग्रंथ की रचना हो पाई। महात्माजी का यह अनुरोध कि प्रत्येक भारतीय देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को सीखे और दोनों का व्यवहार करे, जनता को मान्य न हो सका।

अब पाकिस्तान-और हिन्दुस्तान के दो अलग अलग स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में इस उपद्वीप के परिणत हो जाने से, भारत की राष्ट्र भाषा की समस्या सुलझ गई है। भारतीय केन्द्रीय सरकार की राजभाषा हिन्दी और राजलिपि देवनागरी मानली गई है तथा पाकिस्तान की लिपि फ़ारसी (उर्दू)।

भारत की राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल है। हमारे राष्ट्र के अधिकार-सिद्ध मान प्राप्त करने पर इसकी भाषा का मान बढ़ेगा। जहाँ-जहाँ भारतीय जायँगे, यह भाषा भी जायगी, अभी उनके साथ अँगरेजी जाती थी। हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी उच्चकोटि का है, जो अंग अपूर्ण हैं वे शीघ्र ही पूर्ण हो जायँगे और भारत की भारती राष्ट्र के गौरव की वस्तु होगी।

शुभं भूयात्।

द्वितीय परिशेष

ग्रन्थसूची

भाषाविज्ञान के ग्रथो की एक बड़ी अच्छी सूची विलेम ग्रैफ की पुस्तक के ४३७—'७१ पन्नों पर दी हुई है। भारतीय भाषाओं के विवेचन के लिए सुनीतिकुमार चटर्जी जी की 'इडोआर्यन ऐण्ड हिन्दी' के अन्त में पृ० २५०—'५८ पर भी एक अच्छी सूची दी हुई है। विशेष विवरण के लिए पाठकों को इन सूचियों को देखकर अपनी जरूरत के लिए पुस्तके छाँट लेनी चाहिए। विषय के सामान्य ज्ञान और भारतीय भाषाओं के जरा विशिष्ट परिचय के लिए नीचे लिखी पुस्तकों से काम लिया जा सकता है।

Armfield, N. —General Phonetics (London, 1930).
Belvalkar, S. K. —Systems of Sanskrit Grammar (Poona)
Bender H H. —A Lithuanian Etymological Index (Princeton, 1921).
Bhandarkai, R.G.—Wilson Philological Lectures (Bombay, 1914)
Bloch, J. —L'Indo Aiyen (Paris, 1934).
Bloomfield, L —Language (London 1935).
Breal, M. —Semantics (Eng. translation of the original French work, London 1900)
Brunot, F.E. —La pensee et la Langue (Paris 1922).
Buhler, G —On the Origin of the Indian Brahma Alphabet (Strass-burg, 1898).
Chatterji, S.K. —Indo-Aryan and Hindi (Ahmedabad, 1942).
Dauzat, A —La Vie du Langage (Paris, 1910)
,, —La Philosophie du Langage (Paris, 1912).
Graff, W —Language and Languages (N Y & London, 1932).
Grierson, G A —Linguistic Survey of India Vol I part I (Calcutta, 1928).
Gune, P. D —An Introduction to Comparative Philology (Poona).
Hirt, H. Geschicte der deutschen Sprachen (Munchen, 1919)

Jesperson, O —Fonetik (Copenhagen, 1899).
—Language, its Nature, Development & Origin (London, 1922).
—The Philosophy of Grammar (N.Y. 1924).
—Logic and Grammar (Oxford, 1924).
Jones, D —An Outline of English Phonetics (London, 1932).
Meillet, A —Les Dialectes Indo-Europeennes (Paris, 1908).
,, —Linguistique Historique et Linguistique General (Paris, 1926).
,, —Introduction a l' Etude Comparative des Langues Indo-Europeennes (Paris, 1924).
do & Cohen. —Les Langages du Monde (Paris).
Pillsbury & Meader.—The Psychology of Language (N. Y., 1928)
Saksena, B. R. —The Evolution of Awadhi (Allahabad. 1938).
Sapir, E. —An Introduction to the study of speech (N. Y., 1921).
Scripture, E. W —The Elements of Experimental Phonetics (N. Y. & London, 1904).
Taraporewala, I.J.S.—Elements of the Science of Language (Calcutta).
Turner. R. L —Nepali Dictionary (London, 1931).
Varma, S —Speculations of Ancient Indian Phoneticians (London).
Vendryes, J. —Language : A Linguistic Introduction to History (Eng. trans. of original French work Le Langage, Paris, 1921).
Woolner, A. C. —Introduction to Prakrit (Lahore)
Encyclopaedia Brittanica—Article on Alphabet (14th ed pp. 177—84)
Fourth Oriental Conference (Proceedings)—Article on the Origin of Brahmi Alphabet by I. J. S. Taraporewala (pp. 625—661)
गौरीशकर हीराचद ओझा—प्राचीन लिपिमाला (अजमेर, १६१८),
धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास (प्रयाग),
मङ्गलदेव शास्त्री—तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान (बनारस १६४०)

तृतीय परिशेष
पारिभाषिक शब्द-सूची

नीचे सामान्य पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गई है। कुछ शब्दों के अङ्गरेजी पर्याय भी दे दिये गये हैं जो विषय-बोध के लिए जरूरी समझे गये पर ऐसे शब्दों के जो नितान्त स्वदेशी हैं, तथा भाषाओं के नामों के, अँग-रेज़ी पर्याय नहीं दिए गये। भाषाओं के नाम भी बहुधा भाषा-परिवार, आर्य-भाषा-समूह, इन दो के नीचे, और लिपियों के नाम प्रायः लिपि के नीचे मिलेंगे। अन्यत्र भी जहाँ कोई विशेष शब्द अकारादि क्रम से अपने स्थान पर न दिखाई दे, वहाँ उसे उसके सामान्य शब्द के अन्तर्गत खोजना चाहिये जैसे स्पर्श व्यंजन, व्यजन के नीचे, लोक-भाषा, भाषा के नीचे।

विलेम ग्रैफ की पुस्तक में पारिभाषिक शब्दों की सूची और उनकी व्याख्या ब्योरे से दी हुई है। विशेष ज्ञान के लिए पाठक उसको देखें।

अ

अक्खरिका
अक्षर syllable
-निर्माण formation of s
-लोप haplology
-विन्यास spelling
पचमा-nasal
समाना- similar s
अग्रागम prothesis
अडागम augment a-
अनुकरण imitation
-त्मक शब्द imitative cry
अनुनासिक nasal
-त्व nasalisation
अनुबन्ध
अनुरणन echoe
-त्मक शब्द onomatopoetic cry
अनुरूप similar
-ता similarity
अनुवृत्ति
अनुस्वार
अनेकरूपता variety, diversity
अन्तःस्थ sonant
अपभ्रंश (अवहट्ठ)
उपनागर
नागर
व्राचड
शौरसेन

अपवाद exception
अभ्यास reduplication
अमरीकाचक्र की भाषाएँ
अथबस्की, अरोवक, अरौकन, अल्गो नकिन, अज्तेक् एस्किमो, करीब, कुइचुआ, गुअर्नी तुपी, चको, चेरोकी, तियरा देल् फूगो, नहुअस्ल, मय
अयोगात्मक isolating
अयोगावस्था isolating stage

अरबी (भाषा)
अर्थ meaning
-ादेश displacement of--
-तत्त्व semanteme
-परिवर्तन change in--
-विकार modification in--
-विचार semasiology
-विज्ञान semantics
-विस्तार extention of--
संकोच restrication of--
-स्फोट flash of
अलिजिह्व uvula
अल्बेनी
अवधी (भाषा)
अवन्ती (प्राकृत)
अवेस्ता
अवेस्ती (भाषा)
अवस्था stage, state
मानसिक psychological s
जातीय मा-national psy s
अयोगा- isolating--
वियोगा- analytic--
संयोगा- synthetic--
अव्यय indeclinable
विस्मयादिबोधक interjection
समुच्चयबोधक conjunction
अशोकी प्राकृत
(उत्तर-पच्छिमी, दक्खिनी, पच्छिमी पूर्वी, मध्यदेशी)
असामी (भाषा)

आ

आख्यात
आत्मनेपद
आभीरिका (प्राकृत)
आर्टिक्ल् article
आर्मीनी (भाषा)
आर्ष (प्राकृत)
आवेश emotion

इ

इच्छा desire
अदम्य— will

उ

उच्चारण pronunciation
उड़िया (भाषा, लिपि)
उद्गम source
उद्देश्य subject
उपरिनालिका upper part of w, p
उपव्यंजन semi-consonant
उपसर्ग preposition, prefix
उपालिजिह्वा pharynx
उर्दू (भाषा, लिपि)

गति speed, flow
गाथा (अवेस्ता के पद्य)
गिनती numerals
गुजराती
गुण (ध्वनि-) quality of—
गुण (सन्धि)
गोर्खाली (नैपाली भाषा)
ग्रन्थ
-लिपि
ग्रिम-नियम Grimm's law
ग्रीक (भाषा, लिपि)
ग्रासमन-नियम Grassman's law

घ

घोष,-त्व voice, voice-ness
अपूर्ण partial voice
पूर्ण full voice

च

चाण्डाली (प्राकृत)
चित्र picture
-लिपि pictorial script, hieroglyphic.
-संकेत picture-symbol
चिह्न symbol
नेत्रग्राह्य visual
श्रोत्रग्राह्य auditory
स्पर्शग्राह्य tactile
स्वरसूचक (जेर, जबर, पेश)

छ

छत्तीसगढी (बोली)
छन्दस् (वैदिक संस्कृत)

ज

जर्मनी (आ० भा० शा०)
जाति class
जापानी (भाषा)
जिह्वा tongue
अग्रभाग front of—
नोक tip of—
पश्च भाग back of—
मूलभाग root—, epiglottis
ज्ञान knowledge
नैसर्गिक instinctive
बुद्धिग्राह्य by reason
स्वतः सिद्ध instinctive

ढ

ढक्की (प्राकृत)

त

तत्त्व principle
अर्थ-semanteme
मूल- basic p
सम्बन्ध- morpheme-
तद्धित
तद्रूपता similarity in form
तर्क argument
-शास्त्र logic
तात्पर्य sense, meaning
तालु palate
कठोर hard p
कृत्रिम artificial p.
कोमल soft p
सुकुमार ”

तिङ् conjugational termination
-अन्त conjugated form
तीव्रता intensity
तुमन्त infinitive
तुर्की (उस्मानली)
तोखारी

द

दर्शन realisation
-शास्त्र philosophy
दशम नियम decimal system
दाँत teeth
दन्त्य व्यंजन dental con.
देवनगर
देवनागरी
द्रव्य matter, thing
द्वित्व doubling
द्विभाषाभाषी bilingual

ध

धातु root
-प्रक्रिया conjugation of—
एकाक्षर monosyllabic—
द्वयक्षर dissyllabic—
त्रिव्यंजनात्मक triconsonantal
धात्वादेश
धारा current, category
-प्रवाह incessant current
-रूप in a current
विचार- current of thought
व्याकरणात्मक grammatical category

ध्रुवाभिमुख नियम law of polarity-
ध्वनि sound
-अवस्थाएँ (उत्पत्ति, प्राप्ति, वाहन) stages (production, reception, conveyance)
-चित्र sound-picture
-चिह्न sound-symbol
-ग्राम phoneme
-जात phonology.
-परिवर्तन sound-shifting
-विकार phonetic modification
-विकास phonetic evolution
-विभिन्नता phonetic diversity or difference
-विज्ञान phonetics
प्रयोगात्मक ध्व० वि experimental phonetics
-सामंजस्य phonetic harmony
साम्य phonetic similarity
ध्वन्यात्मक शब्द phonetic word
समान-ध्व० श० homophone.

न

नली pipe. tube
श्वास-trachea
नाम noun
नालिका pipe
-मुख mouth of p.
श्वास- wind-pipe
भोजन-food-pipe

निपात
निरुक्त
निरुक्ति
निरुत्ति (पा०) dialect
निषेध negation
-त्मक, negative
-त्मकता negativeness
नैपाली (भाषा)

प

पंजाबी (भाषा)
पद word
-क्रम word-order
-रचना word-formation
-रचना-विज्ञान morphology
-विकास evolution of word
-विज्ञान science of morphology
आत्मने-
परस्मै-
पदार्थ word-meaning
परसर्ग postposition
परस्पर-विनिमय metathesis
परिभाषा technical definition
पारिभाषिक शब्द technical term
परिवर्तन change
-शील changing
पहाड़ी (बोलियाँ)
पाठ
क्रम-, घन-, जटा-, पद-, संहिता-
पालि
पितृविधान संगटन patriarchal system
पुरुष person
अन्य (प्रथम) third
उत्तम first
मध्यम second
पैशाची
पैशाचिका
केकय,-चूलिका-,पाचाल-,शौरसेन-
प्रकरण context
प्रकृति (आधार) base
प्रतिपद crude form
प्रतिमा image
ध्वनि-sound image
विचार-thought-image
वाक्य-sentence-image
प्रत्यय suffix, termination
पर-termination
पूर्व-suffix
मध्य-विन्यस्त infix
प्रत्याहार
प्रयत्न effort
-लाघव economy of effort
प्रयोग use
कर्तरि active use
कर्मणि passive use
भावे impersonal use
प्रशान्त महासागर चक्र
प्राकृत
अवन्ती,अर्धमागधी, मागधी (प्राच्या)

साहित्यिक–literary 1.
स्टैंडर्ड standard 1.
भूतविज्ञान Physics
भोजन-नालिका food-pipe

म

मगही (बोली)
मनोराग passion
मनोविज्ञान psychology
मनोवैज्ञानिक psychologist
मराठी
महाराष्ट्री
जैन-
मागधी
मात्रा unit, degree
अर्धदीर्घ half-long
दीर्घ long
प्लुत longer
ह्रस्व short
माध्यम intermediary, medium
मारवाड़ी (बोली)
मुहाविरा idiom
मूर्धा cerebra
-भाग
मेवाड़ी
मैथिली

य

यकार
लघुप्रयत्नतर
यन्त्र mechanism
उच्चारण–, ध्वनि–m of speech

य श्रुति y glide
योग agglutination
अन्त- suffix a.
पूर्व- pefix-a.
मध्य infix-a.
योगात्मक agglutinative
अन्त-, पूर्व-, मध्य-, पूर्वान्त-sufix a., pre. a, in. a,pre. suf. a.
अश्लिष्ट- simple agglutinative
प्रश्लिष्ट- incorporative
श्लिष्ट- inflexional

र

रहस्यात्मक प्रभाव mystic influence
राजस्थानी
राष्ट्रभाषा national language
राष्ट्रलिपि national script
रूढ़ि convention
रूप form
अनियमित irregular f.
नियमित regular f.
निर्बल weak f.
सबल strong f.

ल

लकार
(लट्, लोट्, विधिलिङ्, लङ्, लुट्, लृट्,लृङ्,आशीलिङ् लिट् लुङ् लेट्)
लक्षण definition, characteristic
लहंदी
लिंग gender

वियोगात्मक भाषाएँ analytic languages
विवर opening, cavity
नासिका- nasal c
मुख- buccal (mouth) c.
विशेषण adjective
विश्लेषण analysis
विषमीकरण dissimilation
विस्मयादिबोधक शब्द interjection
विभक्ति case
(प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, सम्बोधन)
अविकारी, विकारी direct, oblique
विभक्त्यर्थक प्रत्यय case-termination
वीराः Wiros
वृत्ति mood
वृद्धि (सन्धि)
व्यक्तीकरण expression, specification
व्यञ्जन consonant
अनुनासिक nasal
अलिजिह्वीय uvular
अल्पप्राण unaspirated
उत्क्षिप्त (उत्क्षेपात्मक) flapped
उपालिजिह्वीय pharyngal
ऊष्म sibilant
ओष्ठ्य labial
कंठ्य velar, guttural
क्लिक click
तनु tenue
तालव्य palatal
दन्त्य dental
अग्र- pre-dental
पश्च- post dental
मध्य- centro-dental
दन्तोष्ठ्य labio-dental
-दीर्घ long
पार्श्विक lateral
मध्य media
महाप्राण aspirated
मूर्धन्य cerebral
लोडित rolled
संयुक्त conjunct
सघोष voiced
अपूर्ण partially v.
पूर्ण fully v.
संघर्षी fricative
स्पर्श stop, mute
स्पर्शसंघर्षी affricate
स्फोटात्मक plosive
अन्तः-implosive
बहिः-explosive
स्वरयन्त्रस्थानीय glottal
ह्रस्व short
व्याकरण gammar
-कार -ian
-पंडित, नवयुवक neo, jung grammarians
-त्मक grammatical
-लिंग gender
-धारा category

तुलनात्मक- comparative g.
ऐतिहासिक- historical g.
व्युत्पत्ति etymology
-विज्ञान science of e.

श

शतृ, शानच् present participle
शब्द word
-कोष vocabulary
-चित्र word-picture
-शक्ति power of word
(अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य)
-समूह stock of words
अर्थवान् meaningful w. full w.
अर्थहीन meaningless, empty w.
तत्सम
तद्भव
देशी
ध्वन्यात्मक phonetic word
व्याकरणात्मक grammatical word
पूर्ण full w.
रिक्त empty w.
शरीरविज्ञान physiology
शाकारी (प्राकृत)
शाबरी (प्राकृत)
शिक्षा phonetics(AncientIndian)
शौरसेनी, जैन-
श्रुति Veda
श्रुति glide
य yg.
व w. g.

श्लिष्ट synthetic (inflexional)
अश्लिष्ट, प्रश्लिष्ट
श्लेष synthesis, first stage of inflexion
श्वास wind, breath
-नालिका w. pipe
-नली trachea

स

संस्कृत (वैदिक, उदीच्य, प्राच्य, मध्यदेशीय)
संहिता
संकेत symbol
-स्वरूप symbolic
चित्र picture-symbol
भावात्मक- ideographic symbol
संघर्षित्व friction
संज्ञा technical term
संज्ञा noun
अविकारी, विकारी direct,oblique
जीवित, मृत living, dead
उच्चजातीय high-caste
नीचजातीय casteless
विवेकी, अविवेकी rational, irrational
व्यक्तिवाचक,जातिवाचक,भाववाचक
proper n. concrete n
absract n.
संज्ञात्मक वाक्य noun-sentence
सतम भाषाएँ Satam languages
सत्ता position

गौण secondary
मुख्य primary
सत्यनियम static laws of nature
सन्धि
समभिहार(पौनःपुन्य,भृशार्थ)intensity
समाजशास्त्र sociology
समास compound
(अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, बहुव्रीहि)
समीकरण assimilation
पुरोगामी progressive a.
पश्चगामी regressive a.
सम्प्रदाय tradition
सम्बन्ध relation
-तत्त्व morpheme
समवाय- necessary-connection
सम्बन्धित्ववाद theory of relativity
सर्वजन भाषा universal language
सर्वनाम pronoun
वाच्य समावेशक inclusive P.
व्यतिरिक्त exclusive P.
सादृश्य analogy
अस्थान- false a.
सामंजस्य harmony
ध्वनि- sound-harmony
स्वर- vowel-harmony
साम्य similarity, affinity
अक्षर निर्माण-s. in syllable-formation
ध्वनि- s. in sounds
व्याकरणात्मक- s. in grammar
शब्द- s. of words
शब्दावली-s. of vocabulary
सिंहली (भाषा)
सिन्धी (भाषा)
सुप् case-terminations
सुबन्त declensional form
सुमेरी (भाषा)
सुर pitch (accent)
उच्च high p.
नीच low p.
सम level p.
स्त्री प्रत्यय feminine affixes
स्त्रीलिंग f. gender
स्थान position
स्थान-विपर्यय epenthesis
स्थिति state
स्पर्श contact
-संघर्षी affricate
-संघर्षित्व affrication
स्फोट plosion
-कत्व plosiveness
स्लावी (भाषा)
स्वर vowel
अनुरूपता vowel-affinity
-क्रम ablaut
-व्यत्यय different position of v.
-सामंजस्य vowel-harmony
-साम्य vowel-similarity
-यन्त्र, -यन्त्रपिटक glottis, larynx

खमीर, गल्ल, नामा; लीबी—
बर्बर, मिस्री, सोमाली)
सुडान
(ईव, कनूरी हाउसा, नूबी, प्यूल,
मोम, वाइ, वोलोफ़, सेनेगल)
होटेंटाट
द्राविड़ी
कन्नड़, कुरुख, कूई (कन्धी), कोटा
कोडगु, कोलामी, गोंडी, टोड़ा,
तामिल, तुळु तेलगू, ब्राहुई
मलयालम, माल्टो
मलाया-पॉलीनेशियाई(आस्ट्रोनेशियाई)
(क) आस्ट्रेलियाइ (टस्मेनिया)
(ख) पापुआइ (मफ़ोर)
(ग) पॉलीनेशियाई (माओरी,टोंगी,
समोअई, हवाई)
(घ) मलायाई (कवि, कोमो, न्गोको),
जावी, टगल, दयक, फ़ारमोसी, मल-
गसी (होवा), सुन्दियन
(ङ) मलेनेशियाई (फीजी)
मुंडा
खेरवारी (मुंडारी, संथाली),कनावरी,
कूर्क, बुरुशस्की, सवर, हो
मोनख्मेर
मोन-ख्मेर, खासी, नागा
आर्य भाषा-समूह
इटाली

उम्ब्री, ओस्की, लैटिन
इटाली
पुर्तगाली
प्रोवेंशल
फ्रेंच
रुमानी
सेफ़ार्डी
स्पेनी
केल्टी
आइरी (गैली)
ग्रीक
ऐटिक, कोइनी, डोरिक,
थ्रशी, फ़िजी, मैसेडोनी
जर्मनी (ट्यूटानी)
आइसलैंडी
इंगलिश (अङ्गरेज़ी)
पिडगिन, बाबू
गाथी
डच
डेनी
जर्मन
हाई, लोउ, ड्-यूट् स् स्प्राखेन
नार्वेजी
नार्स
फ्रीज़ी
स्कैंडीनेवी
स्वीडी
दर्दी
दर्दी विशिष्ट, कश्मीरी,
काफ़िरी, खोवारी,
चित्राली, शीना

बाल्टो-स्लावी
(क) बाल्टी
प्रशियाई,
लिथुएनी, लेटी
(ख) स्लावी
चेक, पोली, बल्गेरी,
रुथेनी (लघु रूसी),
श्वेतरूसी, महारूसी
(रूसी), सर्बोक्रोटी
हिन्द-ईरानी
(क) ईरानी—जेन्द,
परशी, पहलवी,
पाजन्द, पार्सी
हुज्वारेश
(ख) भारतीय
(१) प्राचीन युग
(वैदिक, छन्दस्)
लौकिक (भाषा)
संस्कृत (उदीच्य
आदि)
(२) मध्ययुग
पालि
अशोकी प्राकृत
प्राकृतें
अवन्ती, पैशाची,
अर्धमागधी,
मागधी,
महाराष्ट्री,
शौरसेनी
अपभ्रंश
(३) वर्तमान युग
असामी, उड़िया,
गुजराती, पंजाबी,
पहाड़ी, बंगाली,
बिहारी, भीली
मराठी, राजस्थानी,
लहँदी, सिंहली,
सिन्धी, हबूड़ी, हिन्दी

लिपि (लिबि) script
alphabet
अरबी
अरमी (अरमइक)
आर्मीनी
उड़िया
उर्दू
एत्रुस्की
ओघं
कन्नड़ी
कलिंग
कश्मीरी
कुटिल
कूफ़ी
कैथी
खरोष्ठी (खरोट्टी)
गुजराती
गुप्त
गुरुमुखी
ग्रन्थ
ग्रीक
ग्लैगोलिथी
चित्रलिपि
टाकरी
तामिल
तुळु
तेलगू
-कन्नड़ी
देवनागरी
-नंदिनागरी, नागरी
दोसापुरिया
नस्खी
नैपाली
बँगला
ब्राह्मी (बंभी)
उत्तरी, दक्खिनी,
पश्चिमी, मध्यप्रदेशी
मलयालम
महाजनी
मिनोआ
मैथिली
(यवनानी (जवणालिय)
राजस्थानी
रूनी
रोमन
इंडोरोमन
लैटिन
वट्टेळुत्त
शारदा
सिरिली
हेबू

इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

Dr. S. M. KATRE, M. A. ,Ph. D. (London)

I find it extremely interesting and well written. Please accept my congratulations on what is probably the first scientific contribution in an Indian language to the doctrines of general linguistics.

Dr. P. L. VAIDYA, M. A., D. Litt.

I am glad to tell you that I was very much pleased with your performance in such technical matters, and I desire that the Sammelan Office gives wider publicity to your publication. There are thousands in the country who do not claim knowledge of European Languages and are yet keen to be acquainted with the scientific literature in those language. Your work will be a great help to such people, and they all will be very grateful to you for your having placed in their hands an uptodate work on Linguistics in their own national language.

Please do give wider publicity to your work.

Mahamahopadhyaya V. V. MIRASHI, M. A.

It is the best book on the subject in any modern Indian language that I have seen. I would suggest that

You should get it translated into other languages if possible.

Dr. A. N. UPADHYE. M. A., D. Litt.

you have brought forth really a very useful volume. and the Hindi language should be legitimately proud of this contribution. The exposition is clear; the style is simple; and the illustrations are quite apt.

THE HINDUSTAN REVIEW

Samanya Bhashavijnan. By Dr. Babu Ram Saxena, M. A., D. Litt., (Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad) Sam. 1999.

This is a book on Comparative Philology, in which the general principles of Linguistics have been clearly and lucidly explained. It is the result of the author's studies and experience, as a teacher of the subject in the Allahabad University, extending over a long period. A chapter on the history of script is also appended. The book removes a long-felt want, for though there were some books in Hindi on the subject, yet none was so up-to-date and elaborate, as the book under notice. It will prove immensely useful to the students of Philology. The author is a wellknown scholar of Hindi language and literature, who has specialised in Linguistics and Philology. As such his work is very well-informed, and highly informative, It merits large circulation as the most useful text book on the subject, it deals with.

(१)

डा० आर्येन्द्र शर्मा अध्यक्ष संस्कृत विभाग हैदराबाद विश्वविद्यालय

मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अवकाश मिलते ही मैं एक ही सौंस में कई अध्याय पढ़ गया। इतना तीव्र रुचि से मैंने, जेस्पर्सन की एक पुस्तक को छोड़ कर (नाम भूल गया हूँ) भाषाविज्ञान का कोई भी ग्रन्थ, हिन्दी, जर्मन

या अंग्रेज़ी में, नहीं पढा। इस विषय पर हिन्दी में ऐसी रोचक शैली में पुस्तक लिखना कितना कठिन है, यह ग्रन्थ 'भाषाविज्ञानों' से तुलना करने पर तत्काल स्पष्ट हो जाता है। फिर यह भी नहीं कि विषय का प्रतिपादन, "बालानां सुखबोधाय" होते हुए भी, सब तरह से विद्वत्तापूर्ण न हो; अथवा यह कि कोई 'भाषाविज्ञानी' (मैं तो भाषाविज्ञान का प्रारम्भिक विद्यार्थी हूँ) इसे सुविदित, चिरपरिचित या सुसङ्गृहीत मात्र कह सके। मैं बिना किसी अत्युक्ति के कह सकता हूँ कि इस ग्रथ ने न केवल हिन्दी-साहित्य की, अपितु भाषाविज्ञान के साहित्य की भी अभिवृद्धि की है। हिन्दी मे तो इसका स्थान निश्चय ही सर्वोच्च है, और बहुत काल तक रहेगा।

(२) मिश्रबन्धु

यह ग्रन्थ अच्छे मोटे कागज पर शुद्धता पूर्वक छापा गया है। इसमें विषय वर्णन थोड़े में बहुत आधिक्य से किया गया है। पुस्तक बहुत ठोस है। हमे बहुत ध्यान पूर्वक साद्यन्त पढ़नी पड़ी। विषय-सम्बन्धी ज्ञान सब ओर से एकत्रित किया गया है। लेखक महाशय ने ग्रंथ की सामग्री जुटाने में अच्छा परिश्रम किया है। सस्कृत ग्रन्थों मे इसका निरूपण परम प्राचीनकाल मे हुवा किन्तु पीछे से उन्नति रुक गई। अब फिर प्रारम्भ हुई है। मुख्यतया व्याकरण का विषय हो कर अन्य मामले भी कम नहीं है। इधर इस पर योरोपीय पंडितों ने भी बहुत उन्नति की है, जिनके विचारों का भी निचोड़ ग्रन्थ में आ गया है। उदाहरण विशेषतया हिन्दी के शब्दो के लाये गये हैं। लेखक की महत्ता विषय के खोज में तथा उससे भी अधिक हिन्दी भाषा से ही समुचित उदाहरण जुटाने मे है। संसार की सभी मुख्य भाषाओं का वर्णन ग्रन्थ में आ गया है। विश्वविद्यालय मे पाठ्य पुस्तक होने से थोड़े मे बहुत अधिक सार रहने से छात्रों के लिये कुछ काठिन्य भी उपस्थित हो सकती है। कुल मिलाकर ग्रंथ बहुत विद्वत्ता पूर्ण और उपादेय है। इस विषय पर हमारी रुचि मुख्यतया न थी। फिर भी पूरा का पूरा ग्रन्थ ऐसा सुन्दर है कि सब ध्यान पूर्वक पढ़ गये। डाक्टर सकसेना को ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखने पर हम बधाई देते हैं।

(३) श्री गुलाब राय

मेरी सम्मति तो एक साधारण पाठक की ही हो सकती है। मैं उसका विशेषज्ञ नहीं किन्तु मैं समझता हूँ कि जहाँ तक विषय के प्रतिपादन में स्पष्टता

का प्रश्न है वहाँ तक मैं समझता हूँ विशेषज्ञ की अपेक्षा अनाड़ी पाठक की सम्मति का मूल्य अधिक है। अकलमंद को तो इशारा ही काफी होता है उसको अस्पष्ट बात भी आइने की तरह साफ मालूम होती है। आप की किताब को मैं समझ सका हूँ और समझने से भी अधिक उसकी शैली के मधुर हास्य का आस्वादन कर सका हूँ। हास्य के मधु के साथ कठिन बातें भी ग्राह्य बन गई है। जब मैं समझ सका हूँ तो मुझे आशा है कि अन्य मन्दबुद्धि साधारण योग्यता के लोग उससे लाभ उठा सकेंगे। उसमें सबसे अच्छी बात यह है कि आपने ब्योरे का इतना बाहुल्य नहीं दिया है जितना कि अन्य वैज्ञानिक पुस्तकों में होता है और जिसके कारण साधारण पाठक मूल बात को भूल जाता है। भारतवर्ष में लेखन कला की प्राचीनता आदि कुछ नये स्तम्भ भी हैं जो अन्य पुस्तकों मे नहीं हैं। प्राचीन ग्रन्थों का भी आपने आधार पर्याप्त रूप से लिया है। मैं तो इससे भी कुछ अधिक चाहता हूँ। पुस्तक के लिए बधाई है।

(४) डा० ईश्वर दत्त (पटना)

मैंने आपके 'सामान्य भाषा-विज्ञान' के अनेक अंशों को ध्यान एवं रुचि के साथ पढ़ा है। मेरी सम्मति में आपने सामान्य भाषाविज्ञान जैसे व्यापक, गहन और शुष्क विषय को इने-गिने पृष्ठों मे क्रमश: जिस पूर्ण, सरल और रोचक रूप में उपस्थित किया है वह निःसन्देह आपके भाषा-विज्ञान सम्बंधी वर्षों के अध्ययन, मनन और अध्यापन का ही परिणाम है।

नोट—विस्तृत समालोचना न्यू इंडियन एंटिक्वेरी के भाग ६ सं० ७ (अक्तूबर ४३) मे डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने की है।

लेखक के कतिपय अन्य ग्रन्थ

कीर्तिलता—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका—रामनारायणलाल इलाहाबाद।
इवोल्यूशन आव अवधी (अँगरेजी) —इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
अर्थविज्ञान—पटना युनिवर्सिटी पटना।

(अन्तिम दो ग्रन्थ मन्त्री, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद युनिवर्सिटी इलाहाबाद से भी मिल सकते हैं।)

———